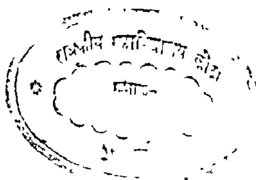
संस्कृत में एकांकी रूपक



शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना
के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

संस्कृत में एकांकी रूपक

डॉ० वीरबाला शर्मा





मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
भोपाल

सस्कृत मे एकाकी रूपक

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रथम सस्करण : १९७२

मूल्य
पुस्तकालय सस्करण : १४=००
साधारण सस्करण १२=५०

मुद्रक
अनुपम मुद्रण
गोविन्दपुरा,
भोपाल—२३

प्रस्तावना

नाट्य कृतियो की दृष्टि से सस्कृत साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। नाट्य और नृत्य के बीज वैदिक सहिताओ मे भी मिलते हैं। ईसा पूर्व ५०० के लगभग तो रगमच पर नाट्य कृतियो का प्रयोग होने लगा था और उसी समय के लगभग नाट्य सूत्रो का निर्माण होने का भी पता चलता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे रगमच और अभिनय सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। नाट्य शास्त्र के निर्माण के बाद तो इस विषय को समग्र शासन का रूप ही प्राप्त हो गया जिससे आगे चलकर काव्यशास्त्र का भी विकास हुआ।

यह बात सहज मे समझ में आ सकती है कि नाट्य-ग्रन्थो के निर्माण के पूर्व ग्रामो और नगरो मे भी अभिनय और रगमच का विकास हो चुका होगा। प्रारम्भ में रगमच पर नृत्य प्रदर्शन होता रहा होगा जो मानवीय सवेदनाओ के प्रकाशन के साथ जुडकर नृत्य मे परिणत हो गया होगा। बाद मे बात-चीत या सवादो के योग से नृत्य का रूप बदल कर अभिनय मे परिवर्तित हो गया होगा। यदि विकास के इस क्रम को ठीक माना जाये तो कहा जा सकता है कि नाट्य कृतियों मे सबसे पहले एकाकियो का प्रणयन हुआ होगा। प्रारम्भ मे किसी विशेष घटना या तथ्य के प्रदर्शन या निरूपण के लिए अभिनय का सहारा लिया गया होगा और बाद मे कई घटनाओ को जोडकर समूचे नाटक को प्रस्तुत किया गया होगा। नाट्य शास्त्रकारो ने रूपक के दस भेदो का परिगणन करते समय नाटक का जो सर्व प्रथम उल्लेख किया है, वह उस समय की चरम उपलब्धि थी। यह तथ्य इस बात से भी स्पष्ट है कि सस्कृत मे प्राप्त होने वाले प्राचीन उत्तम रूपक कलेवर की दृष्टि से छोटे हैं। और भास के नाटको मे तो बहुत से एकाकी ही हैं। किन्तु जिस प्रकार भास के पश्चात् एक लम्बे काल तक नाटको का पता नही चलता उसी प्रकार एकाकियो की भी कोई जानकारी प्राप्त नही होती। इस क्षेत्र मे प्रथम महत्वपूर्ण कृतियाँ चतुर्भाणी ही हैं। चतुर्भाणी के पश्चात् सस्कृत में जो एकाकियो की परम्परा चली वह आज तक अबाध रूप से चली आ रही है। इसलिए आधुनिक

समीक्षकों का यह कहना कि भारत में एकांकियों का प्रचलन यूरोप के प्रभाव से हुआ, केवल उनके अज्ञान का द्योतक है।

डा० वीरबाला शर्मा ने इस कृति में भारतीय एकांकी परम्परा का समीक्षात्मक एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे न केवल संस्कृत एकांकियों की दीर्घकालीन परम्परा और विपुल संख्या का ही पता चलता है अपितु उनकी विविधता एवं बहुरूपता का भी परिज्ञान होता है। समीक्षण के मध्य डा० शर्मा ने समुचित उद्धरणों के द्वारा कथन की प्रामाणिकता एवं सरसता में भी वृद्धि की है। उन्होंने संस्कृत के आधुनिक एकांकियों के साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं के एकांकियों की भी संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की है।

मेरा विश्वास है कि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक ज्ञान-वर्धक और रुचिकर सिद्ध होगी।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भूमिका

किसी भी राष्ट्र के महत्व का ज्ञान उसकी साहित्यसम्पदा द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्', "नाटके नाट्यसाहित्य रसास्वाद पदे पदे"... इत्यादि वाक्यों द्वारा आलोचकों ने नाट्यसाहित्य की रमणीयता और उपयोगिता का परिचय दिया है। आज के कार्यसंकुल युग में भी इसकी महत्ता को देखकर लोकरञ्जन और लोकरक्षण के लिए एकांकियों के प्रणयन को प्रोत्साहन दिया जाने लगा है। नाट्यसाहित्य की इस विधा की आलोचना व भण्डार को भी पुष्ट बनाने का यत्न साहित्यजगत् में हो रहा है। परिणामस्वरूप वर्तमान युग में प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनका मूल्यांकन करने की परम्परा चल पड़ी है, जिसका प्रचार द्रुतगति से हो रहा है। यद्यपि आज विभिन्न साहित्यिक क्षेत्रों में समालोचनात्मक ग्रन्थों का अभाव नहीं है तथापि नाट्यविभाग की स्थिति अब भी दयनीय-सी ही है। *अधुनातन उपलब्ध नाट्यविषयक ग्रन्थों में भी नाट्यशास्त्र अथवा रूपक के प्रमुख* प्रकारों (नाटक, प्रकरण, सट्टक आदि) में सम्बद्ध रचनाओं की संख्या अधिक है। उनमें भी अधिकांश संस्कृत के विख्यात कवियों के सुपरिचित नाटकों (शाकुन्तल, उत्तर-रामचरित, कर्पूरमञ्जरी आदि) के यत्किञ्चित् टीका टिप्पणी-सहित विभिन्न भाषाओं में रूपान्तर मात्र है। संस्कृत की अतिप्राचीनकाल से प्रवाहित होने वाली एकांकी रूपकों की अमृतमयी सरिता का अवगाहन तो कम साध्य किसी ने ही किया है। नाट्य के नियामक ग्रन्थों में एकांकी रूपकों तथा उपरूपकों के सोदाहरण विस्तृत विवेचनों, संस्कृत साहित्य के इतिहासों एवं हस्तलिखित पोथियों की पुष्पिकाओं में अंकित एकांकियों की विशद नामावली को देखने से और उनके परिशीलन से यह रहस्य खुल जाता है कि संस्कृत के एकांकी भोक्ता को आनन्दमग्न कर देने के साथ-साथ अमृतमय शिक्षा देने में भी सक्षम हैं।

प्राय सब आधुनिक समालोचक संस्कृत में एकांकियों की सत्ता तथा उनकी प्राचीनता को तो स्वीकार करते हैं परन्तु वे अनेक कारणों से उन्हें एकांकियों की कोटि में रखने को तैयार नहीं हैं।

अधुनातन भारतीय समीक्षात्मक साहित्य पर यद्यपि यूरोपीय प्रभाव बहुत बढ़ गया है, तो भी उसे वैदिककाल से चली आ रही भारतीय मान्यताओं

मे पृथक् करके समझा नहीं जा सकता। अत भारतीय साहित्य के सही मूल्यांकन के लिए साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी का काव्य (जिसमे नाटक और कथा साहित्य भी सम्मिलित है) की मूलभूत मान्यताओं को समझ लेना परमावश्यक है।

पश्चिम के सम्पर्क तथा सस्कृत और प्राकृत के पठन-पाठन की परम्परा के विच्छिन्न हो जाने के कारण आज के सामान्य विद्यार्थी की सस्कृत भाषा को हृदयगम करने की शक्ति क्षीणप्राय हो चुकी है। लोकरुचि भी इस ओर नही है। विश्वविद्यालयो मे अग्रेजी अथवा इसके समकक्ष समझी जाने वाली अन्य भाषाओ के माध्यम से सस्कृत के शास्त्रीय एव साहित्यिक विषयों का ज्ञान कराया जाता है। अत सस्कृत-साहित्य के पाठ को समुचित रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है और अनेक भ्रम फैल जाते हैं। इसके यथेष्ट प्रमाण समानालोचनात्मक ग्रन्थो में उपलब्ध होते हैं। जैसे– किसी आधुनिक विचारक के अनुसार भाण मे कैशिकी वृत्ति नहीं होती जबकि सस्कृत के साहित्याचार्य उसमे उक्त वृत्ति का स्पष्ट शब्दो मे विधान करते हैं। इसी प्रकार प्राचीन रूपक-लक्षणकर्ताओं द्वारा निरूपित रूपक के भेदो के लक्षण एव वर्गीकरण के अनुसार कतिपय रचनाओ का समावेश निश्चित रूप मे किस वर्ग मे किया जाय इसका निर्धारण करना भी कठिन हो है। भास्कर के 'उन्मत्तराघव" को कोई अक के दृष्टान्त के रूपमे उद्धृत करते हैं तो कोई उसे प्रेक्षणक की सज्ञा देते हैं। व्यायोग और उत्सृष्टिकाक का क्षेत्र भी विवादास्पद है। किसी ने लटकमेलक प्रहसन को ईहामृग कह कर साहित्यिकों के समक्ष एक नई समस्या प्रस्तुत कर दी है।

प्रारम्भ मे लेखन के साधनों के अभाव मे कण्ठाग्र करके साहित्य को जीवित रखने की प्रथा थी और साहित्य के ऐसे रक्षको की सख्या भी अल्प थी। विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पुस्तकालयों के नष्ट कर दिये जाने तथा गिने चुने महाकवियो के अतिरिक्त शेष कवियो के प्रति विद्वानो के उपेक्षा-भाव के फलस्वरूप अगणित एकाकियो के नाम तक नष्ट हो चुके हैं। उपलब्ध कृतियो के भी सार्वजनिक पुस्तकालयो मे दर्शन तक नही हो पाते। इन पर किसी ने टीका तक करने का भी प्रयास नहीं किया है। केवल चतुर्भाणी (पद्मप्राभृतक, धूर्तविटसवाद, उभयाभिसारिका और पादताडितक) पर कतिपय पूर्वीय एव पश्चिमीय विचारको ने अवश्य ध्यान दिया है, जिनसे इनके इतिहास तथा पात्रो के चरित्र पर कुछ प्रकाश पडता है, परन्तु इनकी साहित्यिक महत्ता और इनकी आधुनिकतम उपयोगिता का ज्ञान नहीं हो पाता।

यह ठीक है कि आधुनिक नाटक के तन्त्र का बहुत विकास हुआ है और पश्चिम से परिचय होने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से अनेक रङ्गमञ्चीय परिवर्तन भी हुए हैं, परन्तु परिवर्तन का अर्थ किसी कला का पतन नहीं होता है। उत्थान और पतन की क्रिया का नाम परिवर्तन है।

प्रत्येक देश के साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं जो युगधारा के अनुसार बदलती जाती हैं। संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का अभाव इनकी प्रमुख विशेषता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा नहीं मरती। सत्य की क्षणिक पराजय होने पर भी अन्ततोगत्वा न्याय की ही विजय होती है। इस दृष्टि से जीवन सदा आशामय है। इसी कारण शुद्ध दुःख-प्रवण नाटक संस्कृत में नहीं रचे जाते थे। परन्तु युग ने संस्कृत के आचार्यों को भी इस दिशा में आगे बढ़ने को बाध्य किया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व के चित्र भी प्राचीन नाटकों में कम मिलते हैं। कहा जाता है कि हास्य के क्षेत्र में भी संस्कृत और उस पर आधारित भारतीय साहित्य में उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं हुई। संस्कृत के एकांकियों के शास्त्रीय लक्षणों को देखने से तो ऐसा आभास होता है कि हास्य से युक्त रचना के प्रणयन के समय औचित्यानौचित्य का ध्यान रखने का विधान था, किन्तु साहित्यकारों को उसमें पूरी सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि प्राचीन हास्यप्रधान रचनाओं में बुभुक्षित ब्राह्मण विदूषक का या निम्नकोटि के पात्रों का ही चित्रण किया गया है। हास्य कृतियों की हीन अवस्था केवल भारत में ही नहीं, पश्चिम में भी रही है। किसी कलाकृति का रूप निखरते-निखरते ही निखरता है। आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ इस क्षेत्र में भी पर्याप्त सुधार हुआ है।

आज हमारा देश विचित्र सङ्क्रमण काल से गुजर रहा है। हम अतीत के आधार पर नवीन का निर्माण करने की ओर अग्रसर हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अधुनातन नाट्यशिल्प और रंगमंच का विचार करते समय प्राचीन धरोहर का भी लेखा-जोखा लें। प्रस्तुत रचना का उद्देश्य एकांकियों के क्षेत्र में भारत की देन को साहित्यानुरागियों के सम्मुख प्रस्तुत करना है। इस रचना के अध्ययन से यह भेद भी खुलेगा कि पथप्रदर्शक के रूप में भास-कृत अनेक एकांकी रचनाओं के होते हुए भी संस्कृत के एकांकी नाट्य-साहित्य का शृंगार एवं हास्यमूलक पक्ष किस प्रकार एक अन्य जघन्य दिशा की ओर प्रवृत्त हुआ।

कामविज्ञान आयुर्वेद के सूक्ष्म अध्ययन की सीमा से निकलकर रसिक कलियों के हाथ में पड़ कर अश्लील हास्य का साधन बन गया। जिसके कारण संस्कृत की प्रतिष्ठा को बहुत आघात पहुँचा। ईसा की १२ वीं शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ऐश्वर्यशाली राजाओं की विलासितामय प्रवृत्ति को देखकर कवियों ने आसक्तिप्रधान लीलाओं को ही विषयवस्तु के रूप में चुन कर रचनाएँ लिखी। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अधोगति का काल माना जाता है। इस समय के अधिकांश कवि राजाओं के आश्रय में थे। उन्हें अपने आश्रयदाताओं की विषयासक्ति एवं अन्य दुर्व्यसनों के प्रति अनुराग को देख क्षोभ होता था, किन्तु शब्द की अभिधाशक्ति से उन्हें इस ओर से विमुख करने में वे स्वयं को असमर्थ पाते थे। तब वे वक्रोक्तियों द्वारा उन्हें सन्मार्ग पर लाने के उद्देश्य से ऐसी रचनाएँ करते थे। यद्यपि इनको पढ़ते समय कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना ही रहा होगा, परन्तु वास्तव में लोक के हासविलास के साथ इनमें दर्शकों के लिए सीख भी छिपी रहती है।

लौकिक जीवन के आह्लाद विषद रीति-नीति एवं आचार व्यवहार के दर्शन भाणों एवं प्रहसनों में किये जा सकते हैं। आकार में छोटे होने के कारण पूर्ण नाटकों की तरह इनमें नाटक के सब तत्वों का रहना आवश्यक नहीं होता। पहले भिन्न भिन्न रुचि के लोगों के मनोरंजन के हेतु विविध रूपकों प्रकारों की रचना होती थी समय की बचत की ओर लोगों का ध्यान आज की अपेक्षा कम था।

वर्तमान मर्त्यलोक में हर वस्तु को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का आग्रह है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह भी दोषमुक्त दिखाई नहीं देता। प्राचीन कृतियों में शृंगार का जो सरस वर्णन का वमयी शैली में प्रस्तुत किया जाता था उसे आज सम्पूर्ण रूपेण खोलकर यथावत् दर्शकों के समक्ष दिखाया जाने लगा है। फलतः जिन वस्तुओं को देख और सुन कर बहुत भी दृश्य-वस्तुओं के अनिर्वचनीय सुख को मन ही मन अनुभव करके लोग प्रसन्न होते थे, अब उन बातों को (वैषयिक) साक्षात् देखकर उनसे पहले-सा रस प्राप्त नहीं कर पाते। इससे मानव की सुकुमार भावनाओं को आघात पहुँचने की आशंका है। सुकुमारभाव प्रदर्शन की भारतीयों की विशेष शैली रही है, जिसके दर्शन संस्कृत की कृतियों में ही किये जा सकते हैं।

संस्कृत के उपलब्ध एकांकी साहित्य को देखने से विदित होता है कि युग की माँग के अनुसार रचे गये ये एकांकी बहुत समय तक लक्षणग्रन्थों में निर्दिष्ट नियम-बन्धनों से जकड़े रहे। उनके अन्तरंग और बहिरंग-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया। इनकी काव्यगत शैली में भी भासकालिदासादि प्राचीन ख्यातनामा कवियों की लेखनरीति की आलंकारिक छटा प्रतिबिम्बित है। इन्हीं कवियों द्वारा प्रयुक्त परिचित छन्दों की ध्वनि भी इनमें गूँजती सुनाई देती है। सृष्टि के विकासक्रम की द्योतक परिवर्तनशीलता ने संस्कृत की विचारधारा को धीरे-धीरे बदला। ईसा की १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में सांस्कृतिक इतिहास में पुनर्जागरण के लक्षण दिखाई देने लगते हैं, जो १८ वीं शताब्दी में पूर्ण रूप में स्पष्ट होने लगते हैं। इस समय से हास्यमूलक साहित्य निम्नस्तर को त्याग कर उच्चस्तर की ओर प्रवृत्त होता है।

वर्तमान युग का संस्कृत एकांकी अपनी प्राचीन-नाट्य-परम्परा की ओर सतत रह कर भी आज की आवश्यकता तथा जनरुचि की उपेक्षा नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के एकांकियों तथा पाश्चात्य एकांकियों की संस्कृत के प्राचीन एकांकी साहित्य से तात्त्विक दृष्टि से तुलना करने पर यह रहस्य किसी से छिप नहीं सकता कि इस परिवर्तनशील युग में चिरकाल से चली आ रही अखण्ड संस्कृत नाट्यधारा के साथ पाश्चात्य नाट्य-धारा का संगम हो जाने के कारण भारतीय एकांकी का रूप आज बदला हुआ दिखाई देने लगा है। आधुनिक कार्यसंकुल युग में सोई हुई एकांकी कला का पुनर्जागरित करने का श्रेय पाश्चात्य नाट्यकारों को है, इसमें संदेह नहीं।

आधुनिक युग के प्रवाह में बहते हुए संस्कृत एकांकी भी तात्त्विक और साहित्यिक दृष्टि से विस्तार के स्थान पर संकोच को महत्त्व देने लगे हैं। इनकी भाषा को सरलतम बनाने की चेष्टा हो रही है परन्तु ये पहले की तरह निकट भविष्य में लोकप्रिय हो सकेंगे, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इनका प्रयोग शिक्षण अथवा भारतीय धर्म और संस्कृति की प्रचारक संस्थाओं में कतिपय संस्कृतानुरागियों और बालकों में संस्कृत के प्रति प्रेम बनाये रखने के लिए होगा। भारतीय संस्कृति के रक्षक और साधक इन्हें भूल नहीं सकेंगे और इनकी गणना क्लासेट ड्रामा (बन्द कमरे में यदा-कदा खेलने योग्य) के अन्तर्गत की जा सकेगी।

इस प्रबन्ध में कई त्रुटियाँ विचारकों को निराश कर सकती हैं। व्यष्टि रूप में कुछ एक एकांकियों के नामों और उनकी संक्षिप्त कथाओं से भी विद्-

समाज पूर्व परिचित हो सकता है, परन्तु समस्त उपलब्धानुपलब्ध एकांकियों का तुलनात्मक, शास्त्रीय समीक्षण समष्टि के रूप में सम्भवत अब तक नही आ सका है। यद्यपि पुस्तको के अभाव म एकांकियो की नाममाला मे परिगणित कृतिया म सबकी सागोपाग समीक्षा नही हो सकी है, तथापि मुझे इस बात का सतोष है कि इसमे प्राचीन एव अर्वाचीन एकाकी भेदों के सब प्रकार सम्मिलित हैं। यदि यह प्रबन्ध सस्कृत-नाट्य-साहित्य के इस उपेक्षित अग की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट कर सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगी। ग्रन्थ के ग्रन्थनकाल मे मुझे विवेच्यविषय की पाठ्य पुस्तको को उपलब्ध करने की विकट समस्या का सामना करना पडा। इसके लिए मुझे ग्वालियर के विश्वविद्यालयीन तथा केन्द्रीय पुस्तकालय के अतिरिक्त कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी एव पटना नगर के समस्त ग्रन्थसग्रहालयों की छान-बीन करनी पडी। इन स्थलों के पुस्तक सग्रहो मे भी प्रबन्ध के विषय से सम्बद्ध पाठ्यपुस्तको के अभाव को देख निराश ही होना पडा।

त्रावनकोर विश्वविद्यालय की ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी से मुझे रामपाणिवाद की चन्द्रिकावीथी की प्रतिलिपि प्राप्त हो सकी। इसके लिए मैं प्रतिलिपिकार के सरस्वती अम्मा तथा इस लाइब्रेरी के व्यवस्थापक के प्रति हृदय स आभारी हूँ।

पुस्तकावलोकन के अतिरिक्त भारत के ख्याततरामा विद्वानो के साथ पत्र व्यवहार एव उनसे साक्षात् विचार-विनिमय द्वारा लाभ उठाने के अवसर भी समय-समय पर मिलते रहे हैं। उनमे से अनेक उपयोगी परामर्शों के लिए मैं निम्नाकित महानुभावो की विशेष कृतज्ञ हूँ—

श्री एम एन घोषाल, अध्यक्ष, बगला विभाग, पटना विश्वविद्यालय
गुरुवर डॉ बेचन झा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय
हास्य सम्राट प्रो हरिमोहन झा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय
डॉ वी जे सदेसरा, बडौदा विश्वविद्यालय
डॉ वी राघवन, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास
प्रो वी एन मुण्डी, मराठी विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कालेज, ग्वालियर
प्रो आर डी लद्दू, (सस्कृत विभाग) महारानी लक्ष्मीबाई कालेज, ग्वालियर
डॉ एच आर दिवेकर
प्रो एम एन राजन्, अग्रेजी विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कालेज, ग्वालियर

डॉ वी राघवन् ने संस्कृत के आधुनिक एकांकियों के सम्बन्ध में मुझे पर्याप्त सामग्री भेजी और डॉ. सदेसरा ने कतिपय दुर्लभ पुस्तकों को भेजकर जो मेरी सहायता की है उसके लिए मैं इनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर अपने पिताजी श्रद्धेय डा ईश्वरदत्त जी, अवकाश प्राप्त, पटना विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभागाध्यक्ष तथा अपनी पूजनीया माताजी श्रीमती सुमित्रादेवी, स्नातिका, जालन्धर कन्या महाविद्यालय का सादर साभार स्मरण मेरा पावन कर्त्तव्य है क्योंकि उनके आशीर्वाद और अमूल्य सहयोग के बिना कार्य का सफल होना असम्भव था।

इस रचना को पूर्ण कराने का श्रेय पूज्य आचार्य डॉ प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री (संचालक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल) को है जिनके कुशल निर्देशन तथा निरीक्षण में इस कार्य का सम्पादन हो सका है। उनसे जो प्रेरणा और सहायता मिली है उसके लिए मैं उनके प्रति केवल कृतज्ञता प्रकाशित करके ही मुक्त नहीं हो सकती।

वीरबाला शर्मा

१५, लक्ष्मीबाई कालोनी, ग्वालियर

व्यवहृत संक्षिप्त शब्दचिह्न

मूलशब्द	संक्षिप्त चिह्न
अग्नि पुराण	अ पु
श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल सीरीज	एस वी ओ सी
कर्पूरमंजरी	क म
काव्यमाला	का मा
गायकवाड ओरियण्टल सीरीज	गा ओ सी
भावप्रकाश	भा प्र
सागरनन्दी	सा न
साहित्यदर्पण	सा द
नाट्यशास्त्र	ना शा
नाटक लक्षणरत्नकोश	ना ल र
नाट्यदर्पण	ना द
मदनकेतु प्रहसन	मदनकेतु

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

संस्कृत वाङ्मय में काव्य शब्द जिस अर्थ का बोध कराता था, उसके लिए आजकल साहित्य और नाटक इन दो शब्दों का प्रयोग होने लगा है। काव्य शास्त्र के अनुसार 'काव्य' में इसके श्रव्य और दृश्य इन दोनों रूपों का समावेश होता है, जबकि आज के विद्वान प्राय रसात्मकतायुक्त कविताओं की समष्टि को ही काव्य समझने लगे हैं। आज दृश्य काव्य के लिए एक पृथक् पद 'नाटक' का प्रयोग किया जाने लगा है। इसके विपरीत भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक के दस भेदों में से एक भेद-विशेष का नाम नाटक है, जिसे संस्कृत के आचार्य रूपक कहते हैं। इस स्पष्टीकरण से, आशा है, उक्त दोनों शब्दों का अर्थ समझने में पाठकों को किसी प्रकार का भ्रम नहीं होगा।

दृश्य काव्य का महत्त्व

काव्य अपने श्रव्य और दृश्य दोनों ही रूपों में प्रभावोत्पादक तथा आनन्दवर्धक होता है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों रूपों में भी दृश्य-काव्य, नेत्र तथा कर्ण इन दोनों इन्द्रियों द्वारा गम्य होने के कारण

श्रव्य-काव्य की अपेक्षा जो केवल कर्णेन्द्रिय द्वारा ही श्रोता की आराधना करता है, अधिक तीव्र प्रभाव उत्पन्न करता है।

काव्य जगत् में प्रसिद्ध ऐसी अनेक उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे दृश्य-काव्य की यह विशेषता प्रमाणित होती है। उदाहरणार्थ सुभाषितरत्न-भाण्डागार नाटक की स्तुति में कहता है "नाटकान्तं कवित्वम्" अर्थात् काव्य रचना का परमोत्कर्ष नाटकों में पाया जाता है। उनमें कवि सहृदय जन-समुदाय के हृदय में काव्य वस्तु को दृश्य रूप प्रदान करके अभिव्यक्ति तथा भावुकता को चरम सीमा तक पहुँचा देता है। अग्नि पुराण में 'त्रिवर्गसाधनम् नाट्यम्' के द्वारा नाट्य कला को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति का साधन घोषित करते हुए उसकी काव्य-सम्बन्धी महत्ता स्वीकार की गयी है। कवि-सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध "काव्येषु नाटकं रम्यम्" तथा अभिनय दर्पण की "अभिब्रह्मपरानन्दादिदमप्यधिकं मतम्" जैसी उक्तियाँ भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती हैं।

रूपकों के भेद

भारतीय नाट्य परम्परा में प्रधान और गौण रूपकों के भेदों प्रभेदों का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। भरत मुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ जैसे प्रकाण्ड साहित्य शास्त्रियों तक के ग्रन्थों में इस विषय का विशद विवेचन किया गया है। मुख्य रूपकों के दस तथा गौण के अधिक से अधिक बीस भेद प्राप्त हैं।[1] रूपकों की नाटक, प्रकरण, व्यायोग, अंक, डिम, ईहामृग, प्रहसन, भाण समवकार और वीथी ये दस विधायें होती हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, नाटकलक्षणरत्नकोष, भावप्रकाश, दशरूपक तथा साहित्य दर्पण में रूपक के ये ही दस भेद बतलाये गये हैं। केवल रामचन्द्र और हेमचन्द्र ने रूपकों की संख्या बारह मानी है।[2] नाट्य-दर्पणकार रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र रूपक के नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार भाण, प्रहसन, डिम, अंक, ईहामृग और

---

१ – भा प्र (नवम अधिकार) पृष्ठ २५६

२ – नाटक प्रकरण च नाटिकाप्रकरण्यथ ।
व्यायोग समवकारौ भाण प्रहसन डिम ॥
अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वार वृत्तय स्मृता । ना द

वीथी ये बारह भेद मानते हैं । हेमचन्द्र ने भी पहले काव्य को प्रेक्ष्य और श्रव्य इन दो भागों में बाँट कर प्रेक्ष्य को पुनः पाठ्य एवं गेय में विभक्त किया है ।[1] इस प्रकार काव्यानुशासन में नाटक, प्रकरण, नाटिका समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, वीथी, सट्टक, प्रहसन भाण और उत्सृष्टिकाक ये बारह भेद पाठ्य के तथा डोम्बिका, भाण, प्रस्थानक, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित एवं काव्य ये भेद गेय के बतलाये हैं । यहाँ भरत मुनि के दस रूपकों में नाटिका और सट्टक को मिलाकर हेमचन्द्र ने बारह रूपक गिना दिये हैं। उप-रूपकों के विषय में यद्यपि भरत मुनि स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहते तथापि उनके नाट्य-शास्त्र के सम्प्रेक्षण से नाटी नामक एक गौण रूपक का भी पता चलता है तथा अभिनवगुप्त की टीका से डोम्बिका, भाण, पिदगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीस एवं रासक इन नौ प्रकार के गौण रूपकों से हमारा परिचय होता है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण, धनञ्जय की अवलोक टीका, शारदातनय के भावप्रकाश तथा साहित्य-दर्पण में इन उप-रूपकों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है । साहित्यिकों द्वारा उपेक्षित उप-रूपकों का विशद विवेचन एवं प्राचीन आचार्यों के मुख्य और गौण रूपक के भेदों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता । आचार्य रामचन्द्र ने नाटिका तथा प्रकरणिका को भरतादि प्राचीन नाट्यमीमांसकों के दशरूपकों के साथ जोड़ दिया है, जबकि साहित्यदर्पणकार ने नाटिका की उप-रूपकों के साथ गणना की है। प्रकरणी को भी नाटिका के साहचर्य से गौण रूपकों का ही एक भेद माना जा सकता है।

उपर्युक्त नाट्यलक्षणकारों के अतिरिक्त विख्यात प्रहसनकार बोधायन कवि ने भी अपने 'भगवदज्जुकम्' प्रहसन में नाट्य के भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डालते हुए, हास्यरसप्रधान प्रहसन को प्रेक्ष्य काव्य का उत्तम रूप बतलाया है ।[2]

---

१ – काव्यानुशासन — [का. मा] अध्याय ८ पृ० ३०६

२ – भगवदज्जुकम्—पृष्ठ ३

एकांकियों के प्रकार

रूपकों के इन भेदों में भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और अंक या उत्सृष्टिकांक तथा उप-रूपकों में गोष्ठी, नाट्यरासक, रासक, भाणिका, विलासिका, उल्लाप्य, श्रीगदित, हल्लीस, प्रेक्षणक, (प्रेक्षणक, प्रेक्षणीयक) प्रेंखण और काव्य एकांकी हैं। कतिपय ऐसे भी साहित्यकार हैं जो रूपकों एवं उपरूपकों के उपर्युक्त भेदों में से कुछ अन्य भेदों को भी एक अंक का प्रेक्षणक बतलाते हैं जैसे–ईहामृग। इसमें आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार एक अंक होता है।[1] किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार इसमें चार अंक भी हो सकते हैं। भावप्रकाश में अंकित उपरूपकों की सूचिका में भी कतिपय ऐसे नवीन नाम उपलब्ध होते हैं जो एकांकी की कोटि में रखे जा सकते हैं-यथा प्रस्थानक, डोम्बि या डोम्बिका आदि। ऊपर गिनाये गये रूपकों तथा उप-रूपकों के अट्ठाईस भेदों में (१० रूपक+१८ उप-रूपक =२८) पन्द्रह ऐसे नाट्य प्रकार हैं जो एक ही अंक के होते हैं। इस प्रकार संस्कृत में एकांकी रूपकों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के एकांकी रूपक नाटक की अन्य विधाओं से रूप की दृष्टि से ही छोटे होते हैं। इनमें पात्र कम होते हैं और अंक एक ही होता है परन्तु बड़े नाटक का कोई एक अंक एकांकी नहीं कहा जा सकता क्योंकि एकांकी आकार में छोटे होते हुए भी अन्य रूपकों की तरह अपने में पूर्ण होते हैं। इनमें नाट्य रचना के समान सब तत्वों-संधि, सन्ध्यंग, अर्थप्रकृति एवं पताकादि-का विधान होता है। केवल वस्तु, नेता और रस ही इनके भेदक तत्व हैं। नान्दी-पाठ, पूर्वरंगक्रिया, स्थापना आदि की व्यवस्था एकांकियों में भी होती है। भारतीय नाट्य शास्त्र में इसका विशद वर्णन किया गया है।

---

१ – ईहामृगश्चकांकिना यथा कुसुमशेखर।
विस्मयकारकाणि विगतानि प्रत्ययकारणानि विश्रामहेतवो यत्र।
तेनैक एवांक। नायकास्तु द्वादश समवकारानिदर्शेन व्यायासे तत्लाभात्
व्याजानिति। फलायनादिभि। ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्राथा यत्र
स ईहामृग।

–अभिनवगुप्त

निम्नलिखित तालिका से भी एकांकियों का पारस्परिक अन्तर समझा जा सकता है –

एकाङ्की रूपक	रस	अवस्थाएँ	सन्धियाँ	वृत्तियाँ	विषय-वस्तु
भाण	शृ गार, वीर एव हास्य	प्रारम्भ, फलागम	मुख निर्वहण	भारती और कैशिकी	उत्पाद्य (कवि कल्पित)
प्रहसन	हास्य एव शृ गार	प्रारम्भ फलागम	"	"	उत्पाद्य
वीथी	शृ गार (मुख्य) अन्य रसो की छाया मात्र	प्रारम्भ फलागम	"	कैशिकी	उत्पाद्य
व्यायोग	वीर, रौद्र एव वीभत्स	प्रारम्भ यत्न फलागम	मुख, प्रतिमुख एव निर्वहण	कैशिकी से भिन्न तीन वृत्तियाँ	प्रख्यात
अक	करुण	प्रारम्भ फलागम	मुख, निर्वहण	कही भारती कही कैशिकी का प्रयोग	कभी प्रख्यात कभी उत्पाद्य

नाटक का आरम्भ और विकास

नाट्य की उत्पत्ति के मूल कारणों और इसके आदि स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होता है कि नाट्य का आरम्भ एकाकिका से हुआ होगा तथा उसका अभिनय स्थल रहा होगा टोले मुहल्ले का खुला स्थान । घरेलू व्यवहार मे पाँच से लेकर दस से भी अधिक अको वाले शास्त्रोक्त वृहन्नाटकों के लिए कोई स्थान नही हो सकता था। यहाँ तो एक अकवाला लघु नाटक ही मनोरञ्जन कार्य मे सफल हो सकता था। सभ्यता और मानसिक विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि एकाकी रूपक नाटक-साहित्य के विकास-क्रम मे पहले प्रादुर्भूत हुए होंगे तथा शनै -शनै. उनका विकास पूर्ण और महा-नाटकों के रूप मे हुआ होगा। ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवस्-उर्वशी सम्वाद तथा दशममडल के सोम-यज्ञ के प्रसग मे इन्द्र के भाण सूक्त (मन्त्र– ११९ आदि) एव पतञ्जलि के महाभाष्यगत कस-वध आदि निर्देशो मे एकांकियों की प्राचीनता पूर्णरूपेण पुष्ट होती है । अधिक सम्भव है कि इनका सूत्रपात

छोटे-छोटे हास्यपरक संवादों में ही हुआ होगा जिन्होंने आगे चलकर प्रहसन का रूप ले लिया हो। श्री मनकड भाण को रूपक का प्राचीनतम नाट्यरूप मानते हैं परन्तु प्रस्तुत प्रबंध में आगे किये गये भाण एवं प्रहसन साहित्य के तुलनात्मक साहित्यिक परीक्षण के आधार पर प्रहसन भाण से पूर्व की रूपक विधा प्रतीत होती है।

नाट्य का विकसित अवस्था से एकांकियों की ओर प्रत्यावर्तन

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य का जीवन अधिक जटिल और कार्यसंकुल होता जाता है जिसके फलस्वरूप समय का अभाव मनुष्य को खलने लगता है परन्तु दैनिक श्रम के कारण खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए मनोरंजन की आवश्यकता भी वैसी ही बनी रहती है। जहाँ एक ओर हम नाट्य साहित्य के विकास में महानाटकों की एक विशेष अवस्था उपलब्ध होती है, वहाँ दूसरी ओर एकांकी नाट्य-साहित्य की परम्परा के प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है कि महानाटकों की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद फिर एकांकियों की ओर नाट्य साहित्य का प्रत्यावर्तन क्योंकर हुआ? इसके उत्तर में निम्नलिखित चार कारण युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हैं —

१— समय का अभाव।
२— श्रम की बचत।
३— व्यञ्जना की तीव्रता।
४— किसी एक रस का प्राधान्य।

एक अङ्क के नाटकों में द्रष्टा और नाट्यकार दोनों के समय तथा श्रम की बचत होती है, यह स्पष्ट है। किन्तु इसके साथ साथ व्यङ्ग्य वस्तु की व्यञ्जना भी इनमें तीव्र होती है। बृहन्नाटकों की नाट्य-रचना में पञ्चसन्धि एवं पञ्चअर्थप्रकृति आदि अङ्गों का विधान अनिवार्य होता है। उनमें रसों की विविधता भी रहती है जिसके कारण गम्भीरता का आ जाना भी स्वाभाविक ही है। अतः उनकी प्रभावोत्पादकता शिथिल पड़ जाती है। जिस प्रकार कोई नदी जितनी अधिक चौड़ी होती है उतनी ही उसकी धारा अधिक मन्द पड़ जाती है और इसके विपरीत नदी जितनी सँकरी होती है उसकी धारा भी उतनी ही अधिक तीव्र हुआ करती है। यही नियम नाट्य कृतियों के आकार पर भी लागू होता है। इसी कारण एकांकी नाटकों की व्यङ्ग्य वस्तु का प्रभाव तीव्रतर होता है।

नाट्य-साहित्य के लिए जिन शास्त्रीय शृङ्गार आदि आठ रसों का विधान किया गया है उनमे करुण, रौद्र और अद्भुत आदि कुछ ऐसे रस है जो अधिकतर गभीर प्रकृति के लोगो की ही तृप्ति कर सकते है, सर्व-सामान्य की नही। इसके विपरीत शृङ्गार अथवा हास्य के लिए सर्व-सामान्य का आकर्षण स्वभाव से होता है। तदनुसार एकाकियो मे व्यग्यवस्तु हास्य-रस जैसे एक लोकप्रिय तथा आह्लादकारी रस के साथ द्रष्टा के हृदय तक पहुँचाई जाती है। अत काव्य-कला की कल्याणकारिता (शिवेतरक्षति) अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाती है जिससे दर्शक मनुष्यगत त्रुटियों के चित्रण से भी आत्मा के उत्थान और रसानन्द इन दोनों अपूर्व लाभो का एक साथ भागी बनता है।

संस्कृत रूपकों में विदूषक

भाणो एव प्रहसनो मे विट तथा विदूषको को ही मुख्य अभिनेता के रूप मे हम देखते हैं। विदूषक[1] भारतीय हास्य का प्राचीन प्रतीक और उसकी वेश-भूषा, बातचीत आदि हास्योत्पादन करने वाली होती है। विदूषक पद का ही अर्थ होता है रूप को विदूषित करनेवाला (विदूषयति आत्मानमिति= वि+दुष+णिच्+ण्वुल) अर्थात् जो तरह-तरह के स्वाँग बनाकर अपने आपको भद्दा रूप देकर दर्शकों को हँसाता है, वह विदूषक कहलाता है। उसकी असगत, असम्बद्ध तथा विपरीत शब्दावली, वाचिक और रहन-सहन की विधि तथा हँसानेवाली आकृति, क्रमशः आगिक एव आहार्य की ओर इगित करती है। उसकी रूपप्रतिष्ठा मे वाचिक आगिक तथा आहार्य अभिनय की ओर सकेत है। वह जाति का ब्राह्मण होता है।[2] भरत मुनि से लेकर विश्वनाथ तक तथा अन्य आधुनिक पूर्वी एव पश्चिमी विद्वानो ने इसके लक्षण पर पर्याप्त विचार किया है जो एक दूसरे से प्राय मिलता जुलता है।

नाट्य-जगत् मे सर्वत्र नायक (राजा) के अन्तरग मित्र के रूप मे उसके दर्शन होते हैं। वह अपने वेष, रूप एव भाषण द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता हुआ खिन्न हृदय राजा तथा अन्य अन्तःपुरवासियो का मनोरञ्जन

---

१ – ना शा गा ओ सी भाग १ पचम अध्याय १२४ पृ० २४२

२ – वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च सविधेयो विदूषकः ॥
ना शा अध्याय ३५ श्लोक न० ३५-३७

करता दिखाई देता है। शृङ्गार रस के प्रसंग में साहित्यशास्त्रों में नायक के सहायकों का विवेचन करते समय विट, विदूषक, पीठमर्द, नर्मसचिव आदि पात्रों का वर्णन किया गया है। इन पात्रों को हीन पात्रों की संज्ञा भी दी जाती है। शारदातनय ने वामसचिव और वाग्भट्ट ने नर्मसचिव को अनुचर के अन्तर्गत एक भेद स्वीकार किया है। राजा का सखा होने के कारण विदूषक प्रेम कार्य में सहायक पीठमर्द एवं नर्मसचिव का कार्य करता हुआ भी पाया जाता है। वह ईर्ष्यालु, कलहयुक्त और प्रणयमान की स्थिति में ज्येष्ठा नायिका को प्रसन्न करने वाला होता था। इन नाटकों में विदूषक का रूप प्रायः इसी रूप में प्राप्त है। भास के अविमारक तथा राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी में विदूषक का अतिप्रलाप, उसका पेटूपन और रामायण की कथा से अनभिज्ञता आदि वाक् हास्य रस द्वारा बीच-बीच में नाटकों की गम्भीरता को दूर कर उसे आनन्दवर्धक रूप देने के लिए ही रखी गयी हैं।

अन्य विदूषकों की भाँति वह भी भोजन भट्ट है। परन्तु पीठमर्द के रूप में उसका चरित्र बहुत निखरा है। इसके अतिरिक्त स्त्री पात्रों में चेटी, दासी, दूती आदि द्वारा हास्य की धारा प्रवाहित की जाती है।

भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के चौबीसवें अध्याय में (१९–२० श्लोकों में) नायक के चार भेदों के आधार पर विदूषक के भी चार भेद बताये हैं— लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य जो क्रमशः दिव्य, नृप, अमात्य तथा ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं। शारदातनय ने भी भरत के नाट्य में परिचित परिजनों के साथ चारों प्रकार के नायकों के विदूषकों के पृथक् गुणों का उल्लेख किया है।[1] देवताओं का विदूषक भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता, सामुद्रिक का विशेषज्ञ, तर्क एवं वितर्क करने वाला, स्वयं आगे निर्णय में गूढ़ रहने वाला तथा देवी और परिचारिकाओं का प्रियतम होता है। वह रनिवास का मनोरञ्जक ही नहीं अपितु अन्तःपुर का आलोचक भी माना है। विदूषक पद का अर्थ आलोचक (critic) भी होता है। वरान के सर्ग १०[2] अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नैषधकार श्री हर्ष ने भी किया है। वैदिक साहित्य में यह आलोचक का भी ... विविध रूप में

1. भा. प्र. गायक. ओ. सिरीज पृ० २८७, २८८
2. प्राशंसि सगद्गद्यान्यपि चार्वी चार्वाकता सर्वविदूषकत्वम् ।
—नैषधचरित सर्ग १०

लौकिक साहित्य में मनस्वर विदूषक के वेश में अवतरित हुआ है। यहां वह अन्तःपुर के छिद्रान्वेषण द्वारा अपने इस प्राचीन रूप की हमें याद दिलाता है। ब्राह्मण होकर भी वह प्राकृतभाषी होता है। भरत सागरनन्दी आदि आचार्य भी उसे प्राकृतभाषी ही बतलाते हैं।[1]

विलसन कीथ आदि पाश्चात्य समालोचकों ने विदूषक जैसे हीन पात्र के ब्राह्मणत्व पर आश्चर्य प्रगट किया है। उनके मत से इस पात्र के राजा से सम्बद्ध होने के कारण ही सम्भवतः इन आचार्यों ने विप्र जाति का होना आवश्यक समझा होगा। विप्र होने के कारण राजा के साथ इसके पारस्परिक गाढ़ प्रेम को जातिगत मलिनता दूषित नहीं कर सकेगा। इसके मूल में यही धार्मिक भावना छिपी होनी चाहिये। रनिवास के लिये ब्राह्मण जैसे सात्त्विक वृत्ति के व्यक्ति का रहना ही अधिक उपयुक्त है। नायक तथा नायिका के पारस्परिक प्रणय-व्यापार का रहस्यात्मक रूप में न होकर परस्पर सौमनस्य की स्थापना में ब्राह्मण ही अधिक सफल हो सकता है। इसके सान्निध्य से महलों में सम्भावित भ्रष्ट आचार भी रोके जा सकते हैं। महाव्रतविधि में उल्लिखित एक ब्राह्मण चरित्र की तुलना भी इस परिहासशील विदूषक से की जा सकती है। विदूषक जैसे विनोदप्रिय प्राकृतभाषी ब्राह्मण का नाट्य में स्थान इस बात का पोषक है कि अभिनय-कला की उत्पत्ति जनसाधारण में हुई।

वात्स्यायनमुनि के कामसूत्र से भी विदित होता है कि विदूषक राजा का सखा और सलाहकार ही नहीं जनसाधारण का स्नेहभाजन भी होता था। मनोरञ्जन कार्य में सहायक के रूप में विट पीठमर्द आदि पात्रों का उल्लेख कामसूत्र में भी मिलता है।[2] नाट्यशास्त्र कामसूत्रादि शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त चतुर्भाणी में भी विदूषकादि के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश

---

१ प्राच्याविदूषकाणां तु ... —ना० शा० अध्याय १८

...शौरसेनीमय ... कार्यं ...।

एतां एव ... विदूषक ॥

ना० ल० र०

२ – भार्यान्तर पुनरि...सारा ।

...कुटुम्बपुत्रान् ...॥

...विदूषकाख्यता ...सारा ।

...विश्वास्या च ॥ ८ ॥

कामसूत्र १ ४ ५०

डाला गया है। नाट्य ग्रन्थों में विदूषक का भेद सहित विस्तृत वर्णन तथा उसका प्राकृत प्रयोक्ता होना भी लक्षित किया गया है। आचार्य वात्स्यायन द्वारा विदूषकादि का नागरिक के मित्र एवं सलाहकार के रूप में उल्लेख करना इस बात को प्रमाणित करता है कि विदूषक तथा विट केवल नाट्य जगत् (उसमें भी विशेषकर भाण, प्रहसन एवं प्रकरण) की ही वस्तु नहीं थे अपितु वे साधारण लोक के जीवित प्राणी भी थे जिनका पेशा ही था हास्यमय अभिनय प्रदर्शन द्वारा नागरिकों का मनोविनोद करना। संस्कृत के शिष्ट रङ्गमञ्च एवं साहित्यिक रूपकों के पराभव के बाद भी परम्परागत जन-नाट्य का क्रम अभी खण्डित नहीं हो पाया है। हम आज भी लोक में प्रचलित टेसू के मेले एवं गुजरात के इसी शैली के नाट्य भवाई को देखकर अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। टेसू वालों के मुख से प्रकृति विपरीत वर्णन करने वाली गाथाएँ सुनकर हमारी गम्भीरता का बाँध टूट जाता है और भवाई में रंगला नामक एक हँसोड़ पात्र के नाटक को देखकर संस्कृत नाटकों के विदूषक का चित्र स्वतः उपस्थित हो जाता है। सरकस का जोकर भी विदूषक का ही विद्रूप है। ब्रजभूमि का लोकप्रिय रासलीला का मनसुखा भी विदूषक का ही एक रूप होता है।

अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, सम्पूर्ण तथा प्राकृत और पाली ग्रन्थों में निबद्ध लोकधर्मी एवं शास्त्रीय नाट्य परम्परा के विवरणों के अध्ययन से यह निर्विवाद है कि नाटक प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अङ्ग था।

जन-नाट्य एवं लोक-रङ्गमञ्च

लोक-नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में लेखबद्ध न होता हुआ भी जन जीवन में व्याप्त रहा है और कवि तथा नाटककार इन लोक नाट्यों से अनुप्राणित होते रहे हैं। डा० एस० एन० दासगुप्ता तथा संस्कृत साहित्य के अन्य विद्वान् समीक्षकों ने बारबार राजाश्रित नाटकों एवं रङ्गमञ्च के अतिरिक्त जन-नाटक तथा लोक रङ्गमञ्च की परम्परा की स्थिति का समर्थन किया है। लोकनाट्य परंपरा शिष्ट रङ्गमञ्च एवं शिष्ट नाट्य-साहित्य की समनुगामिनी होकर चलती रही है। इस शैली के नाटकों के कुछ रूप बहुत ही प्रभावशाली और चमत्कारोत्पादक रहे हैं। जन नाटकों के विविध रूप आज देखने को मिलते हैं उनमें शृङ्गार और हास्यप्रधान एकांकी भाण तथा प्रहसन एवं वीररसादि व्यायोग रूपक।

की तुलना करने से ज्ञात होगा कि एकांकी रूपक तथा उप-रूपकों का इन लोक-नाटकों से निकटतम सम्बन्ध है। भाणों की छाया "भवाई" में और अङ्क एवं व्यायोग की झलक 'कठपुतली' के खेल में देखी जा सकती है।

भास एवं कालिदास के समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक संस्कृत-साहित्य में निरन्तर उत्कृष्ट नाटकों की रचना होती रही जो प्रायः नाटक, सट्टक, त्रोटक अथवा प्रकरण के रूप में थी। रूपक के ये भेद नाट्य-रचना के सविधान की दृष्टि से प्रायः मिलते जुलते हैं।[1] इनका मुख्य उद्देश्य देवताओं एवं राजाओं के जीवन की घटनाओं का वर्णन करके उच्च वर्ग के सम्मानित व्यक्तियों का मनोरञ्जन करना था। इन नाट्य रचना के समय नाटककार सचेत रहते थे, जिससे वे उपहास के पात्र न बन सकें।[2] इनमें हास्यमय अभिनय के प्रदर्शन का अवसर कम मिलता था। प्रकरण को छोड़कर दूसरे किसी पूर्ण विकसित नाटक में हम साधारण जनता के संसार के दर्शन नहीं हो पाते। इस अभाव की पूर्ति नाट्यशास्त्रकार ने लोक में प्रचलित नाट्यवृत्तियों के आधार पर नाट्य-भेदों में प्रकरण की कोटि के सुकुमार-पद्धति के भाण, प्रहसन आदि तथा व्यायोग एवं उत्सृष्टिकाङ्क नामक ओज-प्रधान-शैली के सामाजिक रूपकों को स्थान देकर की और नाट्यकारों ने उनके लक्ष्य ग्रन्थों का प्रणयन कर इस नाट्य-रीति को आगे बढ़ाया। भरत ने 'नाट्य' नामक पञ्चम वेद का निर्माण साधारण जनता (उसमें भी शूद्र जाति) के विनोद को ध्यान में रखकर ही किया था और उनके नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट

---

१ – नाटकमथ प्रकरणं ... रूपकाणि दश ॥
किं च —
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
...
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥
सा. द. परि. ६, ३-६

२ – सूत्रधार — आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् ।
नटी — सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते ।
सूत्रधार — आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम् ।
आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥
अभि. शा. १, २.

चतुरस्र" भवन की व्यवस्था सर्वसाधारण के लिये ही होती थी। इन बातों को देखते हुए कुछ लोगों का भारतीय नाटकों को केवल राजदरबार की कहानी या वर्णन करनेवाला नाट्य कहना न्यायसगत प्रतीत नहीं होता।

सम्कृत एकाकियों का प्रारम्भ

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम और बारहवीं शती के प्रारम्भिक भाग मे देश मे मुसलमानो के प्रभुत्व की स्थापना के फलस्वरूप सस्कृत के पठन-पाठन एव लेखन की गति कुछ धीमी पड गई। शासन की ओर से समुचित प्रोत्साहन न मिलने से निराशा के सागर मे गोते लगाते हुए पराधीन भारतीयों का सर्वांगीण पतन होना नितात स्वाभाविक था। यह काल भारतीय इतिहास का मध्ययुग कहलाता है। इस युग मे वैदिक धर्मावलम्बियो के पतन के साथ-साथ बौद्ध धर्म की भी अवनति होने लगी। भारतीय समाज हर तरह की बुराइयों से ग्रस्त हो गया। ऐश्वर्यशाली भोगी राजा पुरुषों के साथ-साथ बडे बडे विद्वान् कवि एव दर्शनशास्त्री आदि भी अपने मुख्य धर्म पथ का त्याग कर उदयगामी होने लगे और मद्यपान के कारण नशे म चूर सभ्रान्त नागरिक राज मार्गों पर अनर्गल प्रलाप करते दृष्टिगत होने लगे। इस प्रकार हमारा विवेच्य काल देश के नैतिक ह्रास का युग है।

ऐसी विषम परिस्थिति मे भी भारत के कुछ भागों मे स्थान-स्थान पर अनेक समृद्ध नरेश छोटे छोटे राज्यो मे राज्य करते रहे, जिनकी छत्र-छाया मे निराश धर्मात्मा जन भजन-पूजन मे लीन हो गये। इनके ही आश्रय मे सस्कृत के विद्वान् साहित्यकार पनपे। इन्ही विद्याप्रेमी क्षत्रिय राजाओं ने सकटापन्न देश के साहित्य की धारा को अवरुद्ध होने से बचाया। इनके सरक्षण मे रूपको की भी रचनाएँ चलती रही। परन्तु ये कृतियाँ कालिदासादि की रचनाओं की की तरह उच्चकोटि की न थी। इनमे से अधिकांश नाट्य-ग्रन्थ एकाकी ही थे। इनका अभिनय धर्म-कर्म मे व्यस्त तथा शासन से त्रस्त जनता के मनोरञ्जनार्थ देवी-देवताओं के मांगलिक पूजनोत्सव (यात्रा) के अवसर पर राजाज्ञा से हुआ करता था।[१] इन उत्सवों मे दूर-दूर के निवासी भाग लेते थे। इन

---

१ – (क) शृङ्गारभूषण पृष्ठ २
(ख) रसमदनभाण पृष्ठ २
(ग) शृङ्गार सुधाकर भाण पृष्ठ

नाटकों के अभिनय का उद्देश्य राजाओं का अभिनन्दन करना था किन्तु इनमें लोक-सुधार की भावना भी छिपी होती थी।[1] हास्य-रस निरूपण कार्य में भी बड़ा सहायक होता है। शिक्षाप्रद एवं रोचक होने के कारण ही भारतीय नाट्यलक्षणकर्त्ताओं ने भी भाण की सार्थकता को माना था। इसके पुष्टिकरण में इतना ही कह देना सार्थक होगा कि लक्षण ग्रन्थों में एकांक रूपकों में भाण का विस्तृत लक्षण प्राप्त होता है। अन्य एकांकियों का भेदमात्र बतला दिया गया है।

संस्कृत के प्रतिष्ठित नाट्यकार भास द्वारा प्रतिष्ठापित एकांकी परम्परा को उनके उत्तरवर्ती रूपककारों ने मध्यकालीन भारत की बिगड़ती हुई दशा को सुधारने के लिये भाण, प्रहसन, व्यायोग, अङ्क, वीथ्यादि एकांकी प्रकारों की रचना करके आगे बढ़ाया। संस्कृत में इस प्रकार का साहित्य पर्याप्त है परन्तु बिखरा हुआ है। प्राचीन काल में भारत में प्रचलित एकांकी लेखन-प्रणाली के अस्तित्व के प्रमाण के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। यद्यपि आज सब की सब एकांकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं तथापि शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों में विभिन्न आचार्यों द्वारा भाण, प्रहसन एवं व्यायोगादि के नामों एवं उन कृतियों के उद्धरणों को देखकर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि किसी युग में भारत में इन संस्कृत एकांकियों की अच्छी माँग थी जिसकी पूर्ति के प्रयत्न में हमारे नाट्यकार सदैव लगे रहते थे।[2] इसके अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों के उदाहरण-स्वरूप करुणाकन्दल, इन्दुलेखा-वीथी आदि एकांकी रूपकों के श्लोकों को उद्धृत करने से यह भी व्यञ्जित होता है कि अपने युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले इन एकांकियों ने रस–

---

१ – धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥

नाट्यशास्त्र

२ – यथेन्दुलेखायां वीथ्याम् – – राजावयस्य। ... ...

नाट्यदर्पण - पृ० १४२

यथा करुणकन्दले –

रसार्णवसुधाकर (द्वितीय विलास) पृष्ठ ११६

यथानन्दकोशनामनि प्रहसने – –

रसार्णवसुधाकर (तृतीय विलास)
पृष्ठ २७६

शास्त्रियों का भी प्रभावित किया था और वे भी इस कोटि के रूपक रचा करते थे।[१]

एकांकियों का उपयोग

इन एकांकी नाटकों में वर्दिया के सन्देश भी निहित है। मध्यम-व्यायोग में विपत्ति से दीन-दुखियों की रक्षा करना ही मनस्वियों का कर्तव्य बतलाया गया है। दूत-वाक्य के अनुसार अपने व्यवहार में नीचता दिखलाना मानवता के अधःपतन का सूचक होता है। कर्णभार में दान-पुण्य द्वारा यश शरीर का संरक्षण ही परम कर्तव्य बतलाया गया है। उरुभंग और दूतघटोत्कच मे युद्ध की भीषणता का चित्रण करके मानवता को उससे विरत करने का उपदेश किया गया है। धनञ्जयविजय एवं व्यायोग साहित्य में यही बतलाया जाता है कि अनीति के दमन के लिए घोर कष्ट सहन करना पड़ता है। संघर्षों का सामना करने के उपरान्त ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। संस्कृत की ये कृतियाँ प्राचीनकालीन होकर भी आज के युद्ध और उत्क्रान्ति में रत उन्मत्त शासकों को शील, संयम एवं सहिष्णुता की शिक्षा देने की क्षमता रखती हैं। कलह विनाश का कारण होता है। यहाँ तक कि मनुष्य के गुह्यतम मनोवेगों (कामैषणा) के प्रकाशन द्वारा जीवन की यथार्थता के दर्शन कराकर शृंगार एवं हास्य-रस की अनुभूति करानेवाली भाण तथा प्रहसन जैसी शास्त्रीय एवं आधुनिक सभ्य समाज की दृष्टि मे निम्न स्तर की नाट्यविधाएँ भी (जिनमें धूर्तों और वेश्याओं का चित्रण प्रस्तुत किया जाता है) प्रेक्षकों के लिए कोई न कोई सीख देती ही है। "कुट्टिनीमत" अथवा 'शम्भली मत" काव्य में दामोदर गुप्त ने स्पष्ट कहा है कि धूर्तों तथा धूर्त नारियों का वर्णन करनेवाले काव्यों के अर्थ के सम्यक् अध्ययन एवं दर्शन से पाठक तथा दर्शक मनुष्य समाज में रमनेवाले इन पाखण्डियों की लपेट में

१ – एकस्यदु:स्थस्य यथा अस्मदुपने निर्भयभीमनाम्निव्यायोगे भीम — —
य तु न्यायपरा परार्जनपरास्ते पश्यतामो वय,
नीच कमहृत परामवभूनस्तप्ताश्च वर्तामहे ॥

नाट्यदर्पण-पृष्ठ २८
भाग १. गा ओ सी

नहीं आ सकते।[1] केवल अध्येता और द्रष्टा ही नहीं प्रत्युत विपरीत परिस्थितियों में पड़ जाने के कारण बाधित होकर विट अथवा वेश्यावृत्ति ग्रहण कर जीविकार्जन करनेवाले लोग भी यथार्थता का ज्ञान हो जाने पर अपना सुधार स्वयं कर सकते हैं। मनुष्य दुर्बलताओं में ग्रस्त रहता है। राजा, पंडित, साधु, संन्यासी दुनियाँ को दिखाने के लिये भले ही सदाचरण में अनुरक्त रहते परन्तु अचेतन मन में स्थित चापल्य के वे भी दास होते हैं। अपनी इन दुर्बलताओं के प्रति औदासीन्य-प्रदर्शन द्वारा वह स्वयं को प्रवंचित कर सकते हैं परन्तु समाज को नहीं। इसके अतिरिक्त एक ऐसा भी वर्ग है जिसे जीविकोपार्जनार्थ निरन्तर अपने घर तथा परिवार से दूर रहना पड़ता है। यथा-श्रमजीवी तथा देश-रक्षा कार्य में रत सैन्य शिविर में वास करनेवाले सैनिक। ऐसे प्रवासियों के निकट मनोनुकूल मनोरंजक साधनों का सदा अभाव रहता है। इस वर्ग को ध्यान में रखकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित गणिकाध्यक्ष के प्रकरण एवं हमारी विवेच्य साहित्यिक रचनाओं में वार-वनिताओं के प्रसंगों की प्रचुरता के आधार पर आधुनिक युग में भी सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर विचार के लिए पर्याप्त अवकाश है।

भाणों एवं प्रहसनों का महत्व

साहित्य शास्त्र में मनुष्य के विभिन्न मनोविकारों प्रेम, हर्ष विषाद आदि के सूचक शृङ्गार, हास्य, वीर आदि नव रस होते हैं। इनमें मानव जीवन को कमनीयता एवं सरसता प्रदान करने में शृङ्गार तथा हास्य का विशेष महत्व होता है। इन दोनों रसों में बहुत समानता है। कभी-कभी यह साम्य इतना अधिक होता है कि साहित्य शास्त्रियों के लिये शृङ्गार और हास्य में भेद निकालना दुष्कर सा हो जाता है। उदाहरण के लिये नाट्य-शास्त्र के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त की भाण तथा प्रहसन नामक रूपक के भेदों की टीका के उस अंश को याद किया जा सकता है, जहाँ वह भाण और

---

१ – काव्यमिदं य शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
न कदाचिदपि विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥

कुट्टनीमत पृष्ठ २२४

प्रहसन में तादात्म्य स्थापित करने में भी संकोच नहीं करते ।

एकांकी साहित्य का अधिकांश इन्हीं दो रूपों में हुआ है । शास्त्रीय दृष्टि से एकांकी रूपकों में रस की पूर्ण आनन्दानुभूति नहीं होती है, क्योंकि इनमें प्रायः रस नहीं रसाभास होता है । इस रसाभास में भी कभी-कभी काव्य के माधुर्य का आस्वादन किया जा सकता है क्योंकि काव्य जगत् में ऐसा कोई शब्द नहीं कोई अर्थ नहीं ऐसा कोई न्याय नहीं जो काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो । किसी रसिक ने कहा है— रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु । यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ कवि के संसार में कोई वस्तु चाहे रम्य या जुगुप्सित उदार अथवा अनुदार नहीं, सब कुछ कवित्व से चमत्कृत होकर रसभाव को प्राप्त हो जाता है । यही कारण है कि भाणों एवं प्रहसनों का उत्पाद्य विषय आधुनिक दृष्टि से घृणित होने पर भी प्राचीन एकांकी प्रणेताओं की काव्य-कला से यत्र-तत्र चमक उठा है । आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रत्येक वस्तु मानव की चित्तवृत्ति की विशेषता को प्रकट करने में समर्थ होती है ।[1] रसादि चित्तवृत्ति के ही द्योतक हैं । संस्कृत के (उत्कृष्ट कोटि के रूपकों) नाटकादि के पात्र तो अपनी मनःस्थित दुर्बलताओं को छिपाकर गुप्त रखते हैं जिसके कारण वह सामाजिकों की हृदयस्थ कुरुचियों का परिष्कार नहीं कर पाते । इसके विपरीत, वैशिक जीवन एवं धूर्तों के चरित्र का अंकन करनेवाले भाण तथा प्रहसन के अभिनेता अपनी चित्तवृत्ति की गुह्यतम विशेषताओं को भी दर्शकों के सामने यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर रख देते हैं । वह शृङ्गार-वर्णनातिरेक द्वारा उनके प्रति प्रेक्षकों के मन में घृणा उत्पन्न करके तत्सम्बन्धी कमजोरियों को दूर करने में सफल हो जाते हैं । जहाँ शृङ्गार का निर्मल रूप सहृदय सामाजिकों को सुखकर प्रतीत होता है, वहाँ इसका अतिरंजित नग्न-वर्णन उनके हृदय में रस-राज के प्रति घृणा भी उत्पन्न कर सकता है । मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पृष्ठ तथा तत्कालीन एकांकी साहित्य (भाण, प्रहसन, वीथ्यादि) के अध्ययन से यह रहस्य खुल जाता है कि

---

१ – चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः ।
न च तदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति ॥
डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित ध्वन्यालोक – (तृतीय उद्योत)

निबल मनवाले तथा भ्रमर वृत्तिवाले कामुक नागरिकों का चरित्र विषमय होता हुआ भी दर्शकों को अमृतमय सदेश दे सकता है।

व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कराने के अतिरिक्त कवियों के जीवनकाल तथा उनके आश्रयदाताओं के जीवन चरित पर भी इन एकांकियों में प्रकाश डाला जा सकता है। उदाहरणार्थ ज्योतिरीश्वर के धूर्तसमागम प्रहसन एवं अन्य एकांक रूपकों का नाम लिया जा सकता है जिनका यथास्थान विवेचन किया गया है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी इनकी उपयोगिता प्रत्यक्ष है।

शास्त्रों में सोदाहरण निरूपित एकांकी भेदों तथा एक अंक में निबद्ध रूपकों के प्राप्त होने से, यद्यपि संस्कृत-साहित्य में एकांकियों का विशिष्ट स्थान प्रत्यक्ष है, तथापि नाट्य-साहित्य के इस अपरिहेय अङ्ग के साथ विद्वान् प्रायः न्याय नहीं कर पाये हैं। अब तक जितना भी शोधकार्य हुआ है वह या तो नाट्य-शास्त्र से सम्बद्ध है या रूपक की प्रमुख विधाओं यथा—नाटक, प्रकरण और सट्टक के विषय में हैं। एकांकियों का क्षेत्र अभी तक उपेक्षित सा ही रहा है। संस्कृत में एकांकियों की परम्परा रही है और उसका प्रभाव परिवर्ती साहित्य पर भी पड़ा है। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि आधुनिक भारतीय एवं कन्नड़, तेलगू, द्रविड आदि दक्षिण भारत[१] की भाषाओं को इनसे प्रेरणा मिलती रही है, और इन्हें उससे दायरूप में बहुत कुछ प्राप्त हुआ है। इस बात की पुष्टि में भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी के नाट्य साहित्य का अवलोकन पर्याप्त होगा। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहिले हिन्दी के नाट्य-साहित्य में मौलिक कृतियाँ नहीं के बराबर थी। अतः भारतेन्दु के रूपक साहित्य को ही हिन्दी की प्रथम मौलिक सम्पत्ति समझा जा सकता है जिस पर संस्कृत में प्रचलित एकांकी परम्परा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी कृतियों में से "धनञ्जय विजय" (व्यायोग) तथा "पाखण्ड विडम्बन" (एकांकी रूपक) तो संस्कृत के अनुवाद ही हैं और 'विषस्य विषमौषधम्' नामक रूपक संस्कृत के भाणों की शैली में ही रचा गया लोकप्रिय एकांकी है। इन्होंने नाटक शीर्षक

१ — दक्षिण भारत में तो मुख्य रूप से संस्कृत-नाटकों का निर्माण होता जाता है और छात्रों को इन कला के प्रयोग की शिक्षा दी जाती रही है। आज भी मद्रास के विद्वान् और कलाकार कला के इस क्षेत्र में रुचि रखते हैं।

एक छोटी सी शास्त्रीय पुस्तिका लिखकर संस्कृत के नियमों के आधार पर हिन्दी के नाट्य-सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयास भी किया जो इस बात को पुष्ट करता है कि हिन्दी की नाट्य-कला संस्कृत के नाट्य-सिद्धांतों की अनुयायिनी रही है। डॉ० जयकान्त मिश्र के अनुसार मुंशी रघुनन्दन दास का "दूताङ्गद व्यायोग" (१९३३ ई०) मैथिली का सर्वप्रथम एकांकी माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के भाण रूपक पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि आज का मोनो ड्रामा भी एक प्रकार का भाणाभिनय है।

एकांकियों के विषय में प्रचलित भ्रम

परम्परागत संस्कृत की एकांकी कला की सत्ता एवं महत्ता को जानते हुए भी इस सम्बन्ध में साहित्यिक समाज में अनेक भ्रान्त धारणाएं प्रचलित हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र अथवा संस्कृत नाट्य साहित्य से अनभिज्ञ विचारकों[1] का यह समझना तो स्वाभाविक है कि नवीनता, प्रिय इस समय की बचत के कारण एकांकी नाटक भी सिनेमा, रेडियो जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति बीसवीं शताब्दी की देन है और आंग्ल साहित्य से प्राप्त हुई कोई अनोखी वस्तु है परन्तु संस्कृत के कतिपय विद्वानों एवं इतिहास लेखकों के ऐसे ही भ्रामक विचारों को देखकर आश्चर्य होता है। यथा—एकांकियों के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखक डॉ० कीथ[2] एवं एन० वाचस्पति[3] गैरोला के निम्नांकित उद्गार विचारणीय हैं —

(क) The Anka or One act play is represented by very few specimens

---

१ – कुछ आलोचक एकाङ्की का उद्गम संस्कृत साहित्य से मानते हैं परन्तु एकाङ्की लेखन जब बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ तो स्पष्ट है कि उस पर अंग्रेजी का प्रभाव है न कि संस्कृत का।

नाटक की परख, ले० डॉ० एस० पी० खत्री। पृष्ठ २५२

२ – (क) संस्कृत-ड्रामा – कीथ, पृष्ठ २६८.

(ख) संस्कृत नाटक – ले० डॉ० कीथ (डा० उदयभानुसिंह द्वारा अनुवादित) पृष्ठ २७०

३ – संस्कृत-साहित्य का इतिहास – ले० वाचस्पति गैरोला (बृहद् संस्करण) पृष्ठ २१९

(ख) ऐसा प्रतीत होता है कि भास द्वारा प्रस्तुत आदर्श के होते हुए भी व्यायोगों की अधिक रचना नहीं हुई।

संस्कृत-नाटकों में रस-निष्पत्ति और भावुकता के विशेष महत्व तथा आधुनिक भारतीय एकांकियों में मनोविज्ञान एवं अन्तर्द्वन्द्व की विशेषता को देखकर ही आज के विचारक विमोहित हो रहे हैं। युग के प्रभाव से प्रभावित आज के एकांकी का प्रायोगिक दृष्टि से परिवर्तित रूप भी उनके व्यामोह का एक कारण है। संस्कृत के पुरातन एकांकी साहित्य के समीक्षण से ज्ञात होगा कि उसमें जिन विशेषताओं (मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, अन्तर्द्वन्द्व आदि) का अभाव विद्वत्समाज को आज खटक रहा है, उनसे भी वह सर्वथा शून्य नहीं है। उसका चित्रण वहाँ दूसरे रूप में प्राप्त होता है।

नाट्य का मानव-जीवन से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। मनुष्य के प्रगति-पथ में जिस प्रकार उत्थान और पतन की क्रिया चलती रहती है, उसी प्रकार साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति रूपक वाङ्मय में भी यह क्रम चलता रहता है। इस तथ्य को हृदयङ्गम न कर आज के विचारक साहित्य-जगत् में प्रचारक के रूप में अवतरित होने लगे हैं।

वस्तुतः विनोदरण के क्षेत्र में मनोरञ्जन के साधनों के प्रभव-स्थान तथा उनके निर्माण-काल का विशेष महत्व नहीं हुआ करता। चित्तानुरञ्जक वस्तुओं का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ता का खेद-निवारण करना होता है। भोक्ता अपनी रुचि के अनुकूल विभिन्न मार्गों द्वारा अपना विनोद करता है। विलास तथा उल्लास के रंग में डूबा हुआ बुभुक्षित श्रान्त मनुष्य मनोरञ्जक वस्तु के रूप और गुण की परवाह नहीं करता। आह्लादमय साधनों में नाट्य सर्वोत्कृष्ट है। अन्य विनोदप्रद वस्तुओं के निर्माताओं की तरह नाट्यप्रणेता को भी भोक्ता की रुचि को ध्यान में रखना पड़ता है। बुभुक्षित समाज का चित्रण करने वाले संस्कृत के एकांकियों की सर्वाधिक संख्या में उपलब्धि का भी यही रहस्य है। विश्व-साहित्य के सम्प्रेक्षण से भी यही सिद्ध होता है। अहम्मति से आक्रान्त हृदय की संकीर्णता का त्यागकर उदारतापूर्वक विचार करने पर यह बात किसी को आपत्तिजनक प्रतीत नहीं होगी कि विश्व के अन्य क्षेत्रों की भाँति भारत में भी नाट्य द्वारा लोकरञ्जन एवं लोकशिक्षण का कार्य होता आया है, आज भी हो रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। हाँ, उसका स्वरूप बदल

सकता है। संस्कृत के प्राचीन एवं अर्वाचीन एकांकियों की प्रचुरता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संस्कृत वाङ्मय में निम्नलिखित एकांकियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इनमें रूपक तथा उपरूपक दोनों प्रकार के एकांकी सम्मिलित हैं। इन रूपकों एवं उपरूपकों में कुछ लेखकों तथा उनके रचनाकाल की निस्संदिग्ध जानकारी प्राप्त होती है किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो ग्रन्थ रूप में उपलब्ध हैं अथवा जिनका उल्लेख अन्यत्र मिलता है परन्तु उनके रचयिताओं के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे एकांकी भी हैं जिनके नाम, लेखक आदि का पता नहीं चल सका है। इनकी विवेचना आगे प्रस्तुत की जायेगी।

एकांकी तालिका

भाण

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
सामान्य भाण		
(१)	पद्मप्राभृतक	शूद्रक
(२)	धूर्तविटसंवाद	ईश्वरदत्त
(३)	उभयाभिसारिका	वररुचि
(४)	पादताडितक	श्यामिलक या श्यामल अथवा सोमिलक
(५)	कर्पूरचरित	वत्सराज
(६)	रसमदन	युवराज कवि
(७)	शृङ्गारभूषण	वामनभट्टबाण
(८)	मदनगोपालविलास	गुरुराम
(९)	अनङ्गजीवन	कोच्चुण्णिभूपालक
(१०)	शृङ्गारतिलक अथवा अय्यभाण	रामभद्रदीक्षित
(११)	वसन्ततिलक अथवा अम्मभाण	वरदाचार्य या अम्माल आचार्य
(१२)	शृङ्गार सुधाकर	अश्विनराम वर्मा
(१३)	शृङ्गार सर्वस्व	भूतिनाथ

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(१४)	मदनसंजीवन	घनश्याम
(१५)	शृङ्गारसुधार्णव	रामचन्द्र
(१६)	शृङ्गारसर्वस्व	नल्लकवि
(१७)	शारदातिलक	शंकरकवि
(१८)	शृङ्गारशेखर	सुदर्शन शर्मा
(१९)	महिषमंगल	पूवनम् महिषमंगल कवि
(२०)	कन्दर्पदर्पण	श्रीकंठ
(२१)	अनंगजीवन	अमरवरद कवि
(२२)	अनंगसर्वस्व	लक्ष्मीनृसिंह
(२३)	मदनभूषण	अप्पायज्वन्
(२४)	रसोल्लास	श्रीनिवास वेदान्ताचार्य
(२५)	शृङ्गारकोष	कश्यपगोत्रतिलक (अभिनव कालिदास)
(२६)	शृङ्गारजीवन	अववानसरस्वती
(२७)	शृङ्गारस्तवक	नृसिंह
(२८)	शृङ्गाररसशृङ्गार	विश्वनाथ
(२९)	मदनमहोत्सव	श्रीकंठ
(३०)	शारदानन्द	श्रीनिवासाचार्य
(३१)	शृङ्गारराजतिलक	अविनाशीश्वर
(३२)	सरस विलास	श्री रंगनाथ महादेशिक
(३३)	हरिविलास	हरिदास
(३४)	शृङ्गारदीपक	विजीभूराघवाचार्य
(३५)	शृङ्गारपावन	वामनभट्ट बाण
(३६)	गोपालगीतार्णव	गोविन्ददेव कवि
(३७)	शृङ्गारसर्वस्व (अप्रकाशित)	श्रीवेदान्ताचार्य
(३८)	रतिकामृत	शंकरनारायण
(३९)	चातुरीचन्द्रिका	श्रीनिवास कवि
(४०)	शृङ्गार जीवन	पटजित् कवि
(४१)	कन्दर्पीपल्लवोल्लास	मजुनाचार्य

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(४२)	वसन्तभूषण	वरदाय
(४३)	शृङ्गार जीवन	वरदाचार्य
(४४)	शृङ्गार सर्वस्व	अनन्तनारायण सूरि
(४५)	रसरत्नाकर	जयन्त
(४६)	शृङ्गारविलास	साम्वशिव
(४७)	शृङ्गारमंजरी	रतिवर
(४८)	तरुणभूषण	शठकोप
(४९)	मालमंगल	मालमंगल
(५०)	केरलाभरण	रामचन्द्र दीक्षित
(५१)	विजयविटराज	कोच्चुण्णितम्पुरन

लिंग भाण

(५२)	मुकुन्दानन्द भाण	काशीपति कविराज
(५३)	शृङ्गारराज	अज्ञात
(५४)	पंचबाणविलास	अज्ञात
(५५)	पंचायुधप्रपंच	अज्ञात
(५६)	प्रद्युम्नानन्द	अज्ञात
(५७)	रसविलास	अज्ञात
(५८)	रसिकरंजन	अज्ञात
(५९)	पंचबाणविजय	रंगाचार्य
(६०)	रसिकजनरसोल्लास	श्री निवासाध्वरि
(६१)	शृङ्गाररसोदय	रामकवि
(६२)	लीलामधुकर	अज्ञात
(६३)	अनंगतिलक	अज्ञात
(६४)	लीलादर्पण	अज्ञात
(६५)	कलिदेलियाना	अज्ञात
(६६)	शृङ्गारदीपिका	अज्ञात
(६७)	अम्बाल	अज्ञात

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	लेखक
(६८)	[illegible]	अज्ञात
(६९)	आनन्दतिलक	अज्ञात
(७०)	गोपीलीलार्णव	अज्ञात
(७१)	शृङ्गारमञ्जरी	अज्ञात
(७२)	अनङ्गब्रह्मविद्याविलास	अज्ञात
(७३)	कामविलास	अज्ञात
(७४)	[illegible]	अज्ञात
(७५)	कुसुमबाणविलास	अज्ञात
(७६)	सरसकविकुलानन्द	अज्ञात

अज्ञात लेखक भाण

(७७) शृङ्गारतरंगिणी
(७८) शृङ्गारशृङ्गारक
(७९) [illegible]
(८०) [illegible]

शीर्षकहीन चार भाण

प्रहसन

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	लेखक
(१)	दामक प्रहसन	भास
(२)	मत्तविलास	महेन्द्र विक्रम
(३)	लटकमेलकम्	शंखधर कविराज
(४)	भगवदज्जुकम्	बोधायन कवि
(५)	हास्यार्णव	जगदीश्वर

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(६)	हास्य चूडामणि	वत्सराज
(७)	कौतुक सर्वस्व	गोपीनाथ चक्रवर्ती
(८)	धूर्तसमागम	ज्योतिरीश्वर
(९)	धूर्तनर्तक	सामराज दीक्षित
(१०)	चण्डानुरञ्जनम्	घनश्याम
(११)	डमरुक	घनश्याम
(१२)	कुमारविजय	घनश्याम
(१३)	दामकप्रहसन	रामनाथ शास्त्री
(१४)	महिममञ्जूषा	काञ्चनमाला (सुरेन्द्रमोहन)
(१५)	पाण्डित्य ताण्डव	बटुकनाथ शर्मा
(१६)	पण्डितचरित	मधुसूदन
(१७)	नाट्यवाट प्रहसन	यदुनन्दन
(१८)	कौतुक रत्नाकर	कवितार्किक
(१९)	विनोदरंग	सुन्दरदेव वैद्य
(२०)	उन्मत्तकवि कलशप्रहसनम्	वेंकटेश्वर (अप्रकाशित)
(२१)	भानुप्रबन्ध	वेंकटेश्वर
(२२)	योगानन्दम्	अरुणगिरिनाथ
(२३)	सुभगानन्दम्	वासुदेव
(२४)	मुण्डितप्रहसनम्	शिवज्योतिर्विन्द
(२५)	कुहनाभैक्षवम्	शाम्भकण्ठि गदाधर
(२६)	पाषण्डविडम्बन	महेश्वर
(२७)	मदनकेतु प्रहसन	रामपाणिवाद

अज्ञात-लेखक प्रहसन

(२८) सैरन्ध्रिका (मात्रिक)

(२९) कन्दर्पकेलि

(३०) सागरकौमुदी

(३१) प्रतापरुद्रीयविडम्बना

(३२) कलिकेलि (शशिकला)

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(३३)	पलाण्डुमण्डनम्	
(३४)	वैंकटेशप्रहसनम्	
(३५)	नटकमेलक	
(३६)	भानिदास	
(३७)	प्रद्युम्नरस	
(३८)	मानदर्प	
(३९)	लम्बोदर	
(४०)	वृहत्सामटक	
(४१)	देवदुर्गति	
(४२)	धूर्तविडम्बन	
(४३)	पयोनिमज्जन	
(४४)	हृदयविनोद	कवि पडित
(४५)	कालेय कुतूहल	
(४६)	काशीदास	
(४७)	उन्मत्त	
(४८)	कौतुकरत्नाकर	कवि तार्किक
(४९)	सोमवल्ली योगानन्द	
(५०)	सान्द्रकुतूहल	
(५१)	शशिविलास प्रहसन	
(५२)	धूर्तचरित	

शीर्षकहीन प्रहसन

(५३) प्रहसन

व्यायोग

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	उपजीव्य
(१)	दूतवाक्य	भास	महाभारत
(२)	मध्यम व्यायोग	भास	महाभारत

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	उपजीव्य
(३)	[illegible] विजय	काञ्चन पण्डित	महाभारत
(४)	धनञ्जय विजय	कनकाचार्य	महाभारत
(५)	पार्थपराक्रम	प्रह्लादनदेव	महाभारत (गोग्रहणपर्व)
(६)	निर्भयभीम	रामचन्द्र	महाभारत
(७)	भीम विक्रम	मोक्षादित्य	महाभारत
(८)	त्रिपुरविजय	पद्मनाभ	महाभारत
(९)	नरकासुरविजय	धर्मसूरि	महाभारत
(१०)	कल्याण-सौगन्धिक	नीलकण्ठ	महाभारत
(११)	सौगन्धिका हरण	विश्वनाथ	महाभारत
(१२)	नृसिंह विजय	अज्ञात	अज्ञात
(१३)	विक्रान्त राघव	कृष्ण	रामायण
(१४)	वीरराघवीय	प्रधानवेङ्कटभूपति	रामायण
(१५)	प्रचण्ड भैरव	सदाशिव	
(१६)	विनतानन्द	गोविन्द	महाभारत
(१७)	विजयविक्रम या प्रचण्डगरुड	आर्यसूर्य	महाभारत
(१८)	जामदग्न्यजय	अज्ञात	
(१९)	किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज	महाभारत
(२०)	दाह्वपराभव व्यायोग	हरिहर	
(२१)	परशुराम विजय	अज्ञात	
(२२)	वीर विक्रम	अज्ञात	
(२३)	व्यायोग [अप्राप्य]	घनश्याम	

उत्सृष्टिकाङ्क (अंक)

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	उपजीव्य
(१)	ऊरुभंग	भास	महाभारत
(२)	कर्णभार	भास	महाभारत

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	उपजीव्य
(३)	दूतघटोत्कच	भास	महाभारत
(४)	शर्मिष्ठाययाति		
(५)	वत्सराजकुण्डला अथवा वरगणानन्दन		

वीथी

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(१)	माधवी	अज्ञात
(२)	प्रेमाभिराम	रविपति
(३)	इन्दुलेखा	अज्ञात
(४)	बकुलवीथिका	अज्ञात
(५)	राधा	अज्ञात
(६)	लीलावती	रामपाणिवाद
(७)	चन्द्रिका	रामपाणिवाद

उपरूपक

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(१)	सौगन्धिकाहरण	विश्वनाथ
(२)	कृष्णाभ्युदय	लोकनाथ भट्ट
(३)	कुमारी विलसितम्	सुदर्शन
(४)	त्रिपुरमर्दनम्	शारदातनय द्वारा उल्लिखित
(५)	भैरवविलास	अज्ञात वैद्यनाथ
(६)	उन्मत्तराघव	विरूपाक्ष
(७)	उन्मत्तराघव	भास्कर
(८)	वामदत्त	

क्रमांक ग्रन्थ का नाम	लेखक
गोष्ठी	
(१) रैवतमदनिका	
(२) सत्यभामा	
भाणिका	
(१) कामदत्ता	
(२) दानकेलि कौमुदी	रूपगोस्वामिन्
उल्लाप्य	
(१) देवी–महादेव	
(२) उदात्त कुंजर	
श्रीगदित	
(१) क्रीडारसातल	
(२) सुभद्राहरण	माधवभट्ट
(३) रामानन्द	
काव्य	
(१) गौडविजय	
(२) सुग्रीवकेलन	
(३) उत्खण्डितमाधव	
(४) माधवोदय	
प्रेंखण	
(१) वालिवध	
नाट्यरासक	
(१) नर्मवती	
(२) विलासवती	
रासक	
(१) मेनकाहित	

२० वीं शताब्दी के एकांकी

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(१)	अलब्धकर्मीयम्	के. आर. नायर
(२)	अक्षयमहिमा	श्री त्रिवेंकटाचार्य
(३)	अस्त्येष्टिमन्दार	के कमला
(४)	आषाढस्य प्रथमदिवसे	डॉ० वी राघवन्
(५)	अवन्ति सुन्दरी	डॉ० वी राघवन्
(६)	रासलीला	डॉ० वी राघवन्
(७)	महाश्वेता	डॉ० वी राघवन्
(८)	लक्ष्मी स्वयंवर	डॉ० वी राघवन्
(९)	पुनरुन्मेष	डॉ० वी राघवन्
(१०)	कामशुद्धि	डॉ० वी राघवन्
(११)	विजयाङ्क	डॉ० वी राघवन्
(१२)	विकटनितम्बा	डॉ० वी. राघवन्
(१३)	वाल्मीकिप्रतिभा	डॉ० वी राघवन् द्वारा टगोर की रचना का अनुवाद
(१४)	गणेश चतुर्थी	पं० क्षमाराव तथा मीनारायणदास
(१५)	कटुविपाक	पं० क्षमाराव
(१६)	कांग्रेसविजय	पं० क्षमाराव तथा मीनारायणदास
(१७)	मिथ्याग्रहणम्	पं० क्षमाराव तथा मीनारायणदास
(१८)	वृत्तान्तविस्मृतम्	पं० क्षमाराव
(१९)	बालविधवा	पं० क्षमाराव
(२०)	मैत्रीनैपुण्यम्	मीनारायणाचार्य
(२१)	अधमसुन्दरम्	श्री मोहनलाल डॉ. पारिख
(२२)	अनुवाद	स्कन्द शंकर खोट
(२३)	हा ! हन्त शारदे !	स्कन्द शंकर खोट
(२४)	गिरिजन्मवर्णनम्	श्री जीवन्याय तीर्थ
(२५)	पुरुषपुङ्गव नाट्य	श्री जीवन्याय तीर्थ
(२६)	वैतालनायविजय [व्यायोग]	श्री जीवन्याय तीर्थ

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक
(२७)	कृतधीनीय	श्री जीवन्याय तीर्थ
(२८)	गार्धविराग प्रहसन	श्री जीवन्याय तीर्थ
(२९)	स्वातन्त्र्य सन्धिक्षणम्	श्री जीवन्याय तीर्थ
(३०)	स्वातन्त्र्य यज्ञाहुति	श्री जीवन्याय तीर्थ
(३१)	प्रतमाननम्	श्री जीवन्याय तीर्थ
(३२)	विवाह विडम्बन	श्री जीवन्याय तीर्थ
(३३)	मनोहर्दिनम्	ए आर हेबरे
(३४)	नागगानविजय	डॉ० हरिहर त्रिवेदी
(३५)	पौरवदिग्विजय	श्री एस के रामचन्द्र
(३६)	प्रतिक्रिया	वी के थम्पी
(३७)	वनज्योत्स्ना	वी के थम्पी
(३८)	धर्मस्यसूक्ष्मागति	वी के थम्पी
(३९)	प्रतापन पाठशाला	श्री सुरेन्द्रमोहन पञ्चतीर्थ
(४०)	वर्णिकसुता	श्री सुरेन्द्रमोहन पञ्चतीर्थ
(४१)	उभयरूपकम्	श्री वाई महालिंग शास्त्री
(४२)	शृङ्गारनारदीय [प्रहसन]	श्री वाई महालिंग शास्त्री
(४३)	मर्कटमार्दलिका भाण	श्री वाई महालिंग शास्त्री
(४४)	रथरज्जु	श्री मोतीलाल विमलकृष्ण
(४५)	सीतापरित्याग	श्री के टी पाण्डुरङ्गी
(४६)	नय फलम्	श्री के टी पाण्डुरङ्गी
(४७)	विक्रमाश्वत्थमीयम् [व्यायोग]	श्री नारायणराव
(४८)	स्नुषाविजय	इलाट्टुर सुन्दर राजकवि
(४९)	वार्मान्तर स्वप्न	श्री कृष्णमाचार्य
(५०)	यामिनी	श्री वीमागन्ती रामलिंग शास्त्री
(५१)	वीरराज्य	वकुलभूषण
(५२)	प्रकृति सौंदर्य	महाव्रत
(५३)	गीर्वाणविजय	पुनसरी नीलकण्ठ
(५४)	अरण्यरोदनम्	सीतादेवी
(५५)	महाप्रस्थान	(दमयन्तिका नाम्निका)
(५६)	सरस्वती	सदाशिव दीक्षित
(५७)	निपुणिका	

द्वितीय अध्याय

भाण

रूप निर्देश

भाण एक प्रकार का एकांकी रूपक है, जिसमें एक ही पात्र होता है और वही उसका नायक होता है। यह धूर्तचरित सम्बन्धी किसी कल्पित कथावस्तु पर आधारित होता है। इसमें आकाशभाषित के माध्यम से उक्ति-प्रत्युक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसमें सिर्फ मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। लास्य के दस अंग भी इसमें प्रयुक्त हो सकते हैं। भाण में कहीं-कहीं वीर और शृङ्गार की भी योजना की जाती है। कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है किन्तु प्रायः वागभिनय (वाचिकाभिनय) प्रधान भारती नामक शब्दवृत्ति ही प्रयुक्त होती है। इसलिये यह रूपक भाण (कथन पर आश्रित) कहलाता है। इसमें आंगिक सात्त्विकादि शेष अभिनयों का अभाव ही रहता है। इसमें एक दिन का ही वृत्तांत होना चाहिये। भरत मुनि ने भाण के (१) आत्मानुभूतशंसी और (२) परसंश्रय वर्णन, ये दो भेद किये हैं।

भाण की व्युत्पत्ति

भाण शब्द की निष्पत्ति भण् धातु से हुई है जिसका अर्थ है कहना या बोलना। भण् धातु से भावार्थक घञ् प्रत्यय लगाकर यदि इसकी व्युत्पत्ति

मानी जाय तो भाण का अर्थ होगा कथन या वक्तव्य । करण में घञ् मानने पर इसका अर्थ होगा जिसके माध्यम से कथन किया जाय । तब यह कथन का एक माध्यम होगा किन्तु यदि भाण शब्द की व्युत्पत्ति भण् धातु के णिजन्तरूप 'भाणि' से मानी जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इसके मूल में ही अनुकरणात्मक तत्त्व छिपे हुये हैं—क्योंकि तब इसका अर्थ होगा कहलवाना। इसके अतिरिक्त अभिधानकोषों में भाणि धातु को ध्वनिविशेष की नकल का द्योतक क्रियापद बतलाया गया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में एक स्थान पर भाण रूपक की व्याख्या के प्रसंग में इसे भाणि[1] धातु से निष्पन्न माना है। आगे चलकर भाण के अभिनेताओं का भाण या भाणक नामक एक वर्ग ही बन गया जिसका पेशा हुआ हास्य एवं अभिनय के साथ मनोरंजक कहानियाँ सुनाकर धनोपार्जन करना। आज भी शादी-विवाह के अवसर पर वेश्याओं के साथ मनोरञ्जन कार्य में सहायतार्थ शृङ्गार एवं हास्य रस से ओतप्रोत "क्या कहा ?" इत्यादि वाक्य कहता हुआ एक पुरुष घोड़ा कुदाता हुआ आता है जो भाण के नायक विट की याद दिलाता है तथा जिससे संस्कृत नाटक के "आकाशभाषित" का स्मरण हो आता है।* जन समाज में प्रचलित स्वांग के कतिपय रूपों में "भाण्ड" नामक लोक नाटक ग्रामीण जनता के मनोरञ्जन का प्रमुख साधन है। बहुत से आधुनिक विद्वान् भाण्ड को संस्कृत भाण का रूपांतर ही मानते हैं।[2]

---

* किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ सा द ६-१४०

१ – एतेनमुखेनैव भाण्डयन्ते उत्तिमन्त क्रियन्ते,
अन्तर्निन्दा अपि पात्र विशेषा यत्रेति भाण ।

अभिनवगुप्त (अभिनव भारती टीका)
ना शा गा ओ सी पृ० ४४८

२ – कल्याणे च सुखे चैव भाडि धातु प्रकाशने ।
सुखस्यापादनाद्भाण्डमाहुर्मनीषिण ॥
अथवा भण धातोस्तु शब्दार्थादुपजायते ।
भणतीत्येव भाण्डमित्यूहनीय सुबुद्धिभि ॥

भरतकोष से उद्धृत

विभिन्न आचार्यों के मत

नाट्यशास्त्रकार भरत[1] से लेकर विश्वनाथ तक जितने भी नाट्य-मीमांसक हुए हैं, उनके लक्षण-ग्रन्थों में भाण रूपक के बाह्य-रूप का विशाङ्कन एक सा ही है, किन्तु नवीन तथा प्राचीन नाट्यशास्त्रकारों और आलोचकों में रस प्रयोग के प्रसंग में मतभेद दिखाई देता है। भरत ने शृङ्गार रस की द्योतक कैशिकी वृत्ति को भाण में स्थान नहीं दिया और न उन्होंने यही बतलाया कि इसमें किन रसों का प्रयोग करना आवश्यक है। इस रूपक की विषय-वस्तु पर भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र पर टीका करते हुए अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि विट का चरित्र हास्योचित होना चाहिये। उनके अनुसार भाण एवं प्रहसन में बहुत कुछ साधर्म्य है और उत्सृष्टिकाङ्क, प्रहसन तथा भाण में क्रमशः करुण, हास्य एवं विस्मय[2] या अद्भुत रस प्रधान होने चाहिये। इस प्रकार उनमें शृङ्गार के लिये कहीं अवकाश नहीं है।

दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में धनञ्जय ने भाण में भारती वृत्ति[3] पर जोर दिया जिससे मालूम होता है कि उस समय या उसके पूर्व भाण केवल हास्य प्रधान हुआ करते थे। इस प्रकार उनके अनुसार भाण में भारती वृत्ति तथा वीर एवं शृङ्गार रस की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके बाद आचार्य विश्वनाथ[4] ने सम्भवतः भाणों में शृङ्गार के आधिक्य को देखकर इसमें भारती वृत्ति के साथ साथ कैशिकी वृत्ति के समावेश का निर्देश किया यह बात स्पष्ट करने के लिए है। उन्होंने भाण में शृङ्गार रस के अनुरूप नृत्यमय ललित शैली की उपेक्षा करना उचित न समझा। विश्वनाथ ने इसमें दाक्षिण्य एवं हावाभिनय की खुली छूट देकर ही कैशिकी वृत्ति को ग्रहण किया।

---

१ – ना. शा. गा. ओ. सी. भाग १ अध्याय १८
२ – ना. शा. गा. ओ. सी. भाग— पृ० ४५०.
३ – सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्य-सौभाग्यसंस्तवैः ।
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च । दशरूपक तृ. प्र. ४८-५१
४ – साहित्यदर्पण । परिच्छेद ६, पृष्ठ २२७-२३०

काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने अभिनव गुप्ताचार्य की भाँति भाण का लक्षण करते हुए स्पष्ट बतलाया है कि भाण की रचना अधिकतर जनसाधारण[1] के लिए हुआ करती है। इसका समर्थन अभिनवगुप्ताचार्य ने भी किया है।[2] संस्कृत साहित्य के मध्ययुगीन ममज्ञ रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने प्राचीन साहित्याचार्यों की उक्तियों से मत भेद प्रदर्शित करते हुए भाण को शृङ्गार वीर तथा हास्य रस भूयिष्ठ रूपकों के प्रकारों में सबसे अधिक लोकप्रिय[3] माना है। इनके मत से भाण का कथाभाग सर्वथा विट द्वारा कल्पित होना चाहिये तथा उसका नायक भी सदा विट ही होना चाहिये।[4] डा० कीथ ने भी इसको जन-साधारण का चित्तानुरञ्जन करने वाला एक नाट्य भेद स्वीकार किया है।[5] भावप्रकाश में अपने पूर्ववर्ती कोहलादि आचार्यों के मत के साथ साथ भाण का वर्णन करते हुए शारदातनय इसे शृङ्गाररसैकाश्रयम् कहकर अन्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रगट करते हैं।[6]

उनके द्वारा उल्लिखित भाण के लक्षण पर ध्यानपूर्वक विचार करने से इसके निम्नांकित दस भेद स्पष्ट होते हैं। उन्होंने इनमें से प्रत्येक प्रकार के भाण के लक्षण भी बतलाये हैं। शारदातनय का यह वर्गीकरण दस नास्यांगों

---

१ आत्मानुभूतशंसी परसंश्रय वर्णना प्रयुक्तश्च।
एकांकी बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः।
काव्यानुशासन (का मा) — अध्याय ८ पृष्ठ ४८६
[टीका—सकल सामान्य पृथग्जनोपयोग्यत्र लौकव्यवहारो वेश्याविटादि-वृत्तान्तात्मा निरूप्यत इति। बाहुल्येन पृथग्जनस्यानुपयोगित्वपरम्।]
समवकार

२ ना शा टीका गा ओ सी पृष्ठ ४५०

३ भाण प्रधान शृङ्गार वीरो मुखनिर्वहवान्।
एकाङ्को दशलास्याङ्ग प्रायो लोकानुरञ्जक ॥ ८१ ॥ नाट्यदर्पण पृष्ठ १२३

४ एको विटो वा धूर्तो वा यत्रान्ये स्वस्य या स्थितिम्।
व्यामोक्त्या वर्णयेदत्र वृत्तिर्मुख्या च भारती ॥ ८२ ॥ नाट्यदर्पण पृष्ठ १२३

५ The monoloug भाण has also an obviously popular character and orig n
Keith Sanskrit Drama P 348

६— भा प्र अष्टम अधिकार पृष्ठ २४५

के आधार पर किया गया प्रतीत होता है।[1]

धनञ्जय, भावप्रकाशकार तथा दर्पणकार आदि साहित्याचार्यों ने अपने ग्रन्थों के जिन स्थलों पर दशलास्यांगों का आकलन प्रस्तुत किया है, उन पर एक तुलनात्मक दृष्टिक्षेप करने से विदित होगा कि शारदातनय ने आचार्य विश्वनाथादि द्वारा प्रयुक्त " चान्यदुक्त-प्रत्युक्तमेवच " इत्यादि के स्थान पर ' भाण्य युक्त-प्रत्युक्तमेवच " का प्रयोग करना उचित समझा है।[2] भाण-रूपकों में उक्ति प्रत्युक्ति के प्राचुर्य को देख कर ही सम्भवतः उक्त प्रसंग में भाण्य पद का प्रयोग किया गया होगा। डॉ० राघवन् का कथन है कि भाण एवं इसी कोटि के (वीथ्यादि) रूपकों में दस के दस लास्यांग प्राप्त नहीं होते। उन्होंने अपने " भोज का शृङ्गार प्रकाश " नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में पृष्ठ ५७६ से ५८६ तक, इस विषय पर विस्तृत चर्चा करते हुए भरत एवं अन्य आचार्यों का स्मरण किया है। उनका यह कथन ठीक है, परन्तु यदि लघुरूपकों में बीज, बिन्दु पताकादि के भेदोपभेद के प्रयोग के प्रसंग में रस की पुष्टि के हेतु दर्पणकार के अनुसार इनकी अवहेलना की जा सकती है तो उसी के साहचर्य से लास्यांगों के प्रयोग के समय भी रूपक रचयिताओं ने इस छूट का लाभ उठाया हो, इसमें आश्चर्य नहीं। कोई भी रूपककार रचना करते समय, लक्षण शास्त्र अपने सामने नहीं रखते और न लक्षणकार ही इसके विपरीत अपने पास कोई लक्ष्यग्रन्थ रखते हैं। वस्तुतः इनका प्रयोग नाट्य में माधुर्य एवं सौन्दर्य नियोजन के निमित्त ही हुआ करता था। अतः इस प्रकरण के विस्तार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

१– गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥

दशरूपक – तृतीय प्रकाश, ५२–५३

२– उत्तमोत्तमकं भाण्युक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्य दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥

भावप्रकाश । अष्टम अधिकार – पृष्ठ २४२

सागरनन्दी[1] किसी भी रस का इस विषय में नामोल्लेख नहीं करते। उनका मत है कि जिस रूपक में "परवचन" (आकाश भाषित) और "आत्मवचन" व्यवधान से ग्रथित हो तथा जिसमें धूर्त एवं विट की सुख-दुःखात्मक नानावस्थाएँ एक अङ्क में सन्निविष्ट हों वह भाण कहलाता है। सिंगभूपाल के "रसार्णवसुधाकर" के अनुसार भाण में दस तत्त्व प्रधान होते हैं यथा —अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलम्भ उपपत्ति, अनृत, विभ्रान्ति, भय, गद्गद्वाक् और प्रलाप।

अग्रणी आचार्यों के अभिमतों का सम्यगवलोकन करने के उपरान्त भाण में लास्य के प्रयोग को देखकर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् स्टेनकोनो जन साधारण में प्रचलित नकलों से इस रूपकविशेष का सम्बन्ध जोड़ते हैं। परन्तु श्री सुशीलकुमार दे के मतानुसार भाणों में नकलों का कोई अंश समाविष्ट नहीं है।

भाण और प्रहसन

'अभिनव भारती' में अभिनव गुप्त के भाण को प्रहसन मानने से यह ध्वनित होता है कि प्रहसन मनोरञ्जन की एक सामान्यवस्तु थी जिसमें हास्य-रस प्रधान होता था। प्रहसन नामक रूपक-विशेष से भाण की समानता देख कर ही अभिनव भारतीकार ने इसे प्रहसन (समानयोगक्षेम) माना।[2]

१– आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषः
विविधाश्रय एकहार्य (एकनार्याश्रय)
'भाण इहैकाङ्कितः स्यात् हर्षोत्पत्तिकारणेनेति
यत्रपरवचनमात्मवचनं सा ग्रथित वाच्य च भवेत्
आकाशपुरुषा यत्र व्याहरति धूर्तविटाना सम्प्रयाणो नानावस्थापि
सुखदुःखादिभिरभिनीतैः एकाङ्कत्वं भाण।
(देखिये भरत कोष)

२– अथहास्यरसौचित्यविदग्धतात्त्वात समानयोगक्षेम भाण
लक्षयितुमाह आत्मानुभूतशंसी। एकेन पात्रेण हर्षोन्मि सामाजिकहृदय
भावयितु प्रयोगोऽत्र स भाणः। एकेनमुखेनैव भाण्यन्ते उक्तिमन्त क्रियन्ते।
अप्रविष्टा अपि पात्रविशेषा यत्रेति भाण। तत्र स प्रविष्ट पात्र विशेष
ना शा १८, पृष्ठ ४४६

भरत, धनञ्जय आदि प्राचीन आचार्यों के इस एकनटाभिनयप्रधान रूपक विषयक मतो के विवेचन से भी यही स्पष्ट होता है कि भाण का सम्बन्ध निश्चित रूप से प्रहसन से रहा होगा। दशरूपक के अनुसार एकांकी मे भारती-वृत्ति का विशेष प्रयोग होता है।[1] भारती भरत या नटो द्वारा अधिक प्रयुक्त होने वाली रही होगी। इससे यह मालूम होता है कि प्रहसन सामाजिको की रुचि को अभिनय की ओर आकृष्ट करने का एक सामान्य साधन था।

प्ररोचना, आमुख, प्रहसन और वीथी—भारती वृत्ति के इन चार अगो म से पहले दोनो का सम्बन्ध नाटक की पूर्व रग क्रिया से है।[2] प्रहसन और वीथी रूपक की प्रस्तावना के अग प्रतीत होते हैं। इन अगो का पूर्वाचार्यों ने भी अलग स्पष्ट रूप से विवेचन नही किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रस्तावना मे प्रहसन, नमवचनादि द्वारा सामाजिको को प्रसन्नचित्त करके रूपक के प्रयोग की ओर उनकी रुचि को उन्मुख करना ही नटो का कार्य था। पीछे से प्रहसन एव वीथी ने रूपक के एक विशेष भेद का रूप ग्रहण कर लिया होगा।

प्रहसन और भाण मे समानता होने पर भी, प्रहसनो मे काव्य-सुषमा भाणो की तरह नही निखर पाई है। यद्यपि सामाजिक कुरीतियो का पर्दाफाश करने के लिये कवि के पास प्रहसन और भाण ये दोनो भेद बडे अस्त्र थ, तथापि दोनो की प्रणाली मे गहरा भेद है। प्रहसनो मे भाणों की अपेक्षा अशिष्ट ग्राम्य प्रयोग अधिक उपलब्ध होते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रहसन की व्यग्य-प्रणाली छिछली हो गई है। इसके विपरीत भाणो के माध्यम से कसा गया व्यग अशिष्ट वर्णनादि से परे रहता है। यद्यपि इनमे भी गाली-गलौज-मिश्रित भाषा देखने को मिलती है, परन्तु वह व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियो के आवरण म छिपी होने के कारण प्रकट रूप से पाठको के सामने नही आती। प्रहसनो का उद्देश्य होता है येनकेनप्रकारेण प्रेक्षको को हँसाना। जबकि भाणो मे समाज के परिष्करण की भावना तीव्र होती है। इनमे प्रेक्षक

---

१ – भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के ... ...

दशरूपक, तृतीय प्रकाश पृष्ठ २५५

२ – भारती सस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय।

तस्या प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे।

प्रशसात प्ररोचना। साहित्यदर्पण, ६, पृष्ठ २३४

को केवल हास्य-रस में डुबकियाँ लगाने का ही अवसर नहीं मिलता, प्रत्युत रसिकों को रसराजशृंगार का साक्षात् दर्शन कर एक अलौकिक आनन्द का अनुभव भी होता है। 'लटकमेलक' तथा 'हास्यार्णव' प्रहसन में किस प्रकार कवि केवल हास्य की सृष्टि हेतु विभिन्न औषधियों के द्वारा रोगों की चिकित्सा करता है यह उक्त हास्यप्रधान कृतियों में से उद्धृत कतिपय पंक्तियों से ज्ञात हो सकेगा। यथा—

> चक्षूरोगे समुत्पन्ने, तप्तशलाकां गुदे न्यसेत् ।
> तदा नेत्रोद्भवा पीडा मनसापि नहि स्मरेत् ॥[1]
> अश्वक्षीरं वटक्षीरं स्नुहीक्षीरं तथैव च ।
> अञ्जनं नित्यमात्रेण पर्वतोऽपि न दृश्यते ॥

नेत्र-रोग को दूर करने के लिए 'लटकमेलक' के जन्तुकेतु वैद्य के अनुसार तपाई हुई शलाका को आँखों के कोमलतम प्रदेश में घुसा देना चाहिये और इस कुकर्म के परिणामस्वरूप उत्पन्न नेत्र-पीड़ा का मन में ध्यान भी नहीं करना चाहिए। ठीक ही है, तप्त लौह का शरीर से सम्पर्क होने के कारण जब प्राणान्त ही हो जायेगा तब नेत्रगत कष्ट के स्मरण का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इतना ही नहीं, आँखों का अञ्जन भी अनोखा है जो "आँख फूटी और पीर गई" की कहावत को चरितार्थ करता है। घोड़े से भी आर, वट तथा सेहुँड के दूध का आँख में लेप करने से पर्वत भी नहीं दिखाई दे सकता।

इसी प्रकार 'हास्यार्णव' प्रहसन में भी प्रकृतिविपरीत वर्णन द्वारा खुजली को दूर करने का एक विचित्र नुस्खा बतलाया गया है, जिसमें हास्य की ही प्रधानता है। तदनुसार देखिये—

> वारिवर्णोचयं साकं घृष्ट्वा वृश्चिककण्टकैः ।
> दातव्यो वानरीरेणुः सद्यः कण्डूहरो हि सः ॥ २ ॥[2]

---

१ – लटकमेलक, २५, २६

२ – हास्यार्णव, ३६.

रोगी के सारे शरीर के अगो मे शैवाल के समूह के साथ बिच्छू को पीस कर एव वानरीरेणु (कॉटो के आकार की बारीक धूलि) का लेप कर देना चाहिये । इस चिकित्सा से खुजली का अविलम्ब नाश हो सकेगा ।

भाण कल्पना-प्रधान रूपक होता है। कल्पना के क्षेत्र मे नैपुण्य लाभ करना आसान काम नही । अमूर्त की अपेक्षा मूर्त वस्तु द्वारा साधारण लोगो का मनोरञ्जन करना सरल तथा सुलभ होता है परन्तु अमूर्त चित्रण के साहाय्य से श्रोता और दर्शक का मन मोह लेना दुष्कर कार्य है । कुशलता प्रारम्भ मे ही प्राप्त नही की जा सकती । सस्कृत के प्रहसनो की अपेक्षा भाणो मे काव्य-सौष्ठव के आधिक्य को देखने पर 'भाण' निश्चित रूप से प्रहसन रूपक के बाद का नाट्य प्रकार प्रतीत होता है ।

शृङ्गार का शास्त्रीय विवेचन

'काम' शब्द का अर्थ इच्छा भी होता है । शृगार शब्द 'शृग' और 'आर' के योग से बना है । 'शृग' कामोद्रेक का तथा ऋण् प्रत्ययान्त 'ऋ' धातु से निष्पन्न 'आर' प्राप्ति का द्योतक है । कतिपय काव्यशास्त्रियो ने शृगार मे सन्निहित शृग शब्द का यौवनकाल मे उदित होने वाले शृगी पशुओ के सीग से जोड़ा है और उसकी तुलना मनुष्य के जीवन के वसन्तकाल (यौवन) मे उदित होने वाली उन्मत्त चेतना से की है । इससे शृगार का क्षेत्र सकुचित-सा हो जाता है। वस्तुत किसी वस्तु को प्राप्त करने तथा उसमे स्नेह करने की भावना (काम) मनुष्य के मन मे जन्म से ही होती है, जिसे अपने जीवनकाल की विभिन्न अवस्थाओ मे वह भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट करता है । गुरु शिष्य, पिता-पुत्री, माता-पुत्र आदि अपनी इस मन स्थित कामना को क्रमश वात्सल्य और भक्ति के मार्ग से प्रकट करते हैं । इस प्रकार मनुष्य की कामैषणा के अनेकरूप शृगार मे निहित हैं । परन्तु भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे इसकी उद्देश्यपूर्ति की बदली हुई विधि के अनुसार साहित्य-शास्त्र मे इनके विभिन्न नाम प्रस्तुत किये गये हैं । अधिकाश रसिको के अनुसार विरोधी लिंग के प्राणियों के मन मे सस्कार रूप से वर्तमान रति या प्रेम रसावस्था को पहुँच कर जब आस्वादक्षमता

को ग्रहण किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार कान्ताविषयक रति शृंगार का साध्य है। दशरूपककार प्रियतम वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुख होने को रति कहते हैं। मनोनुकूल अर्थ की सीमा निस्सन्देह व्यापक होती है, यद्यपि उसमें स्त्री-पुरुष की पारस्परिक मानसिक अनुकूलता का भाव भी सन्निहित है। शृंगार-सुधाकर में रति का सकुचित अर्थ वर्णित है।[१] अधिकांश साहित्याचार्यों ने नायक-नायिका की अन्योन्याश्रित नैसर्गिक आसक्ति को शृंगार के लिये स्पृहणीय बतलाया है। मानव की मधुरतम मानसिक बुभुक्षा "काम" को उज्जीवित तथा परितृप्त करने में समर्थ शृंगाररस को कवियों ने अपनी कृतियों में व्यावहारिकता का चोला पहना कर इसी भाव की पुष्टि की है। इसके अभाव में वे इसे रस न मानकर केवल रसाभास मानते हैं। परिणामस्वरूप उपनायक अर्थात् उपपति या अन्य पुरुष में अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि अचेतन वस्तुओं में सम्भोग का आरोप करना, तिर्यग्योनि में उत्पन्न जीवों (पशु पक्षियों) के प्रेम का चित्रण, गुरुपत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में अनुभयनिष्ठ रति, नीच व्यक्ति से प्रेमव्यवहार आदि शृंगार नहीं, शृंगार-रसाभास के रूप कहे जाते हैं। भाण प्रहसनादि एकांकियों में रसाभास ही होता है।

भाणों का साहित्यिक महत्त्व

संस्कृत के भाणों में अधिकतर वेश्याओं, उनके विटों तथा उनसे सम्बद्ध दूसरे धूर्त जुआरियों के वर्णन मिलते हैं। यद्यपि विभिन्न साहित्य-शास्त्रियों ने इसमें वीर, शृंगार एवं हास्य रस की प्रधानता का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आदेश किया है, तथापि संस्कृत में लिखे गये भाणों में प्रायः शृंगार की ही प्रमुखता है।[२] इस कोटि के रूपकों में चित्रित प्राकृतिक वर्णन तक शृंगार से प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ 'शृंगारभूषण' भाण में कवि शीर्षक के अनुकूल ही शृंगाररसमय प्रभातकालीन प्राकृतिक छटा का वर्णन करता है। इन पंक्तियों में वह सूर्य की दशा को कामियों की दशा

---

१ – स्मरकर्मविवर्तकारणता स्त्रीपुंसो परस्परम् रिरंसा रतिः स्मृता।

२ – शास्त्रीय दृष्टि से यह शृङ्गार रस नहीं अपितु, शृङ्गाररसाभास कहलाता है।

जैसा चित्रित करता है।

"आश्लिष्यत्यनुरागिणीं कमलिनीं गाढानुरागं करै
रालिम्पन् हरिचन्दनेन हरितो बालातपच्छद्मना।
आनन्द दिवसश्रियो विरचयन्नाट्टरक्तांशुको,
मीलत्तारकमुच्चलद्भ्रमरकं प्राचीं मुखं चुम्बति॥"[१]

देखो तो, सूर्य अपने गहरे अनुराग (लाली और प्रेम) भरे हाथो से अनुरागिणी 'रंगीन और प्रेमभरी' कमलिनी का आलिंगन कर रहा है। पीछे बालातप के बहाने उसने दिशाओं (स्त्रीलिंग) के अंग पर हरिचन्दन का लेप कर दिया है, और अब एक और दिवसश्री का आनन्द बढा रहा है, दूसरी ओर प्राची के लाल आंचल को खींचता हुआ उषा मुंह चूम रहा है। प्राची मे भ्रमर उड रहे है और तारे छिप रहे है, तो ऐसा लगता है मानो उसकी अलकें लहरा रही हैं और उसने आनन्दमग्न होकर पुतलियाँ बन्द कर ली हैं। "यहाँ कवि ने सांग रूपक या समासोक्ति का सुन्दर प्रयोग किया है। ऋग्वेद मे भी उपस् की स्तुति के प्रसंग मे सूर्य का ऐसा ही चित्रण किया गया है।[२]

इसी भाण मे इसके मुख्य रस के अनुकूल सुन्दर एव सरस छन्दो मे चन्द्रमा की स्तुति की गई है जो वामनभट्टबाण (रूपककार) के अमूल्य-ज्ञान भाण्डार की परिचायक है।[३]

"जिससे (चन्द्रमा से) मित्रता स्थापित करके कामदेव प्रेम को उद्दीप्त करने वाले रसराजशृंगार के बल से (वेग से) संसार को जीत लेता है। जिसकी शीतल किरणें चकोर-वृन्द को तृप्त करती हैं, ऐसा विश्व को आनन्दित करने वाला चन्द्रमा तुम्हे अपूर्व सुख प्राप्त कराये।" इस प्रकार चतुर्भाणी के बाद के भाणो में भी अलंकार-मंडिता कविता-कामिनी

---

१ – शृङ्गार भूषण भाण – श्लोक १२.
२ – ऋग्वेद – १-११५-२
३ – शृङ्गार भूषण – १

का मनोहर रूप देखने को मिलता है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक पूर्वीय एवं पाश्चात्य साहित्य-जगत् में (श्रव्य तथा दृश्य काव्य के क्षेत्र में) आहार तथा विहार की जो समस्या उभरी दिखाई देती है, वह भारतीयों के लिये नवीन वस्तु नहीं है। इन विषयों पर यहाँ चिरकाल से रसिकगण चर्चा करते आए हैं। आहार के साथ विहार भी मानव जीवन के दैनिक कार्यों का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। समाज में लोगों के मनोरंजनार्थ वारस्त्रियों की भी व्यवस्था थी, जो किसी भी युग में ग्राह्य नहीं थी, तो त्याज्य भी नहीं थी।

काल के स्रोत में बहता हुआ एक ऐसा भी युग आया जो भारत के इतिहास का मध्ययुग कहलाता है। उसमें साहित्य में शृंगार अथवा काम के शालीन एवं मंगलकर स्वरूप की उपेक्षा हो गई। यह काल कला, साहित्य एवं समाज—सभी क्षेत्रों में अवनति का काल माना जाता है। इस युग में समर्पणशील प्रेम जो काम की उदात्त परिणति है—का स्थान वासनाप्रधान काम ने ले लिया।

इस समय इसका अर्थ संकुचित होकर यौनविलासों तक सीमित रह गया। परिणामस्वरूप कुलवधू पीछे पड़ गई और उसका स्थान वार-वधू ने ले लिया। मध्ययुगीन भारत में ही वात्स्यायन के वैशिक पद की उपेक्षा होकर कुट्टिनीमत, समयमातृका जैसी रचनाओं की प्रतिष्ठा हुई। भाणों तथा प्रहसनों में ऐसे ही पात्रों का चित्रण है जिनका उद्देश्य हो गया था "खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ।"

भाण और वेश्या

इस देश में वेश्या वर्ग का इतिहास पुराना है। कात्यायन ने गणिकाओं के समूह के लिये गाणिक्य शब्द बतलाया है और उसके लिये य प्रत्यय का विधान किया है। प्राचीनकाल में राजदरबारों में गणिकाओं को यथेष्ट सम्मान प्राप्त था। यह ६४ कलाओं में निपुण हुआ करती थी। इनके भरण-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध राज्य कोष से होता था। वैशिक जीवन सम्बन्धी

उपलब्ध सामग्री से विदित होता है कि इनके भी बहुत से प्रकार होते थे। प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत तथा उत्तम कोटि की वेश्यायें गणिका कही जाती थी। शाम्मली, माधवी, अर्जुनी, कुम्भदासी, गणेरुका, रणमाता, वारस्त्री क्षुद्रा, शूला, वारवधू, भोग्या, भुजिष्या, कामरेखा, वारविलासिनी, भाण्डहासिनी, आदि वेश्या के पर्याय हैं। राजाओं एवं राज अतिथियों का स्वागत तथा मनोरंजन करना इनका कर्त्तव्य होता था।

पारस्परिक युद्धों के समय पराजित शासकों के राज्य की सम्पत्ति विजेता की समझी जाती थी। इस सम्पत्ति के साथ-साथ हारे हुए राजा की दास-दासियाँ, नर्तकियाँ और गणिकाएँ भी उनको सौंप दी जाती थीं। इन अनुचरों में जो अधिक स्वामि-भक्त होते थे वे विजेता की सेवा में तत्परता प्रदर्शित न कर सकने के कारण निर्वासित किये जाते रहे होंगे। राज्य की ओर से समुचित सम्मान और वृत्ति न मिलने के कारण वेश्याओं ने उदरपूर्ति के लिये नगरों से दूर अपनी बस्तियाँ बना ली होंगी जहाँ यह कला बिकने लगी होगी। इस प्रकार जो वस्तु पहले सांस्कृतिक थी, वह व्यापारिक बन कर रह गई।

वेश्या व्यसन की अति से उत्पन्न तत्कालीन सामाजिक दुरवस्था के फलस्वरूप ही इस अनैतिकता के नियन्त्रण के लिए स्मृति ग्रन्थों (मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि) का प्रणयन हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस कोटि के शास्त्र कतिपय बुद्धिशाली मनीषियों के हृदय को ही सन्तुष्ट कर सकते हैं। इसी से सम्भवतः स्थूल बुद्धि-प्रधान समाज को सुधारने के दीवाने रूपककारों को भाण जैसे शृंगारपरक रूपक रचने की प्रेरणा मिली होगी जिसका बीज ऋग्वेद के दशम मण्डलमें इन्द्र के सोमपान[1] के वाग्मय वर्णन में निहित है। समाज से गणिकाओं के बहिष्करण के कारण ही इस बीज ने अंकुरित होकर साहित्यिक रूप ग्रहण किया होगा।

भाणों का उद्देश्य

यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि समाज सुधार के कार्य

---

१ – ऋग्वेद, मन्त्र १० सू ११९

मे मानव जीवन के बीभत्स रूप का प्रदर्शन करने वाला एकांकी रूपक भाण, कैसे सम्भव हो सकता है? परन्तु इसका फल उल्टा ही होता है। जहाँ कामशास्त्र के पृष्ठो के पारायण से उत्तेजना बढ़ती है, वहाँ शृंगार रस मे पगे भाणो के दर्शन मात्र से काम मे घृणा उत्पन्न होती है। कामशास्त्रविदो की शास्त्रीय पद्धति से सुधार के काम मे श्रम और समय की बचत हो सकती है, परन्तु उसका फल स्थायी नही हो सकता। आयुर्वेद (चिकित्सा विज्ञान) का सर्वसम्मत नियम है कि 'विष विष को मारता है' "अस्त्रं अस्त्रेणैव", "विष विषेणैव" अथवा "कण्टक कण्टकेनैव" इस नीति के अनुसार तत्कालीन दूषित समाज पर व्यंग्य करने के सर्वोत्तम साधन थे भाण एवं प्रहसन। जनसाधारण के पास जो निदान है वह वैज्ञानिकों (शास्त्रियों) के पास नहीं। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान, विकृतियों को निर्मूल नहीं करता, उपचारो से विकारो को दबा देता है, उसी प्रकार कोई भी शास्त्र किसी अनीप्सित वस्तु को जड से नष्ट नहीं कर सकता।[1] भाण और प्रहसन जैसे सामाजिक रूपको द्वारा ही मानव-समाज के सदस्यों के हृदय स्थायी रूप से परिष्कृत हो सकते हैं।

एकांकियो का परिचय देते समय हम कह आए है कि एकांकी रूपको मे भाणो का महत्व अधिक रहा है। तदनुसार लक्षण ग्रन्थो मे इसकी विस्तृत व्याख्या[2] तथा हस्तलिखित पोथियो के नामो की पुष्पिका मे इनकी सर्वाधिक संख्या भाण की लोकप्रियता को प्रमाणित करती है। भाणो की नाममाला प्रथम अध्याय मे यथास्थान संलग्न है।

---

१ – स्वीद्भूतस्योपशमस्य भिन्न एव प्रतिक्रिया. ।
वह्निश्च वह्निमूलस्यत्यमनति स्नोशिरा ॥ मदनकेतु प्रहसन

२ – भाण स्याद्धूतचरितो... .. ... .
. . कुर्यादाकाशभाषितै ।
सा द ६, २२७,२२८ पृष्ठ २८५

भाण ... ...हनाम्याङ्गविनिर्मितः ।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥

सा द ६, २६४ पृष्ठ २६३.

भाण और मोनोऐक्टिंग

आंग्ल वाङ्मय के पर्यवेक्षण से भी ज्ञात होता है कि संस्कृत का भाण कई अवस्थाओं में पाश्चात्य पद्धति के एकाभिनय (मोनोऐक्टिंग) से मिलता है। उसमें भी एक पात्रात्मक अभिनय-प्रदर्शित किया जाता है। उसमें प्रेक्षक समस्त कार्य व्यापार एवं चरित्रों का एक ही पात्र के मस्तिष्क द्वारा दर्शन कराता है। नाट्य-जगत में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। स्वगत भाषण तथा एकपक्षीय संवाद भी एकपात्रीय रूपक कहा जा सकता है। पश्चिमी साहित्य में २० वीं शती में चार्ल्स गिलबर्ट, रुथ ड्रेपर तथा कार्नेलिया ओटिसस्किनर ने इसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। शेक्सपीयर के दुःख प्रधान नाटक मैकबेथ में एक पूरे दृश्य में लेडी मेकबेथ द्वारा एकाभिनय दिखलाया गया है।

ब्राउनिंग के एण्ड्रिया डेल सार्तो नामक कल्पनाप्रधान काव्य को भी इस कोटि में रक्खा जा सकता है। इसमें एक विख्यात चित्रकार एण्ड्रिया का उसकी काल्पनिक पत्नी के साथ वार्तालाप अंकित किया गया है। चित्रकार पत्नी से बार बार अपने सामने बैठे रहने की प्रार्थना करता है, कारण वह उसे देखकर ही चित्रांकन करता है। परन्तु उसकी पत्नी लूक्रेशिया अपने दूसरे प्रेमी की ओर से संकेत पाकर बारम्बार जाना चाहती है। इससे चित्रकारी के कार्य में विघ्न पड़ने के कारण चित्रकार 'अब उन्हें स्वर्ग में पूरा करूँगा, जहाँ कोई बाधक न होगा," इन शब्दों के साथ चित्र को नष्ट कर देता है। इसके सिवाय जाज केसर लिखित 'माम मार्न टु मिडनाइट," श्रीमती एलेनग्लासगो रचित 'बैरेन ग्राउण्ड' राबर्ट ब्राउनिंग का 'माई लास्ट डचेस' आदि काव्य कृतियाँ भी इसी कोटि की हैं। अल्फ्रेड टेनीसन भी अपनी 'माड' शीर्षक रचना को एकपात्रीय रूपक घोषित करता है। यद्यपि ये काव्य-खण्ड संस्कृत-भाण के सर्वथा समरूप नहीं माने जा सकते, किन्तु भाण के मूलतत्व–एकपात्रता की दृष्टि से इनमें समानता है। अतः इनका भाणों से निस्संकोच मिलान किया जा सकता है। कुछ समय से किसी भी साहित्यिकवस्तु को पाश्चात्य जगत से प्रेरणा पाकर लिखी गई कह कर अपने को गौरवान्वित समझने का भारत में फैशन-सा हो गया है। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती जैसे भारतीय साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में यह बात

देखी जाती है। इसका कारण प्राचीन भारतीय साहित्य से लोगो का अपरिचय और आत्मगौरव की भावना का अभाव ही समझना चाहिये। अत हिन्दी ससार में प्राय कहा जाता है कि प्रसिद्ध नाट्यकार सेठ गोविन्ददास जी ने नाट्य साहित्य में जो कतिपय नये प्रयोग किये हैं, उनमे से एक मोनो-ड्रामा भी है। कहा जाता है कि सेठजी ने प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' नामक एकपात्रीय एकांकी रचकर इस क्षेत्र मे एक अभिनव प्रयास किया है। मेरे विचार से सेठजी का यह प्रयास बिल्कुल नया नहीं है। श्री सेठ गोविन्ददास कृत एकपात्रीय एकांकियों मे शाप और वर, एक नायिकात्मक रूपक है तथा शेष कृतियाँ एक नायकात्मक है जो संस्कृत भाण से मिलती-जुलती है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रवेत्ता सागरनन्दी के अनुसार भाणो मे विट के स्थान पर नारी द्वारा भी अभिनय किया जा सकता है[1]। संस्कृत भाण के नायक (विट) के बदले आधुनिक फैशन मे रंगे पुरुष या किसी अधेड़ पुरुष अथवा नायिका के एकाभिनय को दिखलाने से भाणो के एकपात्रत्व के सिद्धांत का परित्याग नही हो जाता। इनका पालन तो समान रूप से ही होता है।

उपलब्ध भाण

सातवीं आठवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं-अठारहवीं शती तक सैकडो भाण लिखे गये। शूद्रक, ईश्वरदत्त, वररुचि, श्यामिलक, वामनभट्टबाण (अभिनवबाण) युवराज वर्मा आदि अनेक रूपककारों ने भाणों को एक सुन्दर साहित्यिक रूप दिया।

उपलब्ध और अनुपलब्ध भाणो की तालिका मे अंकित भाणों मे 'चतुर्भाणी' मे आकलित भाण, सबसे प्राचीन होने के कारण बडे महत्व के

---

१ – आत्मानुभूतशंसा परसंश्रयवर्णनाविशेष
त्रिविधाश्रय एकहार्य (एकनार्यांहार्य.)
'भाणइहैकाकिन्या नार्या हार्योऽङ्गहारिण्येति
यत्र परवचनमात्मवचनैः सान्तरैर्ग्रथित वाच्य च भवेत्।
सा न भरतकोष से उद्धृत

हैं। सन् १६२२ म श्री रामकृष्ण कवि और एम के रामनाथ शास्त्री ने वररुचि की रचना 'उभयाभिसारिका' राजा शूद्रक (जो एक रूपककार भी थे) के 'पद्मप्राभृतक' ईश्वरदत्त के 'धूर्तविटसवाद' तथा श्यामिलक के 'पादताडितक' इन चार भाणों को ढूंढकर, त्रिचुरी (मद्रास) से इनका सग्रह प्रकाशित करवाया। इसके अतिरिक्त शृंगारहाट अथवा चतुर्भाणी के नाम से श्री मोतीचन्द्र तथा वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी उक्त भाणों का सुन्दर एव उपादेय सकलन संस्कृत साहित्य के अनुरागियों के समक्ष प्रस्तुत किया। श्री टॉमस [1] जैसे पाश्चात्य विद्वान तथा संस्कृत के भारतीय आलोचकों[2] ने इन भाणों की प्रशसा करते हुए इनके रचयिताओं को कालिदास से भी उच्च स्तर के कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कालक्रम के अनुसार उपलब्ध भाणपुंज को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। १. चतुर्भाणी के भाण और २. उत्तरकालीन भाण। सर्व प्रथम हम चतुर्भाणी के भाणों की सक्षिप्त समीक्षा करेंगे।

चतुर्भाणी

वररुचि की 'उभयाभिसारिका' मे कुबेरदत्त द्वारा अपनी रूठी हुई प्रेमिका नारायणदत्ता को मनाने की कथा वर्णित है। नारायणदत्ता को प्रसन्न करने के लिये जाते समय मार्ग मे कई घटनाओं का सामना करने के उपरान्त कुबेरदत्त उसके घर पहुँचता है। वहा पहुँचने पर वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने के फलस्वरूप प्रेमिका की मनःस्थिति बदल जाती है और एक

---

१ – It will, I think, be admitted that these compositions inspite of the unedifying character of their general subject and even inspite of occassional vulgarities, have a real literary quality They display a natural humour and a polite, intensely Indian irony which need not fear comparison with that of *Ben Jonson or Moliere* The language is the varitable ambrosia of Sanskrit speech
(Centary Suplement of J R A S 1924 Page 135)

२ – वररुचिरीश्वरदत्त श्यामिलकशूद्रकाः।
एते भाणान् बभणु का शक्ति कालिदासस्य।

दूसरे को ढूंढते हुए वे दोनो कामातुर मिल जाते हैं । इसके लेखक का पूर्ण परिचय अज्ञात है ।

शूद्रक के 'पद्मप्राभृतक' में धूर्तों के प्रामाणिक आचार्य मूलदेव का देवदत्ता के साथ प्रेम चित्रित है। कर्णीपुत्र मूलदेव अपनी प्रिया देवदत्ता गणिका की बहिन देवसेना के प्रेम मे आसक्त होकर उसकी मनोदशा का पता लगाने के लिये विट को भेजता है। विट उज्जयिनी की गलियों म फिरता हुआ समदुखी पात्रों पर दयादृष्टि करता हुआ अपने कार्य को सफलतापूर्वक सिद्ध करके देवसेना के प्रेम का प्रतीक पद्म का फूल लेकर लौट आता है। इसलिए इस भाण का नाम रखा गया पद्मप्राभृतक । वर्ण्य विषय (वैशिक जीवन) तथा भाषा की समानता के आधार पर इसको मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक की रचना मान लिया गया है।

ईश्वरदत्त के धूर्तविटसंवाद को संक्षेप म वेश्या के कार्यों का वर्णन करनेवाली पुस्तिका कहा जा सकता है। यहाँ चतुर एवं अनुभवी विट वर्षा-ऋतु को विशेष कष्टकर जानकर सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने बाहर निकल पड़ता है । मनोरञ्जन के लिये किस व्यसन का आश्रय लिया जाय, इस प्रश्न पर भी विचार करता रहता है । द्यूतक्रीडा और मद्यपान उसकी सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है, कारण है उसकी निर्धनता का प्रमाण उसके तन पर बचा हुआ एक वस्त्र । अत वह वेसवीथिका की ओर ही चल देता है । अन्त में एक धूर्त विश्वालक के घर पहुँचकर उसकी कामशास्त्र विषयक कतिपय जटिल समस्याओं का समाधान करता हुआ दिन बिताता है । इसी से इसका नाम-करण हुआ धूर्तविटसम्वाद ।

श्यामिलक के भाण ग्रन्थ पादताडितक का विषय अधिक रुचिप्रद और अनुपम है । इसका विट अन्य विटों की सभा में जाता है जहाँ प्रायश्चित्त की एक समस्या पर विचारार्थ लोग एकत्र हुए हैं । राजकर्मचारी तौण्डिकि विष्णुनाग ने खेल मे अपने सिर जैसे पवित्र अङ्ग पर वारवधू को पादाघात करने दिया था । उसके इस अपमान के प्रक्षालन के लिए विटों की सभा मे भिन्न भिन्न प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं । यहाँ सुन्दर हास्य का प्रकरण छिड जाता है ।

यह भाण-चतुष्टय केवल विटवेश्यादि की प्रणयलीला के कामपरक-चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि इसके सम्प्रेषण से तत्कालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध विषयों के ज्ञान के साथ साथ उस युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति से भी हमारा परिचय होता है। ज्ञान के क्षेत्र में इसमें ख्यातिप्राप्त वैयाकरणों, कामशास्त्रविद् आचार्यों एवं साहित्यकारों की साहित्यिक कृतियों तथा कुछ एक स्मृतिकारों के नामों का पता चलता है। पद्मप्राभृतक में पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य दत्तकलश का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त एक प्रकरणग्रन्थ "कुमुद्वती" तथा एक प्राकृत-काव्य "कामदत्त" का भी इसमें संकेत है। इन दोनों ग्रन्थों के नाम और इनके रचयिताओं के नामाक्षर अज्ञानान्धकार में छिपे हुए हैं। 'धूर्तविटसम्वाद' में दत्तक जी शृङ्गार के आचार्य बतलाये गये हैं। बृहस्पति, उशना आदि स्मृतिकारों के नाम भी देखने को मिलते हैं। श्यामिलक के पादताडितक में एक कवि पारशव[1] का नाम मिलता है, जिसका उल्लेख गद्यकार बाण भी करते हैं। दक्षिण के एक कवि आर्यक[2] का नाम भी उल्लिखित है। बाण ने अपने मित्र श्यामल (सौमिलक)[3] का एक स्थान पर नाम लिया है। सम्भव है, ये श्यामिलक बाण के ही मित्र हों। क्षेमेन्द्र ने भी श्यामिलक[4] का श्लोक श्यामल के नाम से उद्धृत किया है। अतः सौमिलक या श्यामिलक अथवा श्यामल एक ही व्यक्ति के नाम रहे होंगे। इसके अतिरिक्त इन भाणों में और भी अनेक संकेत मिलते हैं, जो इनकी प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। चतुर्भाणी में संगृहीत पादताडितक[5] भाण में ईशानचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र भिषक् का उल्लेख आया है।

---

१ – पा ता – पृष्ठ १६१
　　ह च प्रथम उच्छ्वास पृष्ठ १६

२ – पादताडितक पृष्ठ २५४

३ – ह च तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ४०

४ – क्षेमेन्द्र – औचित्यविचार चर्चा पृष्ठ २३
　　पादताडितक, पृष्ठ १३१

५ – पा ता पृ १३८

लगभग ईसा पूर्व १५० में महाभाष्यकार ने उभयाभिसारिका के रचयिता वररुचि को महाभाष्य में प्रोक्तसाहित्य के प्रसंग में याद किया है यथा " वाररुच काव्यम् "। अभिनवगुप्त,[१] कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र आदि की कृतियों में (जो दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचनाएँ हैं) इन भाणों की ओर संकेत किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी के साहित्यशास्त्रवेत्ता हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में भी इन भाणों की ओर संकेत है। इनके आधार पर इनका काल निर्णय सुगम हो जाता है। कई स्थलों पर पद्म-प्राभृतक के 'कर्ता' ईश्वरदत्त तथा एक आभीर राजा शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन को एक ही व्यक्ति बतलाया गया है। हस्तलिखित पोथी के अन्तिम श्लोक से पादताडितक के लेखक श्यामिलक औदीच्य प्रतीत होते हैं। इनकी पुष्टि काश्मीर के साहित्य निर्माताओं की रचनाओं में प्राप्त उद्धरणों से हो जाती है।

पद्मप्राभृतक और पादताडितक के कुछ एक पात्रों की झलक बाणभट्ट की कृतियों में मिलती है। 'कादम्बरी' में विन्ध्याटवीवर्णन के प्रसंग में पद्मप्राभृतक में वर्णित कर्णीपुत्र[२] मूलदेव की कथा की छाया प्रतिबिम्बित है। यहीं शश,[३] विपुल आदि पदों में चतुर्भाणी के पात्रों का स्मरण हो आता है। विपुल और शश के नाम बृहत्कथा में भी आये हैं। कराव के कल्पद्रुम नामक शब्द-कोष में शश को मूलदेव का भाई तथा विपुल और अचल को उसके भृत्य के रूप में अंकित किया गया है। मूलदेव की कथा में उसकी प्रधान नायिका देवदत्ता और दूसरी देवदत्ता की बहिन देवसेना थी। मूलदेव कामशास्त्र का, विशेषतः वैशिकतंत्र का मुख्य पात्र समझा जाता था।

---

१ – पादताडितकादिभाणमध्यक इव–अभिनवगुप्त – ना. शा (टीका)
गा. ओ. सी. पृष्ठ १३६

२ – कर्णीसुतकथेव सन्निहित विपुलाचला, शशोपगता च – विन्ध्याटवीवर्णन
–पृष्ठ १६ तुलना कीजिये–
सखे मूलदेव !..... कर्णीपुत्रं विपुलमनुनेतुमभिपत । प. प्रा. पृष्ठ १४. और
भो –अये वयस्यो विपुलामात्य कामदत्ता प्राहुतकाव्य– प्रतिष्ठानमुपः।

३– शश, पृष्ठ ८ विपुल पृष्ठ १२ अस्ति...मूलदेवसखः शशोऽहम् प. प्रा. पृष्ठ १४
प. प्रा. पृष्ठ ८

क्षेमेन्द्र ने कलाविलास में उसका उल्लेख किया है। शुकसप्तति की कहानियों में भी वेशसम्बन्धी मामलों में पक्ष के रूप में उसका चित्रण आया है। पद्मप्राभृतक में धूर्ताचार्य मूलदेव का ऐसा ही चरित्रचित्रण किया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर उक्त भाणों को बाणभट्ट (जिनका समय ६ठी या ७वीं शताब्दी माना जाता है) से पूर्व की रचना मानने में किसी को आपत्ति न होगी।

उभयाभिसारिका के कालनिर्धारण में बाह्यसाक्ष्य का अभाव-सा अवश्य प्रतीत होता है। परन्तु इसमें भी कतिपय प्रबल अन्त साक्ष्य प्राप्य हैं जो इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। यहाँ वैशिकाचल नामक विट को मार्ग में जिस परिव्राजिका से साक्षात्कार होता है, वह बौद्ध श्रमणिका नहीं प्रतीत होती। वह सम्भवत वैशेषिकन्याय का समर्थन करने वाली कोई सन्यासिनी है। अन्यथा "भवेद्वैशेषिकत्वेन" का प्रयोग व्यर्थ होगा। इस प्रसग में उभयाभिसारिका में न्याय[1] और सांख्य विषयक[2] सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। कणाददर्शन के अनुसार (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय–ये छ पदार्थ होते हैं। उत्तरवर्ती दार्शनिक इनके स्थान पर सात पदार्थ मानने लगे थे। शिवादित्य के समय तक उक्त छ पदार्थों में अभाव नामक एक और पदार्थ जोड दिया गया था। इसके अतिरिक्त इसमें नृत्यकला[3] एव नृत्यांगों का प्राचीनतम वर्णन भी किया गया है। यहाँ चार प्रकार के अभिनय बत्तीस प्रकार के हस्त प्रचार, निरीक्षण के अट्ठारह भेद, छ स्थान दो तरह की गतियाँ, तीन गीत वादित्र आदि विभिन्न नृत्यांगों का परिगणन किया गया है। इनमें से चार अभिनय तथा आठ रस तो सभी मानते हैं। भरत ने छ स्थान भी बतलाये हैं परन्तु इनके नाट्य शास्त्र में इन

१– किं ब्रवीषि – "सांख्यसमाधिनाशे निर्गुण क्षेत्रज्ञ पुरुष इति। उभयाभिसारिका – पृष्ठ १३१–१३३

२– किं ब्रवीषि – "षट्पदार्थव्यतिरिक्तं सहसमापणमस्माकं गुणभि प्रतिषिद्धम्। उभयाभिसारिका, पृष्ठ १३१–१३३

३– उभयाभिसारिका, पृष्ठ १४३

प्रचार के ६४ (१३ सयुत्त २४ असयुत्त २७ नृत्तहस्त=६४), दृष्टि के ३६ तथा निरीक्षण के १८ भेद बतलाये गये हैं। इस उल्लेख से भी उभयाभिसारिका की प्राचीनता प्रमाणित होती है। यह रचना उस समय की होगी जब तक भरत की कृति को प्रामाणिकता नही प्राप्त हो पायी होगी।

श्री वरो चतुर्भाणी की रचनाओं का समय सप्रमाण ४१० और ४१५ ईस्वी के बीच निर्धारित करते हैं। डॉ टामस सातवी शताब्दी का मध्यवर्ती काल अथवा गुप्तयुग का उत्तरकाल मानते हैं। इन भाणो के पात्रो के माध्यम से बौद्धादिको पर जो आक्षेप किये गये हैं उनसे भी यही सूचित होता है कि चतुर्भाणी की रचना के समय भारत मे बौद्ध-ब्राह्मण विरोध की भावना तीव्र थी। उस समय तक उत्तरकालीन धार्मिक सम्प्रदाय इतने नही पनप पाये थे कि वे प्रहसनात्मक आलोचना के लक्ष्य बनाये जा सकते। यही कारण है कि उत्तरकालीन भाणों और प्रहसनो मे बौद्धो के स्थान पर, हास्य के आलम्बन असगत श्रोत्रिय, दुवत्त पौराणिक, शैव और ब्राह्मण हैं। इतिहास के पृष्ठ पलटने से ज्ञात होता है कि देश की ऐसी स्थिति मौर्य-सम्राट अशोक के बौद्धधर्मावलम्बी होने के बाद गुप्त-युग मे बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने के समय थी। अत वण्य-विषय के आधार पर भी ये भाण गुप्तयुगीन प्रतीत होते हैं। इन भाणों का मूल रचना-काल जो भी रहा हो, इनके आलोडन से विदित होता है कि इन्हे वतगान रूप भरत के नाट्यशास्त्र के बाद तथा दसवी शताब्दी के विख्यात नाट्य शास्त्र कोविद धनजय के पूव मिला होगा।

"पद्मप्राभृतक" म विट द्वारा प्रस्तुत वर्णन में प्रसगवश कात्यायनगोत्रीय शारद्वती-पुत्र सारस्वतभद्र नामक कवि, पीठमर्द दर्दरक, कातन्त्रिको से सदा झगडने वाले दन्तूराक के पुत्र दलकलशि, वृद्ध अभिनेता मृदगवमालक (जो वेश्या द्वारा अभिनीत भगवदज्जुक नामक नाटक मे विट का काम करता है) शाक्य भिक्षु सन्धिलक, वसन्तवतीतनया वनराजिका, पाचालदासी की पुत्री प्रियगुष्टिका, नागरिक नन्दिनी शोणदासी, वासवसज्जिका नायिका के रूप मे वर्णित माधसुन्दरी, गन्धवदत्त नामक नाट्याचार्य के शिष्य, एक अभिनेत्री के पुत्र दर्दुरक, देवसेना की दासी प्रियवादनिका, देवदत्ता की भगिनी देवसेना आदि स्त्री तथा पुरुष पात्रो से हमारी भेंट होती है।

कल्पित बतलाया है। परन्तु उपर्युल्लिखित चार भाणों के सुन्दर संकलन के अध्ययन से यह नहीं मालूम होता कि इनकी कथाएं कवियों की कोरी कल्पना पर आधारित हैं। शूद्रक के मृच्छकटिक, संघदास महत्तर के वसुदेवहिण्डी, बुद्धभट्ट के बृहत्कथा-संग्रह, बाणभट्ट के हर्षचरित तथा कादम्बरी एवं दण्डी की दशकुमार-चरित आदि प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में चित्रित संस्कृति और चतुर्भाणी में प्रतिबिम्बित देश की सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था बहुत कुछ मिलती जुलती है। उक्त भाणों में वर्णित देश की भौगोलिक स्थिति, नगर-व्यवस्था, वेशभूषा, धर्म, संगीत तथा लोक-जीवन-सम्बन्धी अगणित उल्लेख उपलब्ध हैं, जो गुप्तकालीन भारत का जीता जागता चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। इन भाणों पर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तथा वात्स्यायन के कामशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लेखकों ने ही उत्तरकालीन भाणों के रचयिताओं के सामने रचना का एक आदर्श रक्खा, जिसका उत्तरवर्ती रूपकों में उन्मुक्त अनुसरण किया गया है।

चतुर्भाणी का मुख्य उद्देश्य तत्कालीन विलासमय समाज पर व्यंग करना है। उसके विट भी समाज के अंग हैं। हंसते-हंसाते हुए वे कभी अशिष्ट भी बन जाते हैं, और इनकी अटपटी और चटपटी संवादशैली को पढ़ कर या सुन कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम आधुनिक बनारस के दलालों या भारत के लोभी पंडों के बीच में पहुँच गये हों। ये विट संस्कृत नाटकों के अन्य रूपगत विटों से सर्वथा भिन्न हैं।[1] अपनी पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल आचरण करने वाले सारे व्यक्ति (चाहे वह बौद्ध भिक्षु हो या राजा, बड़ा वैयाकरण हो या दर्शन-शास्त्र में सदा खोया रहने वाला मीमांसक) उनकी हंसी के पात्र हैं।[2] चतुर्भाणी के अध्ययन से यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि संस्कृत-साहित्य विद्वज्जनों तथा राजदरबारों की भाषा में रचित है।

१– कामानुचरः । धूर्तः । इति भरतः । कामतन्त्रकलावेदी । इति रसमञ्जरी ।

२– किं ब्रवीषि – "विहारदासकृति इति"

देवस्थानमहं प्रविष्टो मोहाद्भिक्षुर्दृष्ट्वा वर्जितः ।

न भाषते प्रमुखो दन्तहस्तैर्विनोदात् ।

पद्मप्राभृतक २४, पृष्ठ ३३

उत्तरकालीन भाणों में कवियों का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन अवश्य हो गया था। इस काल में विरचित साहित्य की अन्य विधाएँ भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। चतुर्भाणी में सरल बोलचाल की भाषा का प्रयोग है। यहाँ संस्कृत का प्रयोग दैनिक जीवन की घटनाओं के चित्रण तथा छिद्रान्वेषण के लिये हुआ है, पांडित्य प्रदर्शन के लिये नहीं।

श्यामिलक के पादताडितक के अनुसार उस युग के कवि [1] एक प्याला मद्य के बदले कविता सुनाते थे। वे श्रोतियों के घर जाकर भी मधुपान के बिना कविता-पाठ नहीं करते थे। काशी, कोसल, मर्ग, निषादनगर आदि स्थानों पर कवियों की यही दशा हो रही थी। यह उस युग के कवियों पर गहरा व्यंग है। इसके अतिरिक्त पद्मप्राभृतक में पुराने काव्यों में से पद लेकर उन्हीं से नये श्लोक रचने वाले काव्यवीर तुक्कड़ कवियों पर कटाक्ष किया गया है। इनकी तुलना फटे टुकड़ों को गाँठ कर जूते बनाने वाले मोची (छिद्रग्रथनचर्मकार) से की गयी है। पादताडितक में भी महाकवि वररुचि की काव्यप्रतिभा की अनुकृति करने वाले गुप्त और महेश्वरदत्त नामक दो मित्रों का संकेत है। संभवत, ये वररुचि की उभयाभिसारिका का ही अनुकरण करते होंगे। [2] प्रस्तुत भाण के इस अंश को पढ़ते समय हिन्दी के आधुनिक नौसिखिये कवियों के लिये प्राय उद्धृत की जाने वाली उक्ति "अब के कवि खद्योत-सम जहँ तहँ करें प्रकास" की याद आ जाती है। इसी प्रसंग में ऐसे कवि के हास्य रस [3] से ओतप्रोत एक श्लोक का उदाहरण उपस्थित करते हुए शूद्रक ने उसमें पीठमर्द के लक्षण घटा कर अपनी काव्य-कला का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

१– विक्रीणाति हि काव्य श्रोत्रिय भवनेषु मद्यचषकेण।
म: शिविकुले प्रसूनी मर्नुस्थाने जरायान॥
विक्रीणन्ति हि क्वया यद्येवम् काव्यम् मद्यचषकेण।
काशीषु च कोसलेषु च मर्गेषु च निषाद नगरेषु॥

पादताडितक १३३–१३४ पृष्ठ २५१

२– पादताडितक १४२, पृष्ठ २५५

३– पद्मप्राभृतक ११, पृष्ठ १२

वेश्याओं या स्वभाव से कोमल स्त्रियों के साथ वार्तालाप करने में व्याकरणसम्मत किन्तु श्रुति-कटु शब्दों का प्रयोग करने पर विट ने वैयाकरण[1] की खूब खिल्ली उडायी है। यहाँ वैयाकरण को सुकुमार स्त्रियों के अनुकूल भाषा बोलने में असमर्थ देख हँसी आये बिना नहीं रहती। हास्य-रस की सृष्टि के लिये कहीं-कहीं महाभारतादि का हवाला देकर उल्टे-पुल्टे श्लोक भी उद्‌धृत किये गये दृष्टिगोचर होते हैं। शृंगारहाट चतुर्भाणी के संग्रहकर्ता के अनुसार महाभारत के नाम से 'पादताडितक' में लिखा गया श्लोक महाभारत में नहीं मिलता।[2] वास्तव में यह श्लोक महाभारत का प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'मृच्छकटिक' का शकार और भास के 'अविमारक' का विदूषक रामायण से सम्बद्ध घटनाओं का विपरीत प्रयोग करके हास्योत्पत्ति करता है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रयोग इसी उद्देश्य से किया गया मालूम होता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि चतुर्भाणी सञ्ज्ञक चार भाणों की भाषा सदा ही सरल और निम्न कोटि की होती है या यहाँ हास्यार्णव में गोते लगाते समय केवल अनर्गल प्रलाप ही सुनने को मिलते हैं, वरन् इन भाण-प्रणेताओं के कवित्व की छटा भी यत्र-तत्र निखरी हुई मिलती है, जिन्हें पढ कर भास, कालिदास आदि संस्कृत-साहित्य के प्राचीन मान्य कवियों का स्मरण हो आता है। शूद्रकादि भाण-रचयिताओं की लेखन-शैली पर इन प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है - यथा "एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये कि नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते।" अग पश्यामि-(उभयाभिसारिका, पृष्ठ १६) इसकी पुनरावृत्ति पादताड़ितक में भी की गयी है "कोनुखलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते"। यही वाक्य भास के नाटकों की प्रस्तावना में इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है— तुलना कीजिये—

१- पद्मप्राभृतक, पृ० १७-१८
पद्मप्राभृतक, पृष्ठ २०

२- .. . .न त्वया महाभारते श्रुतपूर्वं
यस्यामित्रा न बहवो यस्मान्नोद्विजते जनः।
य समेत्य न निन्दन्ति स पार्थ पुरुषाधमः। इति। पादताडितक, पृष्ठ १८६

सूत्रधार — "एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये किनु खलु मयि विज्ञापन व्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अंग पश्यामि ।" (द्रुतघटोत्कच) - इसके अतिरिक्त कवि श्यामिलक का वासवदत्ता तथा उदयन की कथा मे परिचित होना भी इनकी कृति पर भास के प्रभाव को प्रमाणित करता है ।

"कान्ता हरति करेणु । वासवदत्तामिवोदयन ॥[1]

चतुर्भाणी की भाषा तो कही-कहीं महाकवि कालिदास से मिलती जुलती है ही उसमे उनके भावो की भी प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है ।

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत ।
कण्ठाश्लेष-प्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्त यथाचे—
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ [2]

तुलना कीजिये —

"भ्रान्तपवनेषु सम्प्रति सुखिनोऽपि कदम्बवासितवनेषु ।
औत्सुक्य वहति मनो जलधर-मलिनेषु दिवसेषु ॥ [3]
"आपूर्याभिनवाम्बुजद्युतिहरे नेत्रे प्रयातोऽधर
तद्भ्रष्ट कठिनांगत स्तनतटो तत्राप्यलब्धास्पद ।
वाम्नस्ते तनुरोमराजिलुलित शोकप्रसंगोज्झित
नाभिं पूरयति प्रियांगुलिमुख-प्रक्षेपलीलोचिताम् ॥ [4]

'धूर्तविटसंवाद' के इस श्लोक की कुमारसंभव के पंचमसर्ग मे स्थित चौबीसवें श्लोक से तुलना करके देखिये —

१- पद्मप्राभृतक ११७, पृ० २४०
२- पूर्वमेघ ४-५.
३- धूर्तविटसम्वाद ६, पृ० ६७
४- धूर्तविटसम्वाद २३ पृ० ८२

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

बिहारी की ये पंक्तियां भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती हैं।

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुआ परि छतियाँ छिनक छनछनाइ छपि जात ॥

कालिदास के गद्य-पद्य की छाया भाणों में वर्णित—

„दक्षिणा वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते।"—अभिज्ञान शाकुन्तल

"अये मधुमिरानी दक्षिणेन वृक्षवाटिका भूमण्डलदात् मन्जान्त - विहग सकुल शब्द इव श्रूयते।"[1]

चारो भाणों की प्रस्तावना में ऋतु-वर्णन के प्रसंग में इन की काव्य शोभा देखते ही बनती है। उभयाभिसारिका तथा पद्मप्राभृतक में वसन्त ऋतु एवं धूर्तविटसंवाद में वर्षा का चित्रण किया गया है। शूद्रक ने अपने भाण में सूत्रधार के मुख से ऋतुराज वसन्त का शृंगार रस के अनुकूल सौन्दर्य-वर्णन करवाया है। इस ऋतु में प्रकृति एवं मानव की मादकता बड़ी भली लगती है। इन कवियों ने कहीं अनुभाव और कहीं उपमालंकार द्वारा प्रकृति की उन्मत्तता का मनोहारी चित्र खींचा है, जिसकी ऋतुसंहार में चित्रित वासन्तिक सुषमा से समानता है—

मत्तभ्रमरमधुरस्त उचित्सुभार मकुन्दमहकार ।
समदमदनः सपवनः सयौवन-जनप्रियः कालः ॥[2]

तुलना कीजिये—

आकम्पयन् कुसुमिता सहकारशाखा विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥[3]

१- पद्मप्राभृतक – पृ० ४१
२- पद्मप्राभृतक – पृ० ५
३- ऋतुसंहार षष्ठ सर्ग २२

उभयाभिसारिका में वसन्त के आरम्भ में कुम्हलाए हुए लोध्र वृक्ष की तुलना मित्र की प्रणय-लीलाओं को देख कर घबराये हुए दीन विट से की गयी है। कोकिला के रव से गुंजित तथा आम्र, अशोक, मूला, मधुर-मधु एवं चन्द्रमा से युक्त मधुमास की शोभा कामदेव के मन को भी विचलित करने में समर्थ है—

> वसन्तप्रमुखे काले लोध्रवृक्षो गतप्रभः।
> मित्रकार्येण सम्भ्रान्तो दीनो विट इव स्थितः॥[1]
> परभृतचूताशोका डोलावारवारुणी शशाङ्कश्च।
> मधुगुणविगुणितशोभा मदनमपि सविभ्रमं कुर्युः॥[2]

सर्वत्र शृंगार का प्रकरण छिड़ जाता है। प्रकृति का शृंगारमय चित्रण पश्चाद्वर्ती लेखकों के भाणों में भी उपलब्ध होता है जो दर्शकों को आनन्द-विभोर कर देता है।

> "मालयाचलवातपोतविचलद्वासन्तिकावल्लरी—
> व्यालीनोल्लसमानभृंगपटली व्याहारजवाचालितः।[3]

और भी—

> "सामोदा विदधत स एव हि विटोत्तंसायते माधवः॥"[4]

हम ऊपर कह आये हैं कि भाण-साहित्य का शास्त्रीय स्रोत वात्स्यायन का कामशास्त्र ही है। कामसूत्र में निर्दिष्ट नागरिक के रहन-सहन, उनकी दैनन्दिनचर्या तथा वेश्याओं के हाव-भाव हेला, मानभंग, शृंगारलीला, खेलकूद, संगीत और नृत्य में कुशलता, कलाप्रेमी के प्रति चुम्बनादि द्वारा प्रेम

१— उभयाभिसारिका पृ० २
२— उभयाभिसारिका, पृ० ३
३— शृङ्गारसुधाकर भाण, पृ० ४
४— शृङ्गार सुधाकर भाण पृ० ५

प्रदर्शन, कुट्टनियों का दरिद्र प्रेमियों को कला सिखलाना, मद्यपान, गोष्ठीप्रेम कभी-कभी प्रेमी के विरह मे व्याकुलता, दूत अथवा दूती द्वारा प्रेमपुजारी को सदेश भिजवाना इत्यादि का पद्मप्राभृतकादि चार भाणों मे सुन्दर वर्णन है।[1] इन भाणों मे मध्युगीन भारत के सगीत साहित्य एव नृत्यकला आदि से समवेत नागरिक जीवन का चित्रण देखकर मेघदूत के यक्ष के भवन-वर्णन तथा मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसन्त सेना के सदन के चित्रण की याद आ जाती है।

पद्मप्राभृतकादि भाणों मे हमे ६४ कलाओं मे निपुण वेश्याओं के जीवन का सागोपाग विश्लेषण मिलता है।[2] कला सीखने के लिये उनकी आचार्यों के पास जाने की बात भाण-साहित्य के अवलोकन से पुष्ट होती है।[3] वेश्याएँ केवल अश्लील रति-लीला द्वारा ही अपना और दूसरो का चित्तानुरजन नहीं करती थी, कामसूत्र के बालोपक्रम प्रकरण मे वेशकन्यकाओं के अनेक खेलों की सूची प्राप्त होती है जिनसे उनके मनोरजन के विविध साधनो से पाठकों का परिचय होता है।[4] वार-कन्यायें कन्दुकक्रीडा (गेंद खेलना), पुष्पावचय (फूल चुनना), ग्रथन (माला गूंथना), गृहक (घरौंदे बनाना), दुहितृकाक्रीडायोजन (गुड्डे-गुड्डी का खेल), भक्तपाककरण (भात पकाना), आकर्ष क्रीडा (पांसे फेंकना) पट्टिका-क्रीडा (उंगलियां फंसा कर चक्कर लगाना), एव मुष्टिद्यूत (किसी शर्त के साथ मुट्ठी बांध कर साथ खेलने वाली स मुट्ठी मे क्या है ? आदि

१- कामसूत्र -१ -४, ३-४.
१-४, ६- २६.

२- ६४ कलाओं की तालिका के लिए देखिये कामसूत्र - १, ३-१५ पृ ८३-८४.

३- अ किन्न ते भगिनी यथोचित्तमाचार्यगृहम् नृत्यवारेण यास्यति ।
पद्मप्राभृतक पृ० ५८.

४- तया सह पुष्पावचय ग्रथन गृहक दुहितृकाक्रीडायोजन
भक्तपाककरणमिति कुर्वीत ।
आकर्षक्रीडा पट्टिकाक्रीडा मुष्टिद्यूतक्षुल्लकादिद्यूतानि
मध्यमाङ्गुलिग्रहण षट्पाषाणकादीनि च देश्यानि
कामसूत्र ३ ३ -६८

प्रश्न करते हुए मनोरंजन करना) इन नानाविध क्रीडाओं से अपना मन बहलाती थीं। यद्यपि इनकी क्रीडाओं की उक्त सूची सामान्य-सी प्रतीत होती है, उनके लक्षण भी लोकज्ञात हैं तथापि वारकन्यकाओं के इन क्रियाकलापों में प्रेक्षकों को नूतनता दिखाई देती है। परिणामस्वरूप उनके ये खेल रास्ते से जाने वाले लोगों का मन मोह लेते थे। इसका प्रमाण है, भाणों के नायक विट द्वारा किया गया इनका आकर्षक वर्णन। जैसे—पादताडितक में पिच्छोला[1] कन्दुक क्रीडा एवं गुड्डा-गुड़िया के खेलों का उल्लेख है। पिच्छोला मुंह से बजाने का एक वाद्य विशेष होता है। रामकृष्ण कवि की चतुर्भाणी में पिच्छोला, पिचोला एवं पिञ्जोला ये तीन रूप मिलते हैं। अभिधान-कोषों में बांसुरी से मिलते-जुलते बाजे के अर्थ में पिच्छोरा शब्द भी मिलता है। पद्मप्राभृतक में कन्दुकक्रीडा करती हुई प्रियंगुयष्टिका का सजीव एवं गतिमय वर्णन बाण, दण्डी आदि प्राचीन कवियों की याद दिलाता है यथा—

> प्रवाल लोलांगुलिना करेण मन्दं शिलं कन्दुकमुद्वदन्ती।
> स्वपल्लवाग्राभिहितैकपुष्पा नतोन्नतानीव लतेव भाति ॥[2]

इन प्राचीन भाणों के बाद के रूपककारों ने भी कन्दुकक्रीडा का चित्ताकर्षक चित्रण किया है।

> 'आलोलालकजालकं कलरणत्काञ्ची क्वणत्कङ्कणं,
> मञ्जीरारवमञ्जुलाङ्घ्रियुगलं प्रेङ्खोलमुक्तालतम्।
> घर्माम्भः कणिकाविकासि वदनं निःश्वासनृत्यत्कुचं,
> वेयं क्रीडति कन्दुकेन शफरप्रस्पर्धिमुग्धेक्षणा ॥[3]

शृंगारभूषण भाण में भी गेंद खेलती हुई वेशकन्यका के अंग-प्रत्यगों

१– . निवृत्तकन्दुकपिच्छोलाहतकपुत्तकदुहितृकाक्रीडकानि वेशरथ्याया-
प्रतिभवनच्छायासु वेशकन्यकावृन्दकान्यवलोकयन्ति। पादताडितक पृ. २१०

२– पद्मप्राभृतक पृ० ३०

३– शृङ्गार सुधाकर, ७३

की शोभा का चित्तग्राह्य चित्रण इस प्रकार किया गया है—

"दाश्वन्ति स्वसितानिलव्यतिकर-व्याधूतबिम्बाधर
खेदाम्भ-कणमञ्जरी विलुलित-व्याकीर्णचूडालकम् ।
उत्कम्प्रस्तनलोलहारलतिक क्लान्तावलग्न वपु
कुर्वन्कन्दुक एष कान्तइव ने धत्ते परा निर्वृतिम् ।।[1]

गेंद खेलने के कारण थकी हुई क्रीडा का यह वर्णन वृक्षों को सींचने के कारण थकी हुई शकुंतला का स्मरण कराता है।

प्राचीन भाण-चतुष्टय मे उपलब्ध नगरो का सुन्दर वर्णन भी कालिदास की याद दिलाता है। पद्मप्राभृतक और पादताडितक का कार्यस्थल उज्जयिनी है तथा धूतविटसंवाद एवं उभयाभिसारिका का पाटलिपुत्र (कुसुमपुर, पटना)। इस प्रकार इन भाणो मे उज्जयिनी तथा पटना (पाटलिपुत्र) नगर का विस्तृत और चित्ताकर्षक वर्णन प्राप्त होता है। तत्कालीन नगर-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक दृष्टि से यह वर्णन ध्यान देने योग्य है।

'स्थान खलु कुसुमपुरस्यानन्यनगरसदृशी नगरमित्यविशेषग्राहिणी पृथिव्या स्थिता कीर्ति । बहूनि खल्वस्य पुरस्य गृहाण्युच्छ्रायवन्ति । पण्यसमुदायाज्जनबाहुल्याच्च ताम्नान् समृद्धिविशेषान् दृष्ट्वा विस्मयते जन । सन्ति ह्यन्यान्यपि समृद्धिमन्तिपुराणि । ये त्वस्य निःसाधारणा गुणास्तान् वक्ष्याम ।

तथाहि-दातारः सुलभा. कलाबहुमना दाक्षिण्यभोग्याः स्त्रियो,
नोन्मत्ता धनिनो न मत्सरयुता विद्याविहीना नराः ।
सर्वे. शिष्टकथ परस्परगुणग्राही कृतज्ञो जनः,
शक्य मो नगरे सुरैरपि दिव सन्त्यज्य लब्धुं सुखम् ।।[2]

१— शृङ्गारभूषण पृ० ३८
२— धूर्तविटसम्वाद

कालिदास की इन पंक्तियों में यही भाव अंकित है—

"स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥[1]

वररुचि की लेखनी से प्रसूत कुसुमपुर के राजमार्ग की अपूर्व शोभा का वर्णन बड़ा ही रोचक एवं हृदयग्राही है जिसे पढ़ कर प्राचीन भारत के पुष्पपुर (पटना) के ऐश्वर्यशाली होने की सूचना मिलती है।[2] इन भाणों में उपलब्ध प्राचीन काल के ख्यातिप्राप्त पाटलिपुत्र का वर्णन भारतीय इतिहास में मेगास्थनीज द्वारा वर्णित पटना के विवरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इनका तुलनात्मक अध्ययन इसकी ऐतिहासिक महत्ता को समझने में सहायक होगा। मेगास्थनीज के अनुसार महाभाष्यकार द्वारा बारम्बार उल्लिखित पाटलिपुत्र नगर ६० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी परिखाओं द्वारा सुरक्षित था। परिखा की लम्बाई ८० स्टेडियम या १६१७० गज और चौड़ाई १५ स्टेडियम या ३०३० गज थी। मोटाई में ई से २४ फीट भीतर हट कर एक प्राकार था, जिसमें ५७० गुम्बज तथा ६४ दरवाजे थे, नगर में ५ द्वार थे, जिनसे प्रसिद्ध मौर्य सम्राट अशोक को ८ लाख कार्षापण की दैनिक आय थी, फाह्यान के समय में भी यह भारत का अद्वितीय नगर था। उक्त भाणों में वर्णित पुष्पपुर के दर्शन मात्र से चन्द्रगुप्त अशोक आदि मौर्य सम्राटों तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकालीन भारत की जनसंकुल और शानदार राजधानी का स्मरण हो आता है।

भाण-साहित्य में इस प्रकार के नगर-वर्णन के परिशीलन से ज्ञात होता है कि बाणभट्ट के पूर्वकालीन साहित्य में नगरों का वर्णन रूढ़ सा हो गया था। सन्ध्यासमय राजमार्ग पर मंडराते हुए 'मनुष्यकान्तार' (मनुष्यों का वन) का चित्र देखते ही बनता है।[3] इन श्लोकों को पढ़ते समय आधुनिक दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े जनसंकुल शहरों का सजीव

१- पूर्वमेघ ३०

२- उभयाभिसारिका – ६

३- पद्मप्राभृतक

चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। वेश्याओं के साथ विटों और राजाओं की वन यात्रा, देवालयों में वेश्याओं के नृत्य गान आदि का आयोजन गुप्तकालीन संस्कृति का प्रमुख अंग रहा है। राजपथ पर घूमते हुए विटों, वेश्याओं तथा राजकुमारों के चित्र मृच्छकटिक में भी उपलब्ध हैं।[1]

प्रस्तुत भाणों में चित्रित वेशोपनिवेश के चित्र का मृच्छकटिक के वेश-चित्रण से पर्याप्त साम्य है। इन रूपकों में वेश्याओं के आवास का विस्तृत चित्र उपस्थित किया गया है। "एषोऽस्मि वेशमवतीर्णः। अहो न. वेशस्य परा श्रीः। इहहि वारमुख्यानाम्...[2]"

तुलना कीजिए —

" विदूषक :- (प्रविश्यावलोक्य च) ही, ही, भो.। इधोवि पढमे पओट्ठे ससिसङ्खमुणालसच्छाहाओ, विणिहिदचुण्णमुट्ठिपाण्डुराओ

उत्तरकालीन भाण

चतुर्भाणी के भाणों के अतिरिक्त कर्पूरचरित और मुकुन्दानन्द भाण को छोड़कर जितने भी उत्तरयुगीन भाण रचे गये वे सब दक्षिण भारत के हैं। अनुमानतः दक्षिण भारत का मुगल आक्रमणों से मुक्त रहना ही इसका कारण रहा होगा। शान्त वातावरण में ही ऐसे शृंगारमय रूपकों के दर्शन में वास्तविक आनन्दानुभूति हो सकती है। अथवा यों कहिये कि भोगविलास में मग्न होने के कारण राजसी जीवन उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक पतनोन्मुख हो रहा था, जिससे फलस्वरूप यहाँ के कवियों को व्यंग तथा हास्य की सामग्री अधिक मात्रा में प्राप्त हो सकी।

जितने भी भाणों के नाम ऊपर गिनाये गये हैं उनमें से पादताडित-कादि चार भाणों को छोड़कर शेष कृतियों में से कोई भी तेरहवीं शताब्दी

१- मृच्छकटिक, प्रथम अंक – पृ २४
२- पादताडितक

में पूर्व की प्रतीति नहीं होती । उन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि भाण रचना का सर्वाधिक उन्नत काल १६ वीं तथा १७ वीं या १८ वीं शताब्दी के बीच का था । इनमें विषय वस्तु की पुनरावृत्ति एवं रचनारीति में समानता इतनी अधिक है कि स्थालीपुलाक न्याय के अनुसार किसी एक के विश्लेषण से ही अवशिष्ट रचनाओं का सहज अनुमान किया जा सकता है । इनके सम्यक् आलोडन से विदित होगा कि भाण के विकास-क्रम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता । भरताचार्य से लेकर विश्वनाथ तक प्रायः सब विचारकों की भाणविषयक विचार-पद्धति एक ही है । इसके लक्षणों में कहीं कुछ हेर फेर किया भी गया है तो उसमें विशेष ध्यान देने योग्य कोई बात दिखाई नहीं देती । यह बात भाण के लक्षण पर ही लागू नहीं होती, अन्य प्रकार की रचनाओं के अवलोकन से भी यही सिद्ध होता है कि इनकी आकृति एवं आत्मा के चित्रण में कोई अन्तर नहीं है । उक्त भाणावलि के दर्शन मात्र से विदित होता है कि हमारे यहाँ अगणित भाण रचे गये, परन्तु सभी सब प्रकाशित नहीं हो सके हैं । फिर भी जितने जो हैं, उनसे भाण-साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

प्रायः समस्त उत्तरकालीन भाण एक से ही हैं । इनके विटों के नामों में भी कोई नवीनता नहीं दिखाई देती । विलासशेखर, सम्भोगशेखर, मदन-शेखर, सरसशेखर, अनंगशेखर, भुजंगशेखर, शृंगारशेखर, शृंगारसार या इससे मिलता जुलता और कोई नाम रख दिया जाता है चाहे वह १२वीं सदी की रचना हो या १७वीं या १८वीं सदी की । इन भाणों की एक विलक्षणता यह भी है कि प्रस्तावना में सूत्रधार या पारिपार्श्वक[1] अथवा नटी[2], कोई दो पात्र रंगमंच पर उपस्थित होकर सम्भाषण करते हैं जबकि नियमानुसार भाण में आदि से अन्त तक एक ही पात्र को उपस्थित

१- सूत्रधार- मैत्री मैन मनासदा ... चन्द्रमा । मारिष, इतस्तावत् ।
पारिपार्श्वक -(प्रविश्य)-भाव, अयमस्मि । शृङ्गारभूषणभाण पृ १ ।

२- (नान्द्यन्ते प्रविशति सूत्रधार)
सूत्रधार -श्रीमूलस्थानमाह प्रिये, इतस्तावत् ।
नटी (प्रविश्य) - एषा म्हि । अहिणव करणिज्जे आणवेदु अज्जो ।
रसमदन भाण, पृ ४

रहना चाहिये। इसके विपरीत चतुर्भाणी के एक पात्री रूपकों की प्रस्तावना सक्षिप्त होती है। सूत्रधार अकेला ही रगमच पर आकर भाषण करता है। पादताडितक को छोडकर अन्य किसी भाण मे लेखक का नाम और उसका अभिनयकाल उद्घोषित नही किया गया है।[1] इन्ही कतिपय विशेषताओं के कारण प्राचीन भाण उत्तरयुगीन भाणो से सर्वथा पृथक प्रतीत होते है। पश्चाद्वर्ती रूपककारो मे वत्सराज का कर्पूरचरित भाण ही एक ऐसी रचना है, जिसकी समता चतुर्भाणी से की जा सकती है। यहाँ भी प्रस्तावना में सूत्रधार मच पर आकर आकाशभाषित का प्रयोग करता है। इसकी कथा-वस्तु मे भी मौलिकता है। इसका नायक कर्पूर नामक द्यूतकर है। वह वेश-वाट पर ही नही फिरता, सीधा रगमच पर आकर किसी कल्पित मित्र के समक्ष अपने साहसपूर्ण कार्यों तथा अन्य अनुभवो का विवरण प्रस्तुत करता है। इसका नाम कर्पूरचरित रखने का कारण भी सभवत यही रहा होगा। वार्तालाप मे प्राकृत प्रयोग की स्वच्छन्दता भी इस भाण की विलक्षणता है। नीलकठ के यात्रा महोत्सव म यह भाण परमाल की आज्ञा से खेला गया था। इसमे सन्देह नही कि इसमे द्यूत मद्यपान और प्रेम ही मुख्य वर्ण्य विषय हैं। किन्तु इस वर्णन को रोचकता प्रदान करने के लिये प्रहसनात्मक तत्त्वों को भी प्रस्तुत रचना म यथेष्ट स्थान दिया गया है।

कर्पूरचरित मे काव्य की मनोज्ञता

उमा एव महेश का जुआ और चौपड खेल भारतीय पौराणिक भक्तों को बहुत प्रिय रहा है। इन क्रीडाओ मे रत भवानीशकर की स्तुति को ही कवि ने भी प्रस्तुत भाण के नान्दी श्लोको के लिये उपयुक्त समझा है —

दास्येऽह परिरम्भणानि कितव ! द्यूते जितानि त्वया,
मिथुयौत्सुक्यमिद यत शतमहोरात्रास्तदीयावधि ।
इत्युक्त शिवया निशादिवसकृज्ज्योतिर्मयाक्षि द्वय-
द्रागुन्मेष निमेष कोटिघटनव्यग्रो हर पातु व ॥[2]

१- कोनु खलु मयि विनापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। (कर्णं दत्वा) हन्त। विज्ञातम्। एष हि स विट-मण्डप। (प्रविश्य) द्यूतचाक्रिक सलनिश्यामिलको घण्टामात्य धायसरि-पादताडितक —पृ १५१

२- कर्पूरचरित

इसके अतिरिक्त चौपड़ के खेल में मग्न पार्वती की गोटियों की झूठी गणना करने के बहाने अपनी गोटी को छल से पार कराकर ठगने वाले महादेव की क्रीडाओं का स्वाभाविक चित्रण भी इन पंक्तियों में किया गया है

> संरम्भं पाशकनिवाय निभृत चातुरधुर्या सखी,
> सारि सारयता मृषा गणयता स्थानान्यनिक्रामता ।
> कण्ठाश्लेषपरो दुरोदरविधौ चन्द्रार्धचूडामणे-
> देवी वञ्चयतो जयन्ति गहनच्छद्मक्रमाः केलयः ॥[1]

इसके पीछे यही रहस्य छिपा होना चाहिए कि जब भगवान शंकर जैसे योगी पुरुष और पार्वती जैसी तापसी नारियाँ सदा सर्वदा शृंगार में लीन हो सकती हैं तब इहलोक के रहस्य मानव अपने धर्म-कर्म का त्याग कर बैठें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? दूर जाने की आवश्यकता नहीं, स्वयं महाकवि वत्सराज के शरणदाता परमर्दिदेव भी इतिहासगत सूचना के अनुसार विलासी रहे हैं। संभव है, कवि ने राजा का मनोरंजन करने के उद्देश्य से ही ये भाण और प्रहसन रचे हों।

नान्दीपद के शृंगार-प्रकरण के अतिरिक्त उषाकालीन प्रकृति के चित्रण में भी वत्सराज की कविता की गरिमा एवं मधुरिमा प्रस्फुटित होती है। इन स्थलों को देखने से कवि की प्रकरणानुकूल पदरचनापद्धति का परिचय प्राप्त होता है।[2]

सम्पूर्ण रात्रि भर स्मर-संग्राम में व्यस्त रहकर उषाकाल में राज भवन से निकलकर जाने वाली वेश्याओं के चलते हुए नूपुरों से निद्रा भंग हो जाने पर भी प्रातःकाल में दम्पति शय्या त्याग में आलस्य करते हैं। फलतः उनके शृंगार-व्यापार से कामदेव को प्रभात में भी सोने का अवसर नहीं मिल रहा है। इस की नूतनता भी देखते ही बनती है।

१- कर्पूरचरित, २

२- कर्पूरचरित, ३०

मन्दप्रनिभ परिनायत चन्द्र की शोभा को भेदकर एवं रात्रि-रूपी कुट्टिनी को दूर हटा कर धूत रवि उपास्थिणी गणिका के समीप जा रहा है।[1]

द्यूतक्रीड़ा तथा मधुपानादि में लगे रहने के कारण होने वाली हास्यास्पद दुर्दशा प्रस्तुत भाण के नायक द्वारा दर्शकों के समक्ष उपस्थित की गई है।

दयितचुम्बनादिटजीरा पटैः दिन
मान्यार्पित-द्विगुण-बाहयुगोत्तरीय ।
कोशोन्मुक्त-कठिनीयव-नागर-श्री ?
धूतप्रभार - तनसुमति प्रसादी ॥[2]

शेष कृतियों में मदन एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। दो पात्रों के बीच संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई प्रस्तावना के उपरान्त विरहातुर विट प्रविष्ट होता है। वह उषाकाल का शृंगाररंजित वर्णन कर सवेरे ही सवेरे जाने का प्रयोजन बतलाता है।[3] अपनी प्रेयसी (जो कोई वेश्या होती है) से बिछुड़ जाने के कारण उसकी मनोदशा दयनीय होती है। विरहावस्था के दुःखद क्षणों में कल्पना मनोरंजन करने के साथ साथ कभी कभी उसके आने का हेतु किसी मित्र से मिलना या मित्र की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी की रक्षा करने की प्रतिज्ञा को पूरा करना भी होता है। इसमें स्वैरिणी विवाहिता नारियों के पर-पुरुष गमन का उल्लेख भी आता है।[4] मुकुन्दानन्द भाण में ऐसी स्त्रियों पर छींटे कसे गए हैं। वेशवीथियों का चक्कर लगाता हुआ राह में मिलने वाले मित्रों तथा भिन्न भिन्न वेश्याओं से मिल कर काल्पनिक वार्तालाप करता हुआ उनके प्रत्युत्तरों को दोहराता जाता है। विट के आकाशभाषण में तरह तरह की क्रीडाओं और मनोविनोदों का उल्लेख भी होता है।[5] वह वेश्याओं अथवा उनके प्रेमियों के खेल में

१- कर्पूरचरित ४ पृ. २४.
२- कर्पूरचरित, २२
३- अनगजीवन भाण ३-४
४- मुकुन्दानन्द भाण, ४७
५- शृङ्गारभूषण भाण ७१, पृ. १७

विट वैशिकी कला के पूरे अनुभवी पण्डित होते हैं। चारुदत्त तथा मृच्छकटिक का शकार अन्य किसी बृहन्नाटक में हम विट को नहीं देखते।

डा. टामस के अनुसार चतुर्भाणी में मुसलमान का उल्लेख नहीं आया है। इसके अतिरिक्त पदरचनापद्धति की भिन्नता से भी चतुर्भाणी की प्राचीनता स्पष्ट होती है। [illegible] संस्कृत भाणों के [illegible] भाणों में कवियों ने [illegible] से युक्त [illegible] व्याकरण [illegible] भाषा का प्रयोग किया गया है। अतः डा. टामस के [illegible] में इसको संस्कृत-वचनामृत ठीक ही कहा गया है।

चतुर्भाणी एवं उत्तरकालीन भाणों के [illegible] आलोचनात्मक सर्वेक्षण के बाद एकांकी साहित्य का [illegible] अध्ययन करते समय उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध भाणों के [illegible] तथा [illegible] इतिवृत्ति का परिचय देना समीचीन होगा।

वत्सराज

पश्चाद्वर्ती एकांकीय रूपक में वत्सराज का कर्पूरचरित भाण प्राचीनतम प्रतीत होता है। इसके कवि कालंजर [illegible] परमर्दिदेव के मंत्री थे। [illegible] वत्सराज ही [illegible] नाट्यकार हुए हैं जिन्होंने रूपक के विविध प्रचलित एवं अप्रचलित प्रकारों का प्रणयन किया है। यथा— (१) किरातार्जुनीय व्यायोग (२) कर्पूरचरित भाण जिसकी कथा का संकेत ऊपर दिया जा चुका है (३) हास्य चूड़ामणि प्रहसन (४) रुक्मिणीहरण चार अंकों का ईहामृग (५) त्रिपुरदाह डिम और (६) समुद्रमथन। इन रूपकों ने काव्य के अंग को सुंदर रूप दे दिया है। दीर्घ समास तथा दुरूह-वाक्यविन्यासरहित होने के कारण वत्सराज की शैली में माधुर्य और लालित्य के दर्शन होते हैं। उनके नाटक छोटे होने पर भी नाटकीय क्रियाशीलता रोचकता और घटनाओं की सम्यक् गुम्फता आदि गुणों से रहित नहीं हैं।

काशीपति और मुकुन्दानन्द

इसके उपरान्त मैसूर राज्य के [illegible] के [illegible] कविराज काशीपति ने मुकुन्दानन्द भाण रचा। इसके अतिरिक्त अपने [illegible] आश्रयदाता की कृति

संगीत गगाधर के टीकाकार के रूप मे भी इन्हे ख्याति प्राप्त हुई । इनके देशकाल का निश्चित पता नहीं चलता । अनुमानत यह द्रविड प्रतीत होते है । इस भाण का रचना-काल भी सदिग्ध है । कोई इसे १३वीं शताब्दी की रचना मानते है और दूसरे १८वीं शती के प्रारम्भिक भाग की । इसकी प्रस्तावना मे इसे मिश्र भाण कहा गया है साथ ही यह भी बतलाया गया है कि साहित्य जगत मे अब इसका विशेष प्रचार नहीं रहा ।[1] इसके अपवाद-स्वरूप यद्यपि पञ्चबाण विलास, पञ्चायुध प्रपञ्च, प्रद्युम्नानन्द रस विलास एव रसिक रजन, जैसे कुछ एक मिश्र भाणो के नाम मिलते है और हस्त-लिखित पोथियो की वर्णनात्मक पुष्पिकाओ मे इनके सोपक्रोनेख से ऐसे भाणो के अस्तित्व पर प्रकाश पडता है तथापि उनके लेखको का परिचय अज्ञात होने के कारण उपलब्ध मिश्र भाण का यही एक स्थान माना जाता है। इसमें मुकुन्द उपनाम धारी विट भुजगशेखर की मजरी के साथ घटित प्रणयलीलाओ का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसके प्रणय व्यापार सश्लिष्ट चित्रो द्वारा अकित है तथा श्रीकृष्ण और गोपियो की रासलीलाओ की ओर सकेत करते हैं "सूत्रधार — (श्रुत्वा नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) - अय किल मन्जरी - विधुतस्य मन्दारोद्यानगतस्य भुजङ्गशेखरस्य भगवतो मुकुन्दस्य भूमिकामादाय इत एवाभिवर्तते मालुषशुषो मधुरम् ।" यही कारण है कि अन्य उत्तरयुगीन भाणो मे यह भिन्न है। अन्य परवर्ती साहित्यमार्ग की तरह प्रस्तुत भाण के प्रणेता का लक्ष्य भी पाण्डित्य-प्रदर्शन प्रतीत होता है । इसकी प्रस्तावना मे नटी के शब्दो मे प्रकट होता है कि "मुकुन्दानन्द" की भाषा कठिन है।

नटी अज्ज, अच्चरिअ, अच्चरिअ तक्के वक्कोत्तिणिट्ठरा तम्नमारई।
जादा महुरसदध्ये कव्वम्भि मिउला वहम् ।।[2]

इसमें चित्त को आनन्द देने मे समर्थ सभोग एव विप्रलम्भ शृङ्गार का भी आभास प्राप्त होता है। कामज्वर से पीडित रोगियो को धीरज बँधाना

१- मुकुन्दानन्द भाण पृ० २
२- मुकुन्दानन्द, ५

सरल नहीं है। इस प्रकार के स्थान में चतुर्भाणी के लेखकों-जैसी सफलता न मिल पाने पर भी मुकुन्दानन्द की इन पंक्तियों से कवि का वाग्वैदग्ध्य प्रकट है।

हा हन्त किन्तु मदनो मम तावदेव
मर्माणि कृन्तति कृतान्त इवाततायी ।"
वय वयस्य – मारवसयामि—
शाक त्यजेति पुरुष निमित सुचेति—
सामदामयति सुहृद सुहृदो न विद्म ॥[१]

तुलना कीजिए—

जयति भगवान् स रुद्र कामादयनाऽप्यनुग्रहाद् येन ।
स्त्रीणा विलासमूर्ति सान्तरवपु कृत काम ॥[२]

विषय एव ग्रन्थ के शीर्षक के अनुकूल ही यमुना-तट पर रास रचाने वाले गोपियों के चीरहर्ता मुकुन्द की स्तुति कवि के भाषागत अधिकार को सूचित करती है।

वन्दे वन्दा – रमन्दार – मिन्दुभूषणनन्दनम् ।
अमन्दा – नन्दसदोह – बन्धूर मिन्धुराननम् ॥
कण्ठालिङ्गन – मङ्गल घनकुचाभोगोपभोगोत्सव
श्रेणीसगम सौभग च सतत मत्प्रेयसीना पुर
प्राप्तु कोऽयमितीर्ष्ययेव यमुनाकूलेबलाद स्वय
गोपीनामहरद् दुकूलनिचय कृष्ण स पुष्णातु न ॥[३]

इसके अतिरिक्त एक रघुनाथ की स्तुति भी है जो प्रकाशित भाण की इस प्रति में नहीं मिलती—

"वन्दामहे महेशानचण्डकोदण्ड-खण्डनम् ।
जानकी हृदयानन्द चन्दन रघुनन्दनम् ॥"

१– मुकुन्दानन्द ४२
२– पद्मप्राभृतक १, पृ० २
३– मुकुन्दानन्द १२

प्रातःकाल तथा प्रदोष समय की प्राकृतिक मनोज्ञता के वर्णन को पढ़ कर कवि की अद्भुत वर्णन शक्ति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कविराज काशीपति पर कालिदास का प्रभाव दर्शाने वाले तथा प्रभात वर्णन के प्रकरण में माघ की याद दिलाने वाले अंश भी इस भाण में प्राप्त होते है।

(प्रतीचीमवलोक्य) अयमिह—
जरठ इव मरालो जर्जरा-प्रेमपूर्व
स्खलति शिशिरभानु पश्चिमाम्भोधिपारे ।
अयम - यमुदया-द्रैर्नातिदूरे विस्वान
यमयममृतांशु पातकी याति चास्तम् ॥[1]

कहीं कहीं वसन्त ऋतु का मनोहर चित्र भी उपस्थित किया गया है -
काल कोकिलकोमलोक्तिमधुर काव्यज्ञ-मान्य कवि
काव्यस्यापि स एव कमनजनको रावाविटो नायक ।
सारज्ञाश्च सभासद पुनरमी नाट्यप्रवीणा वय
किंचाय समुदञ्चितो भगवतश्चण्डश्वरस्योत्सव ॥[2]

शृङ्गारभूषण –

वामनभट्टबाण का शृगार-भूषण भाण भी एक अनुपम रचना है। इनका जन्म त्रिलिंग देश मे हुआ था। इनके शृगारभूषण की प्रस्तावना का पाचवाँ श्लोक कवि का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है[3]। ये दक्षिण भारत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने 'पार्वती परिणय' नामक नाटक, नलाभ्युदय तथा शृगार भूषण शीर्षक भाण की रचना की। हस्तलिखित पोथियों में भाणों की नाममाला को देखने से इसी नाम के व्यक्ति की "शृगार पावन' नामक

१– मुकुन्दानन्द २.
२– मुकुन्दानन्द १०.
३– शृङ्गारभूषण ५, पृ० २

एक और भाण रचना का भी पता चलता है। संभव है यह भी इन्हीं की रचना हो। इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

नामसादृश्य के आधार पर कुछ लोग उनको श्रीहर्ष के राजकवि कादम्बरी, हर्षचरित, चण्डीशतक तथा मुकुटताडितक के रचयिता बाण से अभिन्न समझते हैं। परन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं। हर्षचरितकार बाण सातवीं शताब्दी के हैं और भाण के रचयिता १४वीं शती या १५वीं शती के। कुछ लोग इन्हें १७वीं शताब्दी का भी मानते हैं। शक संवत् १३२२ के एक ताम्रपत्र में अंकित शृंगारभूषण के लेखक बाण के नाम को देख कर विद्वानों ने इनका समय १४वीं एवं १५वीं शताब्दी का मध्यवर्ती भाग निर्धारित किया है। ये १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में त्रिलिंग देश के राजा वेमभूपाल (जो वीर नारायण के नाम से भी विख्यात थे) के दरबार में रहते थे। सुप्रसिद्ध बाणभट्ट की शैली का सफलतापूर्वक अनुसरण करने के कारण इन्हें अभिनव बाण की संज्ञा दी जाती है। इनको साहित्यसुधार्मणि की उपाधि से भी विभूषित किया गया जो इनकी साहित्यिक विद्वत्ता का परिचायक है। इनके पार्वतीपरिणय की प्रस्तावना में स्थित श्लोक से भी इनकी विद्याभिमानिता प्रकट होती है।[1]

शब्दचन्द्रिका में बाण का उल्लेख विजयपुर के विद्यारण्य के शिष्य के रूप में मिलता है। यह बात ठीक भी हो सकती है। कारण विजयनगर राजा वीरनारायण के राज्य के अति निकट ही था। वेमभूपाल के सभा पण्डित तथा विजयनगर (विजयनगर) के संस्थापक माधवाचार्य के शिष्य अभिनवबाण ने केवल दृश्यकाव्य के प्रणयन में ही अपनी कवित्व शक्ति का परिचय नहीं दिया, प्रत्युत श्रव्य काव्य के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। इसका प्रमाण अपने आश्रयदाता के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाला गद्यकाव्य वेमभूपालचरित तथा मेघदूत के अनुकरण में लिखा गया हंससन्देश ग्रंथ है। इनकी गणना द्वितीय कोटि के कवियों में की जा सकती है।

इनके शृंगारभूषण भाण में अन्य भाणों की तरह ही शृंगार

१– पार्वती परिणय ४ पृ० २

रस[1] का प्राधान्य है। विरहाकुल विट मच पर आकर अपनी अवस्था का वर्णन करता है। वेशोपनिवेशों का पर्यटन करता हुआ कल्पित सुन्दरियों के सौन्दर्य-वर्णन के साथ-साथ उनको पाने के लिये लालायित विरोधी पुरुषों के झगड़े, मल्लयुद्ध, मुर्गों की लड़ाई, कन्दुक-क्रीड़ा आदि खेलों और वसन्तोत्सव का चित्रण करता जाता है। इनके यथेष्ट दृष्टांत ऊपर प्रसंगानुसार दिये जा चुके हैं। यहाँ कवि के वर्ण्य वस्तुओं के सूक्ष्म निरीक्षण तथा उत्कृष्ट वर्णन शैली का परिचय प्राप्त होता है। गद्य तथा पद्य रचना में भाण के प्रवाह तथा माधुर्य को देखकर परिख्यात गद्य लेखक बाणभट्ट तथा रसिक भोजराज की याद आए बिना नहीं रहती।

रससदन

'रससदन' भी इसी कोटि की एक अपूर्व रचना है। इस भाण के कर्ता युवराज हैं। इनके जीवनकाल का प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता। लेखन-शैली के आधार पर इनका समय पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी के बीच बतलाया जा सकता है। ग्रंथ के नान्दी श्लोक[2] तथा अन्त में अंकित प्रशस्तियों[3] के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि शक्ति के अनन्य उपासक युवराज दक्षिण भारत में केरल प्रान्त के निवासी थे। रससदन भाण के अतिरिक्त इनकी त्रिपुरदहन-चरित, देवदेवेश्वराष्टक, मुररिपुस्तोत्र, रामचरित, श्रीपादसप्तक, गदाशिरी, सुधानन्द लहरी तथा हेत्वाभासोदाहरण श्लोक नामक रचनाएँ भी साहित्य समाज में प्रसिद्ध हैं।

वैदर्भी रीति में रचित रससदन में शीर्षक के अनुकूल ही माधुर्य सौकुमार्यादि काव्य के विविध गुण देखने में आते हैं। कभी-कभी उनकी

१- वाचमन्यवचे प्रमतमधुरा दशा प्रयोगे वय
वैदग्ध्यप्रथमावतारसरणिः सामाजिकाना मन।
काल कोकिलकण्ठराग विलसत्कदर्पदर्पोदय
शृङ्गारोऽपि रस स एव मिलितो दिष्ट्या गुणाना गण ॥

शृङ्गारभूषण ६, पृ० २

२- रससदन १, पृ० १

३- रससदन १० १४

अद्वितीय कल्पना-शक्ति का भी परिचय मिलता है। नाटकों मे गीतों का विधान भारतीय-नाट्य शास्त्र मे प्राप्त होता है। लास्य के दस प्रकारों मे गेय-पद प्रमुख है। दृश्य काव्य की शोभावृद्धि के लिये, लास्यांगों की योजना अनिवार्य होती है। इसकी पुष्टि अभिनवभारती से भी होती है।[1] भाण मे तो दस लास्यांगों का विधान है।

नाटक मे बहुत से छोटे छोटे गीत कथाप्रसंग के अनुकूल होते हैं। उनमे नियोजित गान स्वच्छन्द काव्य के रूप मे भी उपलब्ध होते हैं। युवराज के रससदन भाण मे उसकी कविता की श्रीवृद्धि करने वाले अनेक रसमय गीत भरे पड़े है। भाणों के शृंगार रंजित पृष्ठों को पढ़ने-पढ़ते जी ऊब जाता है तो ऐसे गीतमय श्लोक उस एकसारता को दूर कर देते हैं। कुछ एक श्लोक वैदर्भी रीति के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप मे भी उद्धरणीय हैं।

> राकामुखेन दशमी च कपोलकान्त्या
> कालेन पञ्चमतिथि प्रतिपन्नराङ्कं।
> एषा कुहूरपि वचःप्रकरण धत्ते
> प्राय समस्ततिथिसंग्रहभाञ्जनत्वम् ॥[2]

भाषा के साथ व्याकरण पर कवि का अच्छा अधिकार प्रदर्शित करने वाले अंश भी प्रस्तुत भाण मे प्राप्त होते है।

१— "यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्तस्य कश्चिद्विचित्याभो,
लोकपरिदृष्टोऽपि रञ्जनार्थैचि राय कविप्रयोगैर्भिनार्थै निरूपणीय ।

और भी—

ध्रुवागानपश्चमनरानापस्वर रहितयत्र प्रयोगयोग
भवति स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तम् भर्ता । यत्र हि
प्रयोगे तत्तत्राभिनिविष्ट सामाजिकरथक भवतीतिप्रादानयोऽसौ लास्याङ्गा-
दिहोपजीवित ॥
अभि भा ना शा १६
गा ओ सी भाग ३, पृ० ६७ ६८

२— रससदन ४५ पृ० १२

भूतेभूना समये सत्कारास्ते भविष्यन्ति भविष्यन्ति ।
न भवन्तु वर्तमाने वाड्मात्रेणायवा विहिना ॥[1]

कभी कभी इस भाण में प्रयुक्त छन्द कुछ अद्भुत तथा कटु से प्रतीत होते हैं,[2] किन्तु युवराज की अनेक साहित्यिक विशेषताओं के आगे नगण्य हैं।

इस एकपात्रीय रूपक में नायक विट वर्णनकर्ता है। उसके मुख से कवि ने मनोहरवर्णन करवाये हैं। घूमता हुआ विट मार्गस्थ वन-उपवनों की प्रातःकालीन तथा सन्ध्याकालीन शोभा का चित्रण करता है, जो हृदयग्राह्य है। प्रकृति का सीधा- सादा किन्तु मनमोहक रूप कवि ने बड़ी सरसता से उतार दिया है। यथा -

चोकूयन्ते विहङ्गा दिशिदिशि निजनीडद्रुमाग्रे निषण्णा।
दोधूयन्ते वहन्तस्तुहिन – जलकणान्कुन्दगन्धं वहन्त ।
लोलूयन्ते तमिस्रं दिनकर-किरणश्रेणय शोखशोभा
बोभूयन्ते क्रमेण प्रकटितनवं शैलगेहद्रुमाद्या ॥[3]

'पक्षी चारों ओर अपने घोंसलों के वृक्ष पर कूजन कर रहे हैं। अनिल ओस कणों और कुन्द की गन्ध को लेकर वृक्षों को कँपा रहा है। दिनकर की स्वर्णिम किरणें अन्धकार को बीन रही हैं और शैलगृहों पर वृक्षलताएँ आदि प्रकट रूप से शोभित हैं। यहीं प्रभात का एक और दर्शनीय चित्र उपलब्ध होता है। देखिए —

नग्ना वीक्ष्य नभःस्थली विगलितप्रत्यग्रधारावर -
श्रेणीश्यामलवासमं परिरमौरक्तं स्वयं मुञ्चति ।
दत्वन्तरिचरमावलम्ब्य नलिनी शोकातिरेकादिव
व्यादायाम्बुजमाननं विलपति व्याकोल-भृङ्गारवै ॥[4]

१- रसमदन १२६, पृ० २१
२- रसमदन ८२, पृ० १६, १९६ पृ० २२
३- रसमदन १६, पृ० ६
४- रसमदन २२, पृ० ६

' आकाश का अनाच्छादित और बादल रूपी श्यामल वस्त्र को बिखरा हुआ देख (प्रभात होने पर आकाश के तारे लुप्त हो गये और बादल इधर उधर बिखर गये) मेरा यह पति रक्त उगल रहा है। (सूर्योदय के साथ साथ आकाश में सर्वत्र लाली फैल गई है) । इस बात को बडी देर तक मन ही मन सोचकर शोकातिरेक से कमलिनी अपने मुखकमल को खोलकर चचल भौंरो की गुंजनध्वनि में मानो विलाप कर रही है।

मनुष्य का अपनी मनःस्थिति की प्रतिच्छाया प्रकृति में भी दिखाई देती है। चिन्तामग्न विरहाकुल विट आकाश से भूतल तक सारे वातावरण को शोकमय पाता है। यही कवि की सहृदयता है। स्त्रियों के स्वभाव का युवराज कवि ने एक श्लोक में जो वर्णन किया है वह किसी दुर्बल हृदय नारी के चरित्र का चित्र हो सकता है। कुल वधुओं पर वह चरितार्थ नहीं होता।

स्वाधीनत्वं निधाय चेतसि मुहुः प्राणेश्वरोऽयं ममे
त्युद्घोषयत्यनुवर्तन च पुरुषं तत्तत्प्रियाराधनैः ।
नो जानाति तथापि तस्य तु हितं निष्किञ्चनत्वे पुनः
स्त्यक्त्वा तं भजते न्यमीदृगादृशः प्रायेण योषा जनः ॥ [1]

इनके अनुसार नारी अपने चित्त में स्वाधीन होकर यह मेरा प्राणेश्वर है — ऐसा रटती रहती है और मनानुकूल सेवा द्वारा पुरुष की आराधना करती है। पर उसी पुरुष के दरिद्र हो जाने पर उसके हित की चिन्ता किये बिना ही पता नहीं कब उसे त्याग कर वह दूसरे की सेवा में लग जाय — प्राय ऐसी होती है स्त्रियां।

स्त्रियों के प्रति कवि की इस प्रकार की अविश्वासपूर्ण भावना वारवनिताओं के संहवास का परिणाम कही जा सकती है। भाणों में स्त्रियों के इस रूप के अगणित चित्र उपलब्ध होते हैं। कवि न केवल नारी

१-रसमदन ४० पृ० ११

के धूर्त रूप को ही नहीं परखा है उसने रमणी की हार्दिक एवं शारीरिक मनोज्ञ शोभा को भी निकट से अच्छी तरह निरखा है। कालिदासादि प्राचीन कवियों की नख-शिख-वर्णन-पद्धति का भी युवराज ने सफलतापूर्वक अनुकरण किया है। रससदन भाण में युवती की सुषमा अनन्त निखरी हुई उपलब्ध होती है और प्रेमी उस पर आसक्त है—

पादाम्भोरुह - मन्दमन्दचलनोत्पादितव्यालोलाञ्चल
दोर्दण्डाञ्चलमूलसुन्दर - मृदु - प्रत्यग्र-वक्षोरुहम् ।
वातायान-वितानि बाहुलतिकाभूषाक्वणत्कारित
यान्ति मत्त-मतङ्गजेन्द्र मधुरं सुते मुदं चेतसि ॥[1]

'मेरी प्रियतमा अपने चरणकमल धरती पर धीरे धीरे रख कर चलती जा रही है। मन्दगति के कारण उसकी साड़ी का आँचल हाथ के नीचे सरक गया है। उसके पयोधर अतिस्फुट हो रहे हैं, उसकी बाहुलता के चलायमान होने से आभूषणों की मधुर झंकार उठ रही है। इस प्रकार मत्त चाल से चलती हुई प्रिया चित्त में आनन्द की लहरियाँ उत्पन्न कर रही है।"

दूरेन्दु प्रतिमानमाननमिदं नेत्रे स्मिताक्षाञ्चले,
गण्डौ दर्पणसन्निभौ विमलिनौ बिम्बप्रभावोऽधरः ।
वक्षोजौ मणिहेमकुम्भरुचिरौ श्रोणी पृथुर्न निम्नगा,
पादौ पल्लवकोमलौ सुतनुमा सर्वं मनोमोहनम् ॥[2]

" यह मुख पूर्णिमा के चन्द्र का प्रतिमान है, आँखें अत्यन्त चञ्चल हैं, कपोलप्रान्त दर्पण के समान निर्मल स्निग्धोज्ज्वल हैं, अधरबिम्ब रक्ताभ हैं। पयोधर मणिमय सुवर्णकलश के समान मनोहारी तथा उरःप्रदेश विशाल हैं एवं चरण पल्लववत् सुकोमल हैं। सत्य तो यह है कि

१– रससदन ५८, पृ० १३
२– रससदन २२७, पृ० ५५.

इस मृगलोचना का अग प्रत्यग मनमोहक है। उत्तरमेघ मे भी यक्षिणी का इसमे ही मिलता जुलता रूप आलिखित है।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभि ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्या,
या तत्र स्याद्युवति विषय सृष्टिराद्येव धातु ॥[1]

इन शृगारिक वर्णनो के अतिरिक्त इस लघु ग्रन्थ मे सगीत के तत्वा से युक्त गीत भी अधिक मात्रा मे मिलते हैं और उनके शब्दो की गूँज को सुनकर रसिक मन मयूर नाचने लगता है। किसी सुन्दरी की चारुता को देखकर नायक हर्षोन्मत्त हो गा उठता है।

धवलकुसुमधारिणी मृदुतहसितकारिणी [2]

इस प्रकार विट वेत्रवतिनामा से मिलता हुआ हास्यशृगारादि रसमिश्रित सगीत का श्रवण करता है। वहाँ इन्द्रजाल विद्या के प्रयोग देख कर बहुत प्रसन्न होता है।[3]

इन वर्णनो के प्रसग मे रूपक उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलकारो का विन्यास बहुत रुचिकर है। कवि की इस कृति पर कालिदास माघ आदि कवियो का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सूत्रधार —साधुगीतम्। साधुगीतम्। यत ।
सग्गीते नवामुना मुखविधौ पीयूषधाराभ्रम
कुर्वाणेन विघूर्णकर्णयुगलास्तद्भार खिन्ना इव।
निद्रान्ति स्तिमिता सुखोदयवशादालस्यमाविभ्रत–
श्चित्रन्यस्तनरा इव क्षणममी सर्वेऽपि सामाजिका ॥[4]

१– उत्तरमेघ (मेघदूत)
२– रसमदन २३३ पृ० ५३
३– रसमदन २०१ २०३ पृ० ५०
४– रसमदन १६, पृ० ५

तुलना कीजिये —

सूत्रधार—आर्ये साधु गीतम्।
अहो राग बद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतोरङ्ग।[1]

शृङ्गारतिलक

सत्रहवीं शताब्दी में काचीपुर के वरदाचार्य ने जो अम्मालाचार्य भी कहे जाते हैं वसन्ततिलक नामक भाण की रचना की। ये वैष्णव ब्राह्मण थे। द्रविण भाषा में अम्मा शब्द स्त्रिया के लिये आदरपूर्वक व्यवहृत होता है। रामभद्र दीक्षित के शिष्य[2] की यह इच्छा हुई कि अय्याभाण भी लिखा जाय। अय्य यह आर्य का विकृत रूप प्रतीत होता है। अय्या भाण का नामान्तर है शृंगारतिलक। इसके रचयिता का संक्षिप्त परिचय इस भाण की भूमिका में प्राप्त होता है।

कौण्डिन्य गोत्रोद्भव श्रीरामभद्र मखीन्द्र का जन्म दक्षिण के कुम्भकोण नगर से सात कोस की दूरी पर स्थित कण्डरमनिक्यम् नामक ग्राम में चतुर्वेदी यज्वन् परिवार में हुआ था।[3] ब्राह्मण कुल मणि रामयज्ञ दीक्षित इनके पिता थे। बचपन में ही इन्होंने अपने गुरु श्रीनीलकण्ठ मखी के चरणों में अध्ययन करते हुए काव्य, नाटक रसालंकार एवं लक्षणग्रन्थों में पाण्डित्य प्राप्त किया। अपने गुरु श्री चौक्कनाथ मखीन्द्र की ज्येष्ठ कन्या के साथ इन्होंने विवाह किया। श्री बालकृष्ण से इन्होंने अध्यात्मशास्त्र की विद्या प्राप्त की।

तञ्जौर नगर के राजा शाहजी ने कावेरी नदी के तट पर कुम्भकोण नगर में दो कोस दूर "तिरुविशाल" नामक स्थान पर अपने ही नाम से शाहजीपुर नामक नगरी की स्थापना की। श्री महादेव कवि, तिप्पाध्वरी

१– अभिज्ञान शाकुन्तल, प्रथम अङ्क पृ० ८
२– शृङ्गारतिलक ७
३– शृङ्गार तिलक ५-६

आदि शाहजी के सभापण्डितों में रामभद्र मखीन्द्र प्रमुख थे। इस विद्या-प्रेमी राजा ने १६८४ ईस्वी से १७११ ईस्वी तक (लगभग २७ वर्षों तक) राज्य किया। रामचन्द्र के शृंगारतिलक भाण के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं के नाम ये हैं—

१ अष्टप्रास २ चापस्तव ३. जानकीपरिणय (नाटक)
४ पतञ्जलिचरित (काव्य) ५ पर्यायोक्ति निष्यन्द
६ प्रमादस्तव ७ बाणस्तव ८ विश्वगर्भस्तव
९ तूणीरस्तव (अप्राप्त)

ये कृतियाँ इनके बहुमुखी पाण्डित्य को प्रमाणित करती है। मुकुन्दानन्द भाण की तरह शृंगार-तिलक में भी यह बतलाया गया है कि प्रायः अभिनव कलाकार साहित्य शास्त्र की प्राचीन परम्परा के कट्टर अनुयायी होते हैं। अतः वे सरस वस्तु का सर्जन नहीं कर सकते। पंडित रामभद्र की वाक्य रचना श्रुति-कटु एवं समस्त पदों से रञ्जित होती है, अतः उनका अपनी सरस पदावली पर गर्व करना अनुचित सा लगता है। परन्तु शृंगार-तिलक की प्रस्तावना से यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि ये दो विरोधी बातें भी एक साथ घट[1] सकती हैं। यह शृंगार-तिलक रुद्रभट्ट के इसी नाम के श्रव्य-काव्य से सर्वथा भिन्न है। रुद्रभट्टीय शृंगार तिलक में नायिकाओं के भेद और काम की विभिन्न अवस्थाओं में उनकी दशाओं का वर्णन मिलता है। रामभद्र की कृति दृश्य काव्य के अन्तर्गत भाण की कोटि में आती है। कवि ने नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट नियमानुसार शीघ्र के अनुकूल ही शृङ्गार-रस में लिप्त मंगलमय श्लोकों द्वारा प्रस्तुत एकपात्रीय प्रेक्षणक का श्रीगणेश किया है। 'विवाह के अवसर पर श्रीराम के दृढ़ अनुरागमय नयनों के दर्शनमात्र से धरणीसुता नवोढ़ा सीता की लजाई आँखें तुम्हारा कल्याण करें।' सदा रघुनाथ के चरणों का स्मरण करने वाले भक्त का पावन हृदय भी शिष्य प्रेम के कारण साधारण जनता के लिये रचे जाने वाले भाण की रचना में प्रवृत्त हुआ। इसमें साम्प्रदायिक प्रचार की भी भावना छिपी हुई है।

१– शृङ्गारतिलक

शृंगार-तिलक में कवि भुजगशेखर और हेमाङ्गी नामक वेश्या की प्रणय-कथा है। नायक नायिका के श्वसुरालय जाने के कारण दुःखी हो रहा है परन्तु उसे पुनर्मिलन का आश्वासन दिया गया है। वनवीथियों का पर्यटन करता हुआ वह कल्पित पात्रों से वार्तालाप करता जाता है। मदन के खेल तथा जादू के खेलों का भी विवरण प्रस्तुत करता है। अन्त में वह हेमाङ्गी से मिल जाता है। इसी में कवि के मित्र मदङ्गरक तथा चित्रसेन के बीच हुए साहसिक कार्यों का भी उल्लेख है।

इसमें प्रसंगवश प्रस्तुत किये गये वासन्तिक सौन्दर्य और प्रभात के मनोहर वर्णन रसिकों का मन हर लेते हैं। कहीं कहीं कामुक वन्यविलासियों का विरह-वर्णन पाठकों के हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। प्रकृति का मानव रूप दिखलाने वाले इन पद्यमय विवरणों को पढ़ते समय माघ का तथा इसके गद्यांश को देखकर बाणभट्ट का स्मरण हो आता है—

क्वचिद्विकचचम्पकस्तबकगन्धबन्धु —
. . . . [1]

प्रकृति विरहाकुल विट को विरहविदग्ध नायिका की तरह आँसू बहाती हुई दृष्टिगोचर होती है। चाहे प्रभात का वर्णन हो या सन्ध्या का, उसे हर जगह अपने करुण क्रन्दन की ध्वनि सुनाई देती है। कहीं चम्पक के गुच्छों और पुष्पों से निकलने वाली सुगन्ध तथा कहीं आम्र की नई मञ्जरियों की सुरभि से युक्त पवन प्रेमियों को सुखप्रद प्रतीत होता है और कहीं वसन्त की शोभा विरहियों को दुःखद लगता है। वर्षा ऋतु में प्रकृति निरन्तर ठण्डी आहें भर भर कर वियुक्त दम्पती को भी रुलाती है। इस प्रकार सम्भोग के साथ साथ विप्रलम्भ शृंगार का आभास कराते हुए कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है—   'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।

द्वयान्त काल वा प्रविरसित नीतोत्सवाङ्ग—
नताक स्वच्छन्द रन्तिमुपभुज्यापसरति।

1—शृङ्गारतिलक

और भी—

> दृष्ट्वा प्रोषितवल्लभां कमलिनीं स्वस्यां मुषित्वाश्रियं—
> दत्वा तां परिरम्भमूल्यविषया नीलोत्पलिन्यै निशि ।
> प्राप्ते प्रातरमन्दरागविसरैः मानालग्ने दारुणे
> चन्द्रश्चौर इवाद्रिभू - धरतटे मस्ताग्रको धावति ॥

अर्थात् - कमलिनी रूपी प्रोषितवल्लभा नायिका को रात के समय अकेला पाकर उसकी कान्ति का अपहरण कर उस कान्ति को उसका उपभोग करने का मूल्य रमण के रूप में प्रदान कर सामने क्रोध से तमतमाते हुए लाल किरणों वाले सूर्य को आता देख चन्द्रमा मानो चोर की तरह पहाड़ से गिरता पड़ता भागा जा रहा है । यहाँ उत्प्रेक्षा द्वारा वेशगृह के व्यापार का सजीव चित्र कवि ने खींच कर रख दिया है । निम्नांकित पंक्तियों में विरहियों की दुर्दशा दिखाई गई है ।

> मन्दारयन्ति तरवो मदनस्य बाणान्
> गन्धावतोऽपि स्वयमस्य परिष्करोति ।
> उन्मीलन्ति प्रियतमादृढविप्रयोग–
> जन्मा च सम्प्रति विलासिजन-प्रमाद ॥

प्रेम मार्ग में कभी उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिलती है और कभी *असफलता । लोक-व्यवहार में शरीर के अंगों के फड़कने से किसी शुभ या अशुभ* समाचार के प्राप्त होने की सूचना मिलती है । शकुनशास्त्र के अनुसार प्रायः स्त्रियों के वामांग एवं पुरुषों के दक्षिणांग का फड़कना कल्याणकर बतलाया जाता है । (अन्य नाटकों की तरह) इस भाण में भी अंगविशेष के स्पन्दन को प्रिय-सुख प्राप्त कराने वाला बतलाया गया है ।

स्पन्दते दक्षिणो भुजदण्ड । तत्सत्ये फलिष्यति मे मनोरथः ।

तुलना कीजिये -

> शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
> अथवा भवितव्यानां भवन्ति द्वाराणि सर्वत्र ॥[1]

१- अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क १

प्रमिया की प्रतीक्षा की अवधि बहुत अखरती है। इस दुस्सह समय को व्यतीत करने के लिये बड़े नाटकों और भाण जैसे लघु रूपकों में प्रणयियों एवं रमणियों के वन या उपवन में जाने का विधान उपलब्ध होता है। चतुर्भाणी की तरह शृंगारतिलकादि उत्तरकालीन भाणों में भी इस प्रकार के चित्रण हैं। ऐसे प्रसंग पर वन उपवन की शोभा का चित्रण करने में कविगण अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर भी पाते हैं

पक्वानि प्रच्यवन्ते क्रमुकविटपिनामुच्छ्रितानां फलानि ।[1]

यही श्लोक शृंगारतिलक भाण के कर्ता की दूसरी कृति 'जानकी-परिणय' में भी मिलता है।

इस भाण में एक अतिरंजित विनोद किया गया है। यहाँ वेश्या द्वारा रति शुल्क तत्काल न दे सकने पर लिखित पत्र पर प्रतिज्ञा प्रस्तुत की गई है।

अस्मिन् श्रीमति मन्मथे सति दिने तन्नाम्नि संवत्सरे
इयमस्तु काञ्चनलता वत्सरमेकं कलत्रं मे।
इत्थं भुजङ्गशेखर-काञ्चनलतयोरनुज्ञया लिखितम् ।[2]

इसके अनन्तर श्लोकों में कालिदास के मधुर छन्दों की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। कुछ पद्यों में मेघदूत के मन्दाक्रान्ता छन्द का स्वर गूंजता सुनाई पड़ता है।

शृङ्गारसर्वस्व

इसके उपरान्त शृङ्गार-सर्वस्व नामक चार भाण संस्कृत रूपक-साहित्य में मिलते हैं, परन्तु इनके रचयिता भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें से एक रचना वेदान्ताचार्य की है, एक भूनिनाथ की तीसरी कृति अनन्तनारायण सूरि की तथा चौथी नल्लाद्युध कवि की है। प्रथम दो भाणों के शीर्षक और लेखकों के नाम के सिवा उनके विषय में अन्य जानकारी प्राप्त नहीं है। शेष दो रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

---

१- शृङ्गारतिलक, २०५
२- शृङ्गारतिलक, १०९-११४

"भारद्वाज-गोत्रभव अनन्तनारायण सूरि वरदराज शास्त्री के भागिनेय एवं उनके ही शिष्य भी थे। पाण्ड्य देश के कोरदणग्रामनिवासी और मलाबार के मानविक्रम राज के समसामयिक थे।"

रामभद्र दीक्षित के निकट सम्बन्धी नल्लाध्वर कवि बालचन्द्र मखी के पुत्र थे। य कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण चोल देश के कुम्भघोण नगर के निवासी थे। इन्होंने सुभद्रापरिणय नामक नाटक भी रचा। 'अद्वैतमञ्जरी' और उसकी 'परिमल' नाम की व्याख्या भी इन्हीं की लिखी मिलती है। लगभग १७०० ईस्वी में इन्होंने शृंगार-सर्वस्व भाण की रचना की। इसमें अपनी प्रेमिका से बिछुडे हुए विट की मनोदशा अङ्कित है। किसी मस्त हाथी की सहायता से दो प्रेमी पुनः मिल जाते हैं। हाथी को देख दूसरे लोग घबरा उठते हैं, परन्तु नायक उसे अपनी प्रार्थना पर सहायता के लिये शिव द्वारा भेजे गये गणेश भगवान के रूप में देखता है। इस सरल कथा को सरस आलंकारिक भाषा में सुन्दरतम रूप देने का कवि ने सफल प्रयास किया है। इस शृंगारप्रधान एकांकी रूपक में विट अपने मनाभिलाष को प्रकृति के क्षेत्र में प्रतिफलित पाता है। उसकी दृष्टि में सारा वातावरण विलासमय है। इसमें स्थान-स्थान पर कवि के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ज्ञान का भी परिचय मिल जाता है। भगवान सूर्य तक कामी के रूप में चित्रित किये गये हैं। जिस प्रकार शृंगार-तिलक एवं शृंगार-भूषण आदि भाणों में सूर्य का इसी रूप में चित्रण किया गया है उसी प्रकार इस भाण में भी दिवाकर की कामविलासिता चित्रित की गई है। देखिये -

पूर्वक्ष्माधरशिखरी — शिखराधिरूढो
लाक्षारसारुण - वपुर्भगवान्दिनेशः ।
प्राचीमुखस्य परिकर्म - विशेष-लिप्सो
काश्मीर - पङ्कतिलकश्रियमातनोति ॥[१]

उदयाचल के शिखर पर सवार लाक्षारस के समान अरुण कान्तिमान् सूर्य पूर्व-दिशा-रूपी नायिका के मुख पर केसर द्वारा चित्रकारी कर रहा है।

१- शृङ्गारसर्वस्व, २३

गच्छन्त्यस्त - मितम्बमम्बरक्षा - कुर्वन्न - रैश्चन्द्रमा
सागच्छन्त्य इव प्रियैम्नन इनो निष्क्रम्य चन्द्रानना ।
प्रच्छन्ना कुलटा विटान् विजहति प्रार्थक्रियामात्ययान्–
नक्त जागरणेन वारवनिता निद्रातुमुद्युञ्जते ॥[1]

चन्द्रमा के दृष्टान्त द्वारा भाणकार ने वेश-भवनो मे रात्रियापन करने वाले कामुक विटों तथा कुलटाओं का सजीव चित्र प्रस्तुत करने का स्थान-स्थान पर प्रयत्न किया है । उक्त पंक्तियों मे इसका ज्वलन्त उदाहरण देखा जा सकता है । चन्द्रमा आकाश को त्यागकर अस्ताचल मे प्रविष्ट हो रहा है (रात भर अपनी प्रेयसी के साथ रमण करने के उपरान्त जा रहा है) कुलटाएँ रात बीतने पर परपुरुषों का साथ छोड रही हैं और रात्रि मे जागरण होने के कारण वेश-वधुएँ सोने का उपक्रम कर रही है ।

अभिनवबाण के शृंगार भूषण की भाँति शृंगार-सर्वस्व की प्रस्तावना मे भी शृंगार को उद्दीप्त करने वाले कामदेव की स्तुति की गई है जो कवि की साहित्यिक-प्रतिभा की ओर संकेत करती है । यथा—

वितन्वत्यस्कोणे विशिखमचिरादेव भगवा–
ननङ्ग. येनापि त्रिभुवनमजय्य विजयते ।[2]

भगवान् कामदेव जिसके कोण को बाण बनाकर क्षण भर मे ही अजेय त्रिभुवन को जीत लेते है और जिसका कोमल प्रकाश युवकों का चित्त हर लेता है, वही हरिणाक्षियों का नेत्र कटाक्ष हमारे शृंगार-सुख को बढावे ।

इसके अतिरिक्त इस भाण मे और भी शृंगार-परक मनोहारिणी गेय पदावलियाँ मिलती हैं । नायक स्त्री के सौदर्य को निरख कर मुग्ध हो जाता है वह कहता है—

विद्युल्लतेव नवविद्रुममल्लिकेव.........[3]

१- शृङ्गारसर्वस्व, २१
२- शृङ्गारसर्वस्व, ४
३- शृङ्गारसर्वस्व,२६

चपला की लता के समान, नवविद्रुमवल्ली-सरीखी चाँदनी के समान, रत्नों से निर्मित कृत्रिम पुतली के समान, कामदेव की माया के सदृश, और यह रजनी-दल के समान कौन गौरवर्णा लावण्यमयी नारी मेरे अनन्य पुण्यों के परिणामस्वरूप मेरे समक्ष उपस्थित हो गई है।"

नारी के विभिन्न अङ्गों के वैशिष्ट्य-प्रदर्शन के लिये कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानों का विशेष पृथक् महत्त्व है। उपमानों की इस माला का उपयोग केवल नायिका की शोभा-वृद्धि के लिए तो किया ही गया है साथ ही उनके सहारे कवि ने नैतिक दोषों के कुपरिणामों की ओर भी रसिकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

जैसे—

वलयनिकरं भग्नं बालेन्दु सदृशि-सुन्दरं,
करतलगते पात्रे कृत्वा वदन्परुषं वचः।
कपिरिव नवां मालां बालां स बाष्पविलोचना—
मयमभि - पतन्क्रुद्धो बलादनु - कर्षति॥[१]

हस्तरूपी पात्र में द्वितीया के चन्द्रसदृश सुन्दर भग्न कंकण रखे हुए, कटु वचन बोलता, वह क्रुद्ध पुरुष गिरता-पड़ता उस रोती हुई बाला के साथ ऐसी खींचा-तानी कर रहा है मानो कोई बन्दर नई माला को तोड़-मरोड़ रहा हो।"

त्रावणकोर के कार्तिक तिरुनाल रामवर्मा महाराज धर्मराज लोकप्रिय शासक थे। उन्होंने १७५८ ईस्वी से १७६८ ईस्वी तक राज्य किया। उनके राज्य में विद्वानों एवं कलाकारों को यथोचित सम्मान प्राप्त था। कुछ नाम ये हैं —

(१) बालमार्तण्डविजय नाटक के कर्ता, देवराज सूरि।
(२) बालरामवर्मयशोभूषण के लेखक, सदाशिव दीक्षित।
(३) अलंकार-कौस्तुभ के रचयिता, कल्याण सुब्रह्मण्य।

१– शृङ्गारसर्वस्व ४५

(४) वसुलक्ष्मी-कल्याण के प्रणेता और अप्पयदीक्षित के वंशज वेंकट सुब्रह्मण्य।
(५) पद्मनाभविजय काव्य के कवि पन्तलम् सुब्रह्मण्य शास्त्री।
(६) वैयाकरण इडवेट्टिकाट्टु नारायणन् नम्बूद्रि।

इन सभा-रत्नों में उनके ही भतीजे कवि अश्वतिराम वर्मा भी थे। उनका जन्म[1] १७५६ ईस्वी में रामवर्मा कोइल तम्पुरान के यहाँ हुआ। उन्होंने श्री शंकरनारायण से शास्त्रों का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त संगीत एवं अन्य ललित कलाओं में भी पटुता प्राप्त की। १७८४ ई० में वह महाराज के साथ रामेश्वरम् भी गये। राजकुमार मकायिराम तिरुनाल रवि वर्मा की मृत्यु के उपरान्त १७८६ ई० में महाराज के भाई युवराज हुए। आठ वर्ष के बाद १७९६ ई. में वह भी स्वर्ग सिधार गये।

शृङ्गार-सुधाकर

अश्वति तिरुनाल ने संस्कृत एवं मलयालम् काव्य में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। निम्नांकित रचनाएँ उनकी विद्वत्ता को सिद्ध करती हैं। इनमें एक भाण रूपक भी है। यथा—

वञ्चि महाराज स्तव (अपने चाचा धर्मराज की प्रशंसा में रचित) कार्तवीर्यविजय प्रबन्ध, सन्तानगोपालप्रबन्ध आदि चम्पू काव्य तथा रुक्मिणी-परिणय नाटक एवं शृंगारसुधाकर भाण, पद्मनाभ कीर्तन (श्री पद्मनाभ स्तोत्र), दशावतार-दण्डक और नरकासुरवध, पूतनामोक्ष, रुक्मिणी-स्वयंवरम्, पौण्ड्रक-वधम्, और अम्बरीषचरितम् (आदि मलयालम कृतियाँ)। इनमें से पद्मनाभकीर्तन को छोड़कर प्रायः सब ग्रन्थ सुन्दर भाव तथा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं।

लक्षण-शास्त्रों में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार रचे गए शृंगारसुधाकर भाण में भी विट आकाशभाषित द्वारा घटनाओं के चित्र प्रस्तुत करता

१- शृङ्गारसुधाकरभाण, पृ० २

है। वेश्या की प्रणय-कथा इसका विषय है और अंगी है शृंगाररस। इसमें वीररस का आभास नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त चतुर्भाणी के भाणो तथा इस प्रकार की अन्य कृतियों में भी वीररस लुप्त प्राय है। वीर रस के साक्षात् दर्शन शायद ही किसी भाण में होते हैं। यह रस तो लक्षण[1] की ही वस्तु रह गया है। हाँ, शृंगार के पोषक के रूप में हास्य-रस का आस्वादन करने का अवसर यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। वेश्या की माता के भय से बचने के लिये भागते हुए ब्राह्मण पुरोहित को देख कर दर्शकों की हँसी फूट पडती है।[2]

ताम्रश्मश्रुमुख ………… ……इत्यादि मे वेश्या-रमण करने वाले श्रोत्रिया पर गहरा व्यंग्य भी है।

भो भो श्रोत्रियस्थविर। कुत आगम्यते। किं ब्रवीषि—'वेश-वीथ्या इति… . .[3]

भालू के आ जाने से उत्पन्न किया गया भयावह वातावरण इसके मुख्य रस मे बाधक नहीं बनता।

तालिकातिलकलतुल्यो नारक सम्भ्रमेण,
. .वारिणीना कलाप ॥
.कथमसि स्वच्छतारकच्छटातुच्छम्भोऽ च्छभल्लभल्लो
मदमितुरनागच्छति। वयमपि पलायामहे।[4]

जहाँ बीच बीच मे इस प्रकार के रस का प्रयोग किया जाता है वहाँ इनकी उद्भट कथाओं का प्रभाव प्रतीत होता है। इसका काव्य बहुत सुन्दर है और कहीं कहीं इनके अद्भुत वर्णन शक्ति के दृष्टांत भी उपलब्ध होते हैं।—

ज्यायिष्ठतारकजनह-प्रकरान्तुवर्ष–
निःशेषदोषतिमिरोत्कर-पङ्कपर्तिम्।
मन्थरयन् दिनमणिद्रुतशातकुम्भ
कुम्भायते शिरसि पूर्वमहीधरस्य।[5]

१— सूचयत्वार-शृङ्गारौ शौर्य-सौभाग्य सत्त्व । दशरूपक.

२— शृङ्गारसुधाकर, २०

३— शृङ्गारसुधाकर २१, पृ० ८

४— शृङ्गारसुधाकर ६५ पृ० १६

५— शृङ्गारसुधाकर ११, पृ० ४

हैं —वाग्युद्ध (चम्पू), विप्रसंदेश श्री रामचरित पुराण काव्य, श्रीराम वर्मा, श्री रामपट्टाभिषेक नाटक, अन्यापदेश और सूर्योदय आदि ।

कोचुण्णि भूपालक के शृंगारप्रधान अनङ्गजीवन भाण मे भी भाण-रूपक के सब लक्षण लक्षित होते हैं। इसमें शृंगारशेखर नामक विट मञ्च पर आकर अपने कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। उसके सामने अपने मित्र राजा भद्रसेन तथा आनन्दवल्ली नामक वेश्या को मिलाने की समस्या है। ये दोनों एक दूसरे के प्रति आसक्त हैं। हमें यहाँ कामज्वर से पीड़ित राजा के दर्शन होते हैं। इसमें सभोग एव विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगार का आभास मिलता है। इसका विषय लौकिक होने के कारण राजा के प्रणय-व्यापार की पूर्ति मे कोई वस्तु बाधक नही बनती। मुख्य रस का अपकर्ष न करते हुए कवि ने कहीं-कहीं हास्य रस की धारा भी प्रवाहित की है। "किं वदसि ? भद्रसेनो राजाऽत्र महोत्सव-दर्शनार्थमागमिष्यतीति लोकवाद. पुरा मया श्रुत ।.... .(स्वगतम्) हाधिक् । हाधिक् । पुरा अनेन राज्ञा आनन्द वल्लीदर्शनजातकामज्वरपीडितेन सता । मद्रोगचिकित्सक खलु भवानेव ।[१]

एक वृद्ध वेश्या मनोरथ की पूर्ति के हेतु विट को अपने घर ले जाती है। यह स्थल हास्य के सृजन मे सहायक बनता है। इस प्रकार के और भी वर्णन प्राप्त होते है। वृद्धा वेश्या के कुरूप प्रेमी का चित्र भी बड़ा रोचक है।

" अपि कुशल त्वत्प्रियाया घनरञ्जिन्या ।
किं वदसि । सा वार्धक्येन . त्यक्तप्रायेति ।
० ० ० ० ० ०
अये इय कामलोला वृद्धा तरुणीव तरुणजनमाकर्षयितु भ्रमति मार्गेषु ।"

इसके अतिरिक्त दोपहर का वर्णन बड़ा ही सजीव है। प्रभात तथा सध्याकालीन सुषमा भी देखते ही बनती है—

··· अये चण्डांशुश्चण्डतर सवृत । तथाहि .:....[२]

१– अनङ्गजीवन पृ० ७
२– अनङ्गजीवन ५८-५९. पृ० २०.

मधुर संगीत के प्रसंग में विट के मुख से कवि ने गीतों के अभ्यास से श्रान्त एवं क्लान्त वारवनिताओं का स्वाभाविक चित्रण करवाया है जो वृक्ष सेचन से थकी-हारी शकुन्तला के वर्णन से मिलता जुलता है।

(श्रवणानन्द नाटयन्) अद्य हि संगीतसरणि–
ईषल्लक्षितदन्तकुन्दमुकुलं प्रागुन्नतं पार्श्वतः
किञ्चिन्मीलितचारुलोचनयुगं व्यालोलनीलालकम् ।
नासाभूषणरत्नरञ्जितनखा मुग्धं मुखं बिभ्रती
गायन्ती मधुरस्वरं विरचयत्येषातितोषं मम ॥

० ० ० ०

(प्रकाशम् ।) सखि संगीतसरणि[1] परिश्रान्तासि गानेन । तथाहि–
अनि श्वसितमायतं विलुलितालकं चाननं
विलुप्त - मलिकस्थले तिलकमद्य घर्माम्बुभिः ।
समुन्नत - पयोधरद्वयमिदं च मुक्ताफल –
प्रभश्रमपय - कणैः सुतनु । भूषितं लक्ष्यते ॥

तुलना कीजिये —

स्रस्तांसावतिमात्रलोहित-तलौ बाहू घटोत्क्षेपणा –
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसा जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥[1]

इस भाण के कतिपय वाक्यों को पढ़कर मृच्छकटिक के शकार का स्मरण हो आता है।

हन्तेय रावणमहोदरी राममिव मामेवाभिपतति ॥[2]

अन्त में सन्ध्या समय का वर्णन करता हुआ विट अपने अभिनय का अन्त करता है। सुन्दरी आनन्दवल्ली से मिलन होने पर राजा उसका लावण्य निहार कर ठगा-सा रह जाता है। इस सुन्दरी के दर्शनार्थ सहस्र नेत्र भी कम होते हैं।

१– अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क १, १७.
२– अनङ्गजीवन पृ० १५

राजन् । अद्य सध्यासमय सम्प्राप्त । तथाहि –
भास्वन्मण्डल - चक्रमेष भगवानुच्चस्य नारायणो
व्योमाग्रस्तृण्टिताश्वोऽस्तरचिर्वानापुरागाा गतम् ।
सद्दियागु तदीयशाणेन वगामडगादगुद्ध पुन
नित्वा शान्तिगु निमजयति तत् पुरज्य वारांनिधे ॥[1]

अनगतिनर के बाद भी अनेक रपरम्परा म भाणपरम्परा को आगे बढाया, यद्यपि पूर्वोल्लिखित एक नट नाटका की तालिका मे सकेतित सब के सब भाण उपलब्ध नहीं है तथापि हस्तलिखित पोथियो की वर्णनात्मक नाममाला म इनके जो खडितास प्राप्त होने है, उनके परिशीलन से इनके प्रणेताओ एव उनकी लेखन-शैली का बहुत कुछ ज्ञान होता है। यहाँ उन पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

मदनसञ्जीवन

१८ वी शताब्दी मे मराठा सम्राट तुक्कोजी के मत्री घनश्याम एक अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हुए । इन्होंने बहुत थोडी अवस्था मे पर्याप्त ज्ञानार्जन कर सस्कृत-साहित्य को १०१ रचनाएँ प्रदान की । श्रव्य एव दृश्य काव्य के क्षेत्र मे उनका समान अधिकार था । इनके प्रेक्ष्य-काव्यो मे एक व्यायोग, मदनसञ्जीवन भाण, डमरुक प्रहसन आदि रचनाओ का उल्लेख मिलता है । इनका मदनसञ्जीवन भाण रसिको का मन हरण करने वाला है । इसमे कवि के जीवन पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है । इसी से यह भी ज्ञात होता है कि इनके " चम्पु काव्य " की अच्छी ख्याति थी । यथा–

(पुनरपश्य) कि युद्धकाण्डनाम्नश्चम्पु काव्यस्य प्रणेता
घनश्याम कवि ।

मदरनारायण का " रसिकामृतभाण " तिरुवैयारु उत्सव के अवसर पर रचा गया था । ये किसी गोद ली गई पुत्रिका मे उत्पन्न हुए थे और ग्यारहवे वर्ष मे कविताएं रचने लगे थे। प्रस्तावना मे इनका परिचय मिलता है ।

१– मदनसंजीवन – ८० पृ० ३०.

'सूत्रधार .सकल शास्त्रपारीण शङ्करनारायण कवि कदाचिदपि भवत श्रवसो आयात । '[1]

कोचीन राज्य के महिप मगल ने अपने ही नामाक्षरों से युक्त भाण रचा । कवि ने अपना नामोल्लेख नही किया है परन्तु इस भाण की अन्तिम पंक्तियों से सूचित होता है कि इसकी रचना कोचीन के राजा रामवर्मन् की आज्ञा से हुई । इस भाण से यह सूचना भी मिलती है कि इसके कवि कामाक्षी के अनन्य भक्त थे । इसके अतिरिक्त इस भाण मे उल्लिखित इस वाक्य से – " श्री नीलकण्ठाग्नेवासिना लिखितमलद् भाराम् " कवि के नीलकण्ठ के सहपाठी होने का ज्ञान होता है । महिप मगल के नान्दी-श्लोक मे स्थित भाव भट्ट-नारायण के वेणीसंहार म अंकित रामाचरण-युगल की स्तुति से मिलते-जुलते हैं ।

वेलीकोपदशामु तन्वति नत्ति चन्द्रार्धचूडामणौ
क्रीडाचन्द्रकलानुपङ्कवलया यद्दूयते कोमलाम् ।
यद् वा कर्कश-वासरामुरशिरो निष्पेषणे निदय ।
पायाद् वस्तदिद गिरीन्द्रदुहितु पादारविन्दद्वयम् ।[2]

तुलना कीजिये –

कालिन्द्या पुलिनेपु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रस
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषा कसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशित - पदस्योद्भूतरोमोद्गते–
रक्षुण्णोऽनुनय प्रसन्नदयिता दृष्टस्य पुष्णातु व ॥[3]

श्रीकण्ठ का मदनमहोत्सव भाण भगवान् विरूपेश्वर के कल्याण–महोत्सव के अवसर पर अग, वग, कलिग एव काश्मीर जैसे भारत के सुदूर राज्यों मे पधारे हुए अतिथियों के प्रीत्यर्थ "वातव्याघ्रपुरी" मे राजाज्ञा से खेला गया था । प्रस्तावना मे कवि का जीवन-वृत्त सक्षेप मे चित्रित है । कवि

१– सूत्रधार । रसिकामृतभाण
२– महिपमगल भाण
३– वेणीसंहार अङ्क १ पृ० २.

ने अपनी कृति प्रस्तुत करते समय महाकवि कालिदास के सदृश विनम्रता प्रदर्शित की है —

> क्वाह मन्दमतीय क्व नु वा मरमोक्ति समितो भाण ।
> वागीश्वरीविलासो वसुधाया केन वर्णितु शक्य ॥[1]

तुलना कीजिये —

> क्व सूर्यप्रभवो वश क्वचाल्पविषया मति [2]

मदनमहोत्सव के प्रणेता श्रीकण्ठ आत्रेय गोत्र के रामाचार्य के पुत्र थे और परमेश्वराध्वरिन नामक विद्वान् के शिष्य। रसिकों के चित्तानुरञ्जनार्थ श्रीनिवासाचार्य के पुत्र रगनाथ ने 'अनगतिलकभाण' का प्रणयन किया। यह शेषनाग पर शयन करने वाले श्री रगनाथ के चैत्रोत्सव यात्रा के[3] प्रसग पर अभिनीत किया गया था। गोविन्ददेव का गोपालनीलाविलास भाण अप्रकाशित है। इसमें कवि अपने को रगाचार्य और सरस्वती का पुत्र बतलाते हैं। इनका जन्म स्थान एव काल अज्ञात है। काचीपुर के कश्यपगोत्रीय श्रीकण्ठ ने एकाम्रनाथ के वसन्तोत्सव के दर्शनार्थ उपस्थित अतिथियों के मनोरञ्जन के लिये कन्दर्पदर्पण नामक एकाकी रूपक रचा। परन्तु अब तक प्रकाशित नही हो सका है।

रसोल्लास

श्रीनिवास वेदान्ताचार्य के पुत्र और आत्रेयगोत्रीय वृषगुरू के पौत्र थे। इनके नाना हरितगोत्रीय रामानुज के वशज भक्तातिहृत थे। श्रीनिवास वेदान्ताचार्य के रसोल्लास मे कामशेखर एव मुक्तावली की प्रेम-कथा वर्णित है। यह कृति अप्रकाशित है। इसकी प्रस्तावना से विदित होता है कि इसका अभिनय स्थल भूतपुरी था।

---

१ मदनमहोत्सव

२– रघुवश सर्ग – १

३– (नान्द्यन्ते) सूत्रधार साङ्गरङ्गातरङ्ग [illegible] रङ्गनगरी। (समन्तादवलोक्य सपरितोषम्) अहो फणितमम्म मनोरथम्। यत्किल [illegible]
[illegible]
श्रीरगनाथस्य चैत्रो चैत्रयात्रा प्रसङ्गेन अनगतिलक

कालीकेलियात्रा

एक अज्ञाननामा कवि के कालीकेलियात्राभाण का नाम भी मिलता है जो कोटिलिंग में छोटे युवराज की आज्ञा से भद्रकाली के सम्मान में खेला गया था। इस भाण के नामार्थ में ही काली के[1] उत्सव की कथा छिपी हुई है। धनगुरुवय कौशिक गोत्र के वरदगुरु के पुत्र थे। ये भाव्य संग्रह, सारार्थ संग्रह आदि ग्रन्थों के प्रणेता और नन्दपविजय भाण के कर्त्ता भी थे। श्रीराम् के प्रभु रंगनाथ के दोलोत्सव में इसका अभिनय हुआ था।

रसरत्नाकर

नारायण के पुत्र जयन्त ने रसरत्नाकर भाण का प्रणयन किया। यह राजा वाचीभूपाल[2] की आज्ञा से श्रावनकोर में अभिनीत हुआ था। इसके अतिरिक्त शृंगारविलासभाण का नाम भी मिलता है। इसके रचयिता साम्बशिव, श्रीवत्सगोत्रोद्भव कनकसभापति के ज्येष्ठ पुत्र थे। इस भाण के लेखक गोपालसमुद्रम् नामक गाँव में रहा करते थे। ये भरद्वाजगोत्रसम्भव अपादुधारण के पुत्र स्वामिशास्त्री के सुपुत्र थे। मानविक्रमहाराज की सभा के सामाजिकों के प्रीत्यर्थ इसका अभिनय हुआ था।

कतिपय दीपकहीन भाणों में से एक भाण के खण्डितांश को देखने से केरल के राजा रामवर्मा के नाम का पता चलता है।[3] इसी प्रकार की

१- तथापीदमस्तु –
श्रीकोटिलिङ्गनिलये सनत लसती श्रीकण्ठदेवदुहिता परिपातु लोकान्।
क्षोणीतले च तुलितामृतसारवेणी वाणी विराजतु चिराय महाकवीनाम् ॥
कालीकेलियात्रा

२- किं किं नैनत् केतु-द्वयन् पश्य . .
वाञ्चीशस्य प्रतापानल . राजच्छलेन। रसरत्नाकर.

३- किंच-यावत्खण्डेन्दुमौलि श्यतिगिरिसुता यावदास्ते मुरारे.
वक्षस्यक्षीणहारेवहुमणिशबले देवता मङ्गलानाम्।
यावद्वक्त्रे (च) मंदं नुपनयति गिरामीश्वरी पद्मयोनेः
तावल्लदभोप्रभृति स्वयमवतु भुव रामवर्मानरेन्द्र।

एक अज्ञात कृति मे राजा रविवर्मा का उल्लेख मिलता है।

भाणों के अन्तर्दर्शन एवं शास्त्रसम्मत लक्षणो के मनन के आधार पर संक्षेप में इसके ये लक्षण मिलते हैं।

(क) यह प्रकृत्या वर्णनात्मक होता था।
(ख) प्रायः इस प्रकार की रचना आदि से अन्त तक संस्कृतमय हुआ करती थी।
(ग) स्वरूप मे यह एकपात्रीय रूपक होता था।
(घ) इसकी कथा-वस्तु अविकल्पित एवं धर्मनिरपेक्ष हुआ करती थी।

भाण साहित्य के सम्यगवलोकन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि शृंगारसाहित्य पर वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रभाव व्यापक रूप से पड चुका था। वाजसनेयी संहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में वेश्याकर्म के जो संकेत मिलते हैं वे मानो भाणो में साकार दिखाई देते हैं। नाट्यशास्त्र में भी विटो की ठीक ठीक व्याख्या नही हो पाई है। विट एवं वेशवधुओं के जीवन पर भाण साहित्य के अध्ययन से बहुत कुछ प्रकाश पडता है। यथा—वेश में प्रचलित सहपीति (स्त्री के साथ शराब पीने की प्रथा) तथा वेश-समाज की पद्धति की ओर कतिपय भाणो एवं वेश-सम्बन्धी काव्यों मे संकेत किया गया है। भोग विलासिता के कारण निर्धनता का उल्लेख भी एकतन्त नाटकों में है। बहुत से कामी दूसरे के साथ विलास में रत कामिनी को छोड बूढ़े विटो के सामने किसी गणिका को पराजित कर उससे दुगुना पैसा वसूल किया करते थे। कुट्टिनीमत[1] में वटोरक्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार अपने प्रति अन्याय देख कर कोई भी विट मण्डप मे पहुँच कर विट महत्तरो (वृद्ध विटो) को एकत्र करके अन्याय का फैसला करवाता था। पादताडितक

१— विभ्रमवियरस्तास कनमेतश्चदुामुच्यते मदिरा
स्वकरेण पतिशेषा मदघूर्णित-मदनसेनयादत्ता ॥ कुट्टनीमत – पृ० ३५०
उचितामापरेण समं वृद्धविटाना पुरः पराजित्य।
पूर्वपतिस्म भुजङ्ग कश्चिद्गणिका द्विगुणमाद्या ॥ कुट्टनीमत पृ० ७६

दशात्मजा सुन्दरि योगतारा
किं नैव जाता शशिनमजन्ते।
आमह्वने वै सहकारवृक्ष
किं नैकमुनेन लताद्वयेन ॥[1]

पद्मप्राभृतक में मूलदेव जब अपनी एक प्रेमिका को छोड़ दूसरी के पास जाने की बात कहता है तो उसकी पत्नी प्रवनी उसे इन्हीं दूत वचनों के माहात्म्य में दोनों के साथ निर्वाह करने की सलाह देती है। इसके अतिरिक्त भाणों में ऐसी लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं जो वेश्याओं से सम्पर्क रखने वाले कामुकों एवं वारवनिताओं के जीवन का सार प्रकट करती हैं।

(१) गोपालकुल तक्रविक्रय क्रियते।
(२) न दीपनाग्निभागश क्रियते।
(३) मदनीय खलु पुराण मधु।
(४) मृतमपि पुरुष सञ्जीवयेद्वेश्यामुखरत।
(५) शिरोवेदना नाम गणिकाजनस्य लक्ष व्याधि मौतवम्
(६) सहितमिव नष्ट तप्तेन।
(७) सुमनसो मुसलेन माक्षोत्सो।
(८) पिता नाम खलु स यौवनस्य पुष्पस्य मूर्तिमान् शिरोरोग।
(९) लघुरपोऽपिबलवान् मदनव्याधि
(१०) अत्यन्त विषयाभिलाषिता नाम देहभाजामन्धकरणी काचन पिशाचिका
(११) नखलु शरीरान्तरसन्तरेण वयसा तादृशत्व सभवति।
(१२) सिद्धे पुनर्विचेष्टन्ते विपरीत हि योषित।

उत्तरकालीन भाणों का कथानक, लेखनशैली, वर्णन-प्रकार बिल्कुल मिलते जुलते हैं। चतुर्भाणी की शैली इनसे भिन्न है। आगे चल कर भ्रष्ट शृगार का वर्णन भी भाणों में होने लगा। अत मौलिकता के अभाव को देख कर प्रेक्षक एवं पाठक इनसे ऊब उठे और इनका प्रचार कालान्तर में कम होने

1- पद्मप्राभृतक १४२, पृ० ५८

लगा। फिर भी भाण साहित्य की वीथी एकदम सूनी नहीं रही। सन् १६३८ ई में कुम्भकोणम् के सुदर्शन शर्मा ने शृंगारशेखर एवं सन् १६५१ ई में श्राइ. महालिंगशास्त्री ने "मर्कटमर्दलिका" नामक भाण रच कर इस परम्परा को २०वीं शताब्दी में भी जीवित रक्खा है।

कीथ के शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा कि "भले ही भाण और प्रहसन दोनों आधुनिक नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त न हों, परन्तु शिल्प एवं सज्जा की दृष्टि से उनका अपना महत्व है।" विशेष कर आज के व्यस्त संकुल-युग में जब एकांकियों में भी एक पात्रीय रूपकों का प्रचार विश्व-साहित्य में बढ़ रहा है। इसका अनुकरण वर्तमान चित्रपटों में भी किया जा रहा है। भारत में जो लोग इस प्रकार के प्रयोगों को अपनी मौलिकता समझते हैं उनके भ्रम को दूर करने में प्राचीन भाण-परम्परा समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं।



तृतीय अध्याय

प्रहसन

"प्रहसन इस शब्द से ही हास्य के भाव की सूचना मिलती है। हस् धातु से घञ् एवं ण्यत् प्रत्यय के योग से क्रमशः हास एवं हास्य पद बनते हैं। हास शब्द काव्य-शास्त्रीय भाषा में हास्य रस का स्थायी भाव है जो एक सहज स्थिर प्रवृत्ति है।[1] इसका विभाव आचार, व्यवहार वेश विन्यास, नाम तथा

१– अथ हासो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपरवेषालंकार-धार्ष्ट्यलौल्य-कुहकासत्प्रलापव्यङ्गप्रदर्शन-दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः।
यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

नाट्यशास्त्र (गा० ओ० सी०) अध्याय ६ पृ० ३१३.

तुलना कीजिए —

But laughter, a physiological phenomenon appears earlier in a definite and recognigable form and laughter is atleast closely connected with humour.

Stephen Leacock-Humour and Humanity Page. 19

भयं आदि की विकृति है, जिसमे विकृत वेषालकार, धार्ष्ट्य, चापल्य, कलह असत्प्रलाप, व्यंग-दर्शन , दोषोदाहरण आदि की गणना की गई है। ओष्ठदशन नासा-कपोलस्पन्दन, दृष्टिसंकोचन, स्वेद, पार्श्वग्रहण आदि अनुभावों द्वारा इसके अभिनय का निर्देश किया गया है तथा व्यभिचारी भाव आलस्य, अवहित्थ, (अपना भाव छिपाना) तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया (ईर्ष्या) आदि माने गए हैं। सामाजिक हृदय मे संस्कार रूप से स्थित हास, स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से अभिव्यक्त होकर आस्वाद का विषय बन जाता है, तब उसमे प्राप्त आनन्द "हास्यरस" कहलाता है।

जीवन को स्थिर रखने के लिये जैसे षड्रसमिश्रित भोजन अनिवार्य होता है, वैसे ही उसके जीवन की एकतारता अथवा नीरसता के निवारणार्थ हास्य की आवश्यकता होती है। द्विविध (दैहिक और भावात्मक) स्वाभाविक हास्य का जो मानवजीवन में महत्वपूर्ण योग होता है, वह कल्पनातीत है। दैहिक हास्य शरीर को गुदगुदाने मे और भावात्मक अथवा साहित्यिक हास्य विचारविन्यास में प्रकट होता है। शारीरिक गुदगुदी मे उत्पन्न हँसी की अपेक्षा मानसिक गुदगुदी का जिसकी आस्वादनजा हास्यरस है, दर्जा अत्यन्त ऊंचा है। कारण, उसमें बुद्धि का योग होता है। इसका सम्बन्ध हास्यजनक परिस्थिति के ज्ञान से होता है, जिससे एक अपूर्व भाव की सृष्टि होती है।

भारतीय रस शास्त्र का प्राचीनतम इतिहास अग्निपुराण मे उपलब्ध होता है। इस पुराण के अध्ययन से मालूम होगा कि आरम्भ मे शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स, ये चार रस प्रधान थे जिनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक-इन गौण भेदों की उत्पत्ति हुई। कालान्तर मे गौण समझे जाने वाले ये चार रस प्रधान रसों के वर्ग में समा गए। साहित्य-शास्त्र के समीक्षात्मक-ग्रन्थों मे रसों की संख्या पर पर्याप्त विवादमूलक विवरण प्राप्त होते हैं। उनकी आवृत्ति करने से यहाँ कोई विशेष लाभ नहीं। भरताचार्य के अनुसार मूलभूत रस आठ ही माने जाते हैं, जिनके नाम हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। काव्य मे रस की स्थिति बड़ा महत्व रखती है।[१] उक्त आठ रसों मे शृंगार को रसराजत्व प्राप्त है। काव्य

१– न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना. शा. अध्याय ६, पृ० २७२.
वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। सा द.

स प्राप्त आनन्द का दूसरा नाम रस होता है।[१] अन्य रसो के आधारभूत अनुभव भी हो सकते है किन्तु हास्य का लौकिक और साहित्यिक अनुभव साक्षात् आनन्द का होता है। मनानुकूल अनुभव होने के कारण ही उसे शृगार का सखा कहा गया है। भरत ने तो हास्य को शृगार की अनुकृति कहा है।[२] नाट्य शास्त्र के अनुसार यह चार उपरसो की कोटि में आता है। इसकी उत्पत्ति शृगार से मानी गई है। हास्य से शृगार में सम्पन्नता आती है और उसकी श्रीवृद्धि होती है। वह शृगाररूपी आभरण का भी शृगार है।

अधिक समय तक गभीरवातावरण में रहने से मानव चित्त स्वस्थ नहीं रह सकता। शरीर-विज्ञान में निष्णात चिकित्साशास्त्रियों तथा अनुभव प्राप्त मनोवैज्ञानिकों ने भी नीरोग रहने के लिये प्रसन्नचित्त रहना आवश्यक बतलाया है। अमरिका के प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री बर्नार मैकफैडन ने अपनी पुस्तक वाइटैलिटी सुप्रीम (Vitality Supreme) में हास्य को भी एक प्रकार की चिकित्सा माना है। काव्य-प्रकाश के परिशीलन से काव्य द्वारा मयूर कवि के कुष्ठ रोग से मुक्त होने की बात की तो पुष्टि होती ही है। हिन्दी के साहित्य-जगत् में भी तुलसी पद्माकर जैसे कवियों के कविताकामिनी की सेवा के फलस्वरूप भीषण रोगों से छुटकारा पाने की चर्चा सुनने मे आती है। इन सब बातो पर विचार करके देखने पर यह कहना ठीक ही लगता है कि साहित्यकार अपने युग के समाज का मनोवैज्ञानिक-चिकित्सक भी होता है। वह जब समाज में दुराचार और कुरीतियो की वृद्धि होने देखता है तब हास्य चिकित्सापद्धति को ही अपनाता है। जिस प्रकार 'गुडजिह्विका न्याय' के अनुसार शहद-मिश्रित दवा पिलाकर रोगी को रोगमुक्त किया जाता है उसी प्रकार कुशल कवि हास्य के मधुर प्रयोग द्वारा अवगुण दूर करने में सफल होता

१– अक्षर ब्रह्म परम सनातनमज विभुम।
वेदान्तेषु वदन्त्येक चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्द सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्कार रसाह्वया। अ पुराण ३३६। १२

२– शृङ्गारानुकृतियस्तु स हास्य इति सज्ञित। ना शा ६ ४०

है। संस्कृत-नाट्य-साहित्य में प्रकरण, भाण एवं प्रहसन जैसे सामाजिक रूपकों की रचना समाज-कल्याण के उद्देश्य से ही होती थी।

संस्कृत-रूपकों में उपलब्ध हास्य के विभिन्न रूपों में एक रूप प्रासंगिक कथावस्तु के रूप में भी मिलता है। तदनुसार प्राचीन बृहन्नाटकों में नाटककार अपनी कल्पना-शक्ति से आधिकारिक कथावस्तु की आत्मा के अनुरूप हास्यात्मक प्रासंगिक कथावृत्त की सृष्टि करके उसे आधिकारिक कथानक के अन्तर्गत स्थान देते थे। इस प्रकार के हास्य-प्रदान का मुख्य लक्ष्य होता था आधिकारिक कथा-भाग के गाम्भीर्य को दूर करके उसके प्रति आदि से अन्त तक दर्शकों का आकर्षण बनाये रखना। यह कार्य विदूषक से भिन्न पात्रों द्वारा भी सम्पन्न हो सकता था। संस्कृत के प्रचुर भाण-भाण्डार की चर्चा करते समय यह कहा जा चुका है कि पहले 'प्रहसन' एवं 'वीथी' नाटक की प्रस्तावना के अंग थे जिनका प्रयोजन था प्रेक्षकों का सामान्य मनोरंजन। कालान्तर में इन दोनों ने स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लिया।

रूप-निर्देश

पूर्ण नाटकों में प्रासंगिक कथावस्तु के रूप में हास्ययोजना के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में स्वतंत्र रूप से हास्य-प्रधान एकांकी लेखन की प्रणाली देखने में आती है। इस प्रकार का एकांकी रूपक "प्रहसन" कहलाता है जिसके नाट्य-शास्त्रकार भरत ने शुद्ध तथा संकीर्ण[1] ये दो भेद लक्षण-सहित बतलाये हैं। उनके मतानुसार शुद्धप्रहसन में पाखण्डी, सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक की योजना होती है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि निम्न-कोटि के पात्र[2] भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा और बोलने के ढंग से ही डाला जाता है। भाषा एवं कथानक को आद्योपान्त समानरूप से ढोंगी लोगों के यथार्थ-जीवन के अनुरूप नियोजित किया जाता है। इसके दूसरे

१- प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च संकीर्णम्। ना० शा० १८-पृ० ४४८

२- ना० शा० १०३-१०६, अध्याय १८ पृ० ४४८-४४९

भेद सकीर्ण प्रहसन मे वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, दुराचारिणी के अशिष्ट वेश, भाषा तथा चेष्टाओ का अभिनय प्रदर्शित होता है। इसमे हँसी, दिल्लगी की बहुत प्रधानता रहती है। नायक धूर्त होता है। प्रपञ्च, छल, अधिवल, नालिका, असत्प्रलाप, व्यवहार और मृदव आदि वीथ्यगो का व्यवहार अधिकता से किया जाता है।

विभिन्न-आचार्यों के मत

भरतमुनि के आधार पर धनजय ने भी प्रहसन का यही लक्षण किया है और दशरूपक मे भाण से मिलते जुलते इस रूपक के वैकृत एव सकर नाम से दो भेद और बतलाकर आचार्य भरत के द्विविध प्रहसनो के स्थान पर इनके तीन[1] रूप कहे हैं। दशरूपककार के अतिरिक्त विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण मे भाण[2] से साम्य रखने वाले इस प्रहसनात्मक एकाकी के तीन भेदो[3] के लक्षण लगभग एक से ही किये है। शारदातनय[4] और सर्वेश्वर के लक्षण-ग्रन्थो मे भी त्रिविध प्रहसनो की चर्चा की गई है। भरत के समान नाट्यदर्पण[5] तथा सागरनन्दी[6] ने भी अपने रीति-ग्रन्थो मे प्रहसन के दो ही रूप माने हैं। सागरनन्दी ने शुद्ध प्रहसन का उदाहरण शशिविलास प्रहसन को और सकीर्ण का भगवदज्जुकम् को बतलाया है। नाट्यशास्त्रकार के द्विविध प्रहसन और अन्य आचार्यो द्वारा प्रस्तुत इस रूपक-विशेष के त्रैविध्य पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विशेष अन्तर नही जान पडता। आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से ज्ञात होता है कि इसके सकीर्ण रूप मे ही विकृत प्रहसन

१– दशरूपक ५४–५५, तृतीय प्रकाश पृ० १६०

२– सा द परि ६ २६४–६५, पृ० २६२.

३– साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद, २६६, पृ० २६८.

४– भाणवत्स्यात्प्रहसन तत्त्रिधाचारिभिर्मतं। शारदातनय।

५– वैमुख्यकार्यं वीथ्यङ्गिद्यात-कौलीनदम्भवत्।•
हास्याङ्गि भाण सध्यङ्क वृत्ति प्रहसन द्विधा ॥ ना द. २३, पृ० २३०.

६– तद्द्विविध शुद्ध सकीर्णंच। यात्र पौरब्राह्मणतापसद्विजैरपरिहास्य-कुशलैराब्धम्। सकीर्णं वेश्याविटनपुंसकादिभूषित प्रथम शशिविलासादि द्वितीय भगवदज्जुकादि। अस्य च द्वावङ्कौ भवत। मुखनिर्वहण-सधी च –सागरनदी.

के अर्थ के प्रच्छन्न होने के कारण भरतमुनि ने इसकी पृथक् चर्चा[1] नहीं की।

शारदातनय[2] ने भावप्रकाश में प्रहसन की अंक-संख्या तथा संधियों का उल्लेख करते हुए इस एकांकी का विशदविवेचन किया है। उनके अनुसार इसमें एक ही अंक होता है और मुख एवं निर्वहण संधियाँ होती हैं। उन्होंने सागरकौमुदी को शुद्ध प्रहसन तथा सैरन्ध्रिका (सौभद्रिक) को संकीर्ण एवं शशिकला को विकृत प्रहसन के दृष्टान्त-स्वरूप प्रस्तुत किया है। दशरूपककार के अनुसार ' कन्दर्पकेलि ' शुद्ध और ' धूर्तचरित " संकीर्ण प्रहसन के उदाहरण हैं।

उक्त प्राच्य एवं नव्य मतों का समाहार करते हुए प्रहसन का लक्षण इन शब्दों में अंकित किया जा सकता है —

(१) प्रहसन भाण से मिलता जुलता हास्य-प्रधान एकांकी होता है।
(२) इसके विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन नाट्यसमीक्षकों में विशेष मतभेद लक्षित नहीं होता।
(३) प्रहसन के रूपविभाजन एवं इसकी अंक-संख्या के निर्धारण के प्रश्न पर भी उनमें मतैक्य है। सामान्यतया इसमें एक अंक की ही योजना की गई है।
(४) इसमें संकीर्ण रूप में दो अंकों की सत्ता अथवा एक अंक को दो दृश्यों में विभक्त करने की चर्चा साहित्यशास्त्रों में अवश्य उपलब्ध होती है।

१- मुनिस्त्वाह —
इदं तु संकीर्णत्वेनाग्राह्यमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम्। सा द ६ २६८ पृ० २६४.
२- सैरन्ध्रिका स्यात्संकीर्णा शुद्धा सागरकौमुदी
कलिकेलि प्रहसनं स्यादुद्वैकृतमीरितम्॥ भा प्र अष्टम अधिकार पृ० २४७.

टिप्पणी —

भावप्रकाश में कहीं-कहीं सैरन्ध्रिका के स्थान पर सौभद्रिक और कलिकेलिप्रहसन के बदले शशिकला का पाठ भी मिलता है। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि सौभद्रिक सैरन्ध्रिका का और शशिकला 'कलिकेलि' का नामान्तर होना चाहिए।

इस प्रेक्ष्य काव्य के नाम से ही इसमें हास्य की प्रधानता सूचित होती है, फिर चाहे वह प्रहसन आंग्ल-भाषा में निबद्ध हो या विश्व के और किसी साहित्य में।

भरताचार्य[१] तथा प्राचीन नाट्यकला-कोविदों का अनुसरण करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस-गंगाधर में हास्य पर अपने विचार विस्तार से व्यक्त किये हैं। तदनुसार, हास्यरस दो प्रकार का होता है—पहला आत्मस्थ और दूसरा परस्थ[२]। जो हास्य विभाव (हास्य के विषय) के दर्शनमात्र से उत्पन्न हो जाता है वह आत्मस्थ और जो दूसरों को हँसता हुआ देखने से फूट पड़ता है तथा जिसका विभाव भी हास्य ही होता है अर्थात् जो दूसरों के हँसने के कारण ही होता है, उसे रस के पारखी परस्थ हास्य कहते हैं। यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं एवं उनके और भी छः भेद होते हैं यथा—उत्तम पुरुष में स्मित और हसित, तथा मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित एवं नीच पुरुष में अपहसित तथा अतिहसित होते हैं।

भावप्रकाश से स्पष्ट है कि इसका सर्वाधिक प्रयोग प्रहसनों में ही करने का अवसर मिलता है—"हास्यस्तु भूयसा कार्यं षट्प्रकारैस्ततस्ततः।" इसके अतिरिक्त अन्य साहित्य मीमांसकों ने भी इस रस विशेष के भेदोपभेदों का निरूपण किया है।[३]

१— ना० शा०-गो० ओ० सी० संस्करण अध्याय ६ ५१-५३, पृ० ३१४ १५

२— आत्मस्थ परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम्।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः॥
० ० ० ० ० ० ०
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमपुरुषे बुधैः।
भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे॥ रसगंगाधर.

३— स्मितं च हसितं चैव विहसितमुपहसितम्।
भवेत्अपहसितं चातिहसितं भवेत्।
षड्भावसंश्रितं हास्यमेवं षड्विधमुच्यते॥ भावप्रकाश.

इन प्रसगो मे इतना स्पष्ट है कि भारतीय रसिक-समुदाय शिष्ट एव अशिष्ट हास्य के पार्थक्य से भली प्रकार परिचित था। हास्य-साहित्य के प्रणयनकार से जरा-सी असावधानी से कोई सुदर काव्य-कृति अश्लीलता का रूप धारण कर लेती है। इस सूक्ष्म रहस्य को भी भारतीय साहित्याचार्य समझते थे। *हास्य प्रधान कृतियो म प्रयोक्तव्य पात्रो का वर्ग भी निश्चित था* जिसका सकलन जगद्धर ने अपनी रचना मे किया है। यथा —

स्त्रीनीचबालमूर्खादि विषयो हास्य इष्यते।
प्रहासश्चातिहासश्च धीराणा नैव दृश्यते॥

रसो की मीमासा के प्रसग मे भरतमुनि शृगार से हास्य की सृष्टि मानते हैं।[१] शारदातनय के अनुसार हास्य चित्त का विकास है जो प्रीति का विशेष रूप है।[२] वह रजोगुण के अभाव और सत्वगुण के आविर्भाव से हास्य की सम्भावना घोषित करते हैं।[३] निस्सदेह प्रिय चित्तानुरजक होने के कारण हास्य का शृगार से निकटतम सम्बध है। किन्तु इसका क्षेत्र सकुचित नही है। इसके विस्तृत सीमा क्षेत्र को देख कर इसे केवल शृगार मे ही सीमित करना उचित नही। हास्य के विभागो के मूल म अनौचित्य ही एक कारण है और यह प्राय सब रसो के विभाव अनुभाव आदि मे हो सकता है। अनौचित्यमूलक रसपरिपोषण मे सवत्र हास्य उत्पन्न हो सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती मे इस तथ्य की ओर सकेत किया है।[४] उन्होने सब रसो के आभास (रसाभास) से हास्य की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार करुण वीभत्स आदि रसो से भी विशेषपरिस्थिति मे हास्य की सृष्टि हो सकती है —

---

१ शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ॥ ना शा अध्याय ६ ३ पृ० २ ५

२- प्रीतिविशेष चित्तस्य विकासो हास्य उच्यते। भावप्रकाश

३- स शृङ्गार इतीरित
तस्माच्च रजोहीनत्वाद् हास्य सम्भव। भावप्रकाश

४- अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्य विभावत्वम्।
सर्वपुरुषार्थ व्युत्पाद्य। ना शा अध्याय ६ पृ० २९६

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् ।"

भरत ने कहा है कि दूसरों की चेष्टाओं के अनुकरण[1] से "हास" उत्पन्न होता है जो स्मित हास एवं अतिहसित के द्वारा अभिव्यक्त होता है। भरत के त्रिविध हास को हास्य के स्थायी भाव 'हास' से भिन्न समझना चाहिये। नाट्य को ही दूसरे शब्दों में अनुकरण कहते हैं और हँसी की जड़ है अनुकरण। भरत के इस कथन में हास्यप्रधान अभिनेय काव्य में नाटकों के प्रारम्भ होने की बात भी पुष्ट होती है। हास्य-युक्त अनुकृति अभिनय द्वारा अनुकार्य और अनुकर्त्ता की एकता प्रदर्शित करने से पूर्ण होती है तथा सुखात्मक होने के कारण लोकप्रिय भी। हमारे आचार्यों ने चार प्रकार के अभिनय बतलाये हैं—आंगिक वाचिक आहार्य (वेश-भूषा धारण करके) और सात्विक (सात्विक भावों का प्रदर्शन करने वाला)। हास्य इस चतुर्विध अभिनय में आश्रित है।[2] आंगिक अभिनय नकल के सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित है। वाचिक के अन्तर्गत वाग्वैदग्ध्य इत्यादि, तथा आहार्य में रहन सहन की असम्बद्धता सम्मिलित है। अपकर्ष तथा विपर्यय द्वारा हास्य का उद्रेक किया जाता है। अनुकरण के द्वारा लौकिक वस्तु भी अलौकिक बन जाती है। वह साधारण लोक की परिधि से निकल कर कला का रूप धारण कर लेती है। इस नकल के कारण दोष भी मारषक बन जाता है।

विट विदूषकादि अपनी हँसने-हँसाने की कला में दक्ष होते थे और जनता का मन बहलाने के साथ-साथ वेशवनिताओं को कामतन्त्र कला की शिक्षा भी दे सकते थे। विदूषक की लाल आँखों तथा लम्बे दाँतों आदि के द्वारा हँसी के मूल में प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक हाब्स का सिद्धान्त है—

"The passion of laughter is nothing else but sudden glory arising from sudden conception of

---

१- परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः॥ ना. शा. ७, १० पृष्ठ ३५१

२- भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्य सात्त्विकस्तथा॥ स. द ६, २, पृष्ठ २७२

some eminency in ourselves by comparing with the infirmity of other or with our own formerly.... ..."

भारतीय आचार्यों के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानो ने भी हास्य के तत्वो की विशद व्याख्या की है और उसके सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चित किये हैं। सत्रहवीं शताब्दी में "हास" के अनायास उत्कर्ष का विशेष महत्व रहा है। शरीर-विज्ञानवेत्ता अतिशय शक्ति के उद्रेक को ही हास का कारण मानते हैं। उन्नीसवी शताब्दी के विख्यात मनोवैज्ञानिक स्पेन्सर ने असगति के निरोक्षण को ही हास का कारण बतलाया है। इसका एक कारण विपयय भी माना जाता रहा है। इसमे परिस्थितियाँ विपरीत होती हैं। बच्चो को अपने वृद्ध गुरुजनो को पढाते देख अनायास ही हँसी आ जाती है।

विकासवादियो का मत इससे कुछ भिन्न है। वे हास्य को हर्ष का व्यक्त रूप बतलाते हैं। आधुनिक फ्रासीसी दार्शनिक बर्गसन का हास्य सिद्धान्त "आवृत्ति और विपर्यय" पर आधारित है। ये हास्य नामक मानवीय प्रवृत्ति की गति सम्पूर्ण जीवन मे मानते हैं। अतएव जीवन के विकास के साथ ही हास्य के क्षेत्र में भी विकास हुआ है। इस प्रकार हास्य की उत्पत्ति के मूल कारण के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। प्राचीन भारतीयो ने उसे राग से उत्पन्न माना है तो फ्रायड आदि आधुनिक पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने उसे द्वेष-भावना से निष्पन्न।

आग्ल साहित्य मे प्रहसनो का मूल विषय मनुष्य की मानवी भावनाएँ हैं। लोभ, गर्व, अह-भावना, प्रतिहिंसा आदि को लेकर उत्तम प्रहसनों की रचना हुई है। अग्रेजी नाट्यकार प्राय सौन्दर्य, ज्ञान और धन का गर्व, मानसिक कुण्ठता, असगति, अनैतिकता, मूर्खतापूर्ण कार्य, मद्यपान, विदूषक आदि विषयो को प्रहसन के लिए उपयुक्त समझते हैं। गुण एव उद्देश्य तथा उपकरण के अनुसार हास (Comic) के चार भेद माने गये हैं।–(१) शुद्ध-हास, (२) भ्रान्त-हास, (३) उपहास और (४) वाग्वैदग्ध्य। नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से अग्रेजी-नाट्य-जगत् में चतुर्विध प्रहसनो का उल्लेख मिलता है – (१) परिस्थिति-प्रधान, (२) चरित्र प्रधान, (३) कथोपकथन प्रधान और

(४) विदूषक प्रधान। चाहे जिस किसी दृष्टि से हास्य पर विचार किया जाय या हास्य प्रधान रूपकों का विभाजन किया जाय, हम हास्य वृत्ति को असंगति से पुष्ट होता देखते हैं। यह वृत्ति आनन्द, आवेग, मात्सर्य, चापल्य आदि भावनाओं में पूर्ण रहती है। स्पेन्सर के अनुसार शरीर व्यापार में ज्ञान तन्तुओं की उत्साह शक्ति उच्छ्वसित हो उठती है। वह हास्य होता है।

"Laughter is merely an overflow of superfluous nervous energy."

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार हास्य के ये चार रूप होते हैं —
(१) हास्य (Humour) (२) वाक्चातुरी (Wit) (३) व्यंग्य (Irony) (४) वक्रोक्ति (Satire)।

प्रहसन-साहित्य में हास्य के इन रूपों के दर्शन होते हैं। भारतीय साहित्याचार्यों के अनुसार प्रहसनकार को अपनी हास्य प्रधान कृतियों में उपर्युल्लिखित छः प्रकार के हास्य हसित, उपहसित आदि का यथास्थान उपयोग करना चाहिये। साहित्य-शास्त्र में हास्य-विषयक विवेचन नर्म-वृत्ति के अन्तर्गत किया गया है। प्रपञ्च, वाक्केलि, नालिका आदि नामकरण करके उनके भेदोपभेद की कल्पना और विवेचना की गई है। शब्दवैदग्ध्य मुख्यतः यमक, श्लेष आदि पर आश्रित रहता है। इस प्रकार साहित्यिक हास्य विचार-विन्यास में प्रकट होता है।

हास्य सर्वव्यापी होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इसकी व्यापकता पर नाट्यशास्त्र की टीका में यथास्थान प्रकाश डाला है। विश्व की विभिन्न भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, संस्कृत, हिन्दी आदि) के व्यंग्य-विनोद साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्यक्ष हो जाता है कि संसार के प्रहसन-लेखकों की विचार पद्धति में साम्य है। विश्व के समस्त साहित्य में विपरीतता, असंगति एवं असम्बद्धता ही हास्य का कारण मानी गई है। कलाकार को स्थान और काल की सीमाओं में बाँध कर नहीं रक्खा जा सकता। वह विपरीतता आदि से हास्य की सृष्टि करके जीवन को उदार आनन्द प्रदान

करने की चेष्टा करता है ।[1] इस प्रसग में अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत किये गये "अनौचित्य"[2] पद का स्मरण हो आता है। क्षेमेन्द्र और भरत भी नवंत्र औचित्य के अभाव को हास्यास्पद बतलाते हैं । "विकृताकृति वाग्वि-शेषैरात्मनोऽथपरस्य वा" भरत के हास्योत्पत्ति विषयक इस कथन मे पाश्चात्य एव परवर्ती भारतीय आचार्यों के सब मतों का समावेश हो जाता है।

बहुत से विद्वानो के हास्य को व्यर्थ समझकर इसे धिक्कारने के उपरान्त भी मनोरञ्जन के साथ-साथ समाज में प्रचलित विकृतियों को दूर करने के लिए विश्व-साहित्य मे प्रहसनो की रचना होती रही है । ऐसी कृतियों के आलम्बन के रूप मे प्राय. असगतियुक्त सामाजिक कुरीतियाँ ही उपलब्ध होती हैं । अन्तर केवल हर देश की समस्याओ मे होता है ,जिनका प्रभाव वहाँ के साहित्य पर पड़े बिना नही रहता । उदाहरणार्थ—हिन्दी प्रहसनो में घरेलू समस्याएँ अधिक मिलेंगी तो अग्रेजी—नाट्य मे सामाजिक । सस्कृत साहित्य राजाश्रय मे पनपा जबकि सामाजिक स्थिति आज की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त थी, इसलिए इसके प्रहसनो में हास्य-मिश्रित श्रृगार का चित्र ही मिलता है ।

असगति, विपरीतता, अनौचित्य एव असम्बद्धता मे उत्पन्न होने के कारण यह नही समझना चाहिये कि हास्य सदा अश्लील वर्णन करता है अथवा प्रकृति के विपरीत बातें बतलाकर समाज का अहित करना चाहता है । वस्तुत- हास्य के आलम्बन मे निहित विषमताएँ, विकृतियाँ एवं असगतियाँ अनिष्टकारी नहीं होती । हास्य के देवता शिव के प्रमथ गण माने जाते हैं और उनका वर्ण सित समझा जाता है[3] । जिस प्रकार शिव के भक्त-गण

१- Humour may be defined as the kindly contemplation of incongruities of life and artistic expression thereof...... *Humour and Humanity. Stephen Leacock, Page 11.*

२- अनौचित्य-प्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम् ।...

ना. शा. अध्याय ६, पृष्ठ २९६.

३- ना. शा. अध्याय ६, ४२-४४.

बाहर से भयकर विकृत प्राकृति वाले होने पर भी भोले भाले और कल्याणकारी होते हैं उसी प्रकार हास्य अशिव चित्रण करके भी समाज के शिव के लिए तत्पर रहता है। इसीलिए प्रहसन साहित्य मे उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सभवत इसी कारण इस प्रकार के एकाकियो के प्रारम्भ मे शिव की ही स्तुति मिलती है।

भारतीय साहित्य मे आनन्दस्वरूप रस की प्रधानता होती है इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक जिस दुख मिश्रित हास्य को हास्य के भेदो मे स्थान देते हैं उसका प्राचीन नाट्यसाहित्य मे अभाव है। सस्कृत रूपक प्राय सुख प्रधान होते हैं, जिनमे हास्य एव रोदन का मनोहर मिश्रण उपलब्ध होता है।

'प्रहसन' नामक एकाकी रूपक के लक्षणो और प्रथम अध्याय मे उल्लिखित प्रहसनात्मक रचनाओ की नाममालिका को देखकर भी – बहुत से आलोचको का यह कहना कि 'सस्कृत मे अलग से प्रहसन लिखने की परम्परा ज्ञात नही होती,' न्यायसगत प्रतीत नही होता[1]। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्यकारो पर हास्य साहित्य के प्रति वैमुख्य का आरोप भी बहुत युक्तियुक्त नही लगता। यद्यपि आज प्रहसनों की अत्यल्प सख्या उपलब्ध होती है, तथापि उक्त प्रहसन पुञ्ज के आधार पर हम निस्सकोच कह सकते हैं कि यह प्रेक्ष्य-व्यग्य साहित्य केवल लक्षण ग्रन्थो में ही निहित नही था। नाट्यकारो ने इस प्रकार की रचनाएँ रच कर इस परम्परा को व्यवहारिक रूप भी दिया था। भारतीय साहित्य-कानन प्रहसनरूपी पुष्पो से दर्शको का मन हर लेने मे समर्थ था।

१– (क) सस्कृत साहित्य मे अलग से प्रहसन लिखने की साहित्यिक परम्परा ज्ञात नहीं होती। एस पी खत्री –नाटक की परख, पृष्ठ २३४

(ख) सस्कृत परम्परा में प्रहसन कम मिलते हैं।

राजेन्द्रसिंह गौड –हमारी नाट्य साधना, पृष्ठ २०६

(ग) सस्कृत साहित्य में अलग से प्रहसन लिखने की परम्परा ज्ञात नहीं होती।

डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य मे हास्यरस, पृष्ठ ७८

डॉ० कीथ[1] जैसे विचारकों द्वारा आक्षिप्त प्रहसनों का लक्ष्य कभी-कभी हास्य के माध्यम से प्रेक्षकों का मनोरञ्जन करना ही प्रतीत होता है तथापि समाज-सुधार की प्रेरणा भी इस कोटि के नाट्य-साहित्य में सन्निहित है। निम्न पात्रों से युक्त तथा अधम कोटि की वण्य-वस्तु प्रस्तुत करने वाले इन प्रहसनों में उनके प्रणयनकालीन समाज में प्रचलित पाखण्ड, कदाचार आदि विकारों के दुष्परिणामों को मञ्च पर प्रत्यक्ष देख कर दर्शकों के हृदय में सामाजिक बुराइयों के प्रति वैमुख्य भाव (अनादर भाव) का उदय स्वयमेव होने लगता है। सहृदयों के हृदयावर्जन की इस क्रिया को अभिनवगुप्त साधारणीकरण के तथा अरस्तू जैसे पाश्चात्य विद्वान् रेचनवाद के सिद्धान्त द्वारा सिद्ध करते हैं। मम्मट का 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। अतः प्रहसन-साहित्य की सर्वथा में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कृत के प्रहसनात्मक नाट्य साहित्य में प्रायः अश्लील हास्य के अतिरिक्त चार्वाक, जैन, बौद्ध एवं कापालिक आदि वेद विरोधी धर्मानुयायियों के प्रति किये गये मार्मिक व्यंग्यात्मक आक्षेपों के कारण इस कोटि के एकांकियों की बड़ी ख्याति रही है। श्रोता के लिए अलौकिक सुखदायिनी हँसी की पिचकारियाँ भी इनमें भरी पड़ी हैं। भाण और प्रहसन लगभग एक ही कोटि की रचनाएँ हैं। इनके संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पूर्व पृष्ठों में भाण-साहित्य को 'प्रहसन' की अपेक्षा उत्कृष्टतर का बतलाया जा चुका है। विस्तारभय से प्रस्तुत अध्याय में सबके सब उपलब्ध ग्रन्थों की विस्तृत चर्चा नहीं की जा रही है। सामान्य पाठकों के समक्ष साहित्यजगत् में मान्यता-प्राप्त कतिपय प्रहसनों का परिचय प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा।

दामक प्रहसन

नाट्य साहित्य के आद्यप्रवर्तक महाकवि भास ने संस्कृत नाट्य-संसार को तेरह नाटकों के रूप में एक अमूल्य निधि प्रदान की है। श्री रामकृष्ण

1- The Prahasans and Bhanas are hopelessly coarse from modern Europe stand point, but they are certainly often in a sense artistic productions

The Saskrit Drama Keith, Page 264

कर्ण की कथा का ही सहारा लिया है। इतना ही नही इसमे कर्णभार के वाक्य भी मिलते हैं।

प्रथम – सखे दुर्मुख ! अपि ज्ञातम् ?

दुर्मुख –किमिति किमिति ।

दुर्बुद्धि – अस्माक महाराजोऽङ्गराज फलमूल–समित्कुशकुसुमाहरणाय भगवता गुरुणा जामदग्न्येनानुगत । तत स गुरु–वनपरिभ्रमण-परिश्रमात् महराजस्याङ्के निद्रामुपगत ।

दुर्मुख – ततस्तत ।

दुर्बुद्धि – ततश्च

कृत्तो वज्रमुखेन नामकृमिणा दैवात्तदूरुद्वये ।
निद्राच्छेदभयादसह्यत गुरोर्धैर्यात्तदा वेदना ।
उत्थाय क्षतजानुत स सहसा रोषानलोद्दीपित
बुद्ध्वा त च शशाप कालविफलान्यस्त्राणि ते सन्त्विति ॥
अहो कष्टमभिहित तत्र भवता । गच्छाव [1]

तुलना कीजिये–

को भवान् किमर्थमिहागत इति[2]–(तत प्रविशति परशुराम)

कर्ण – भगवन् वन्दे ।

परशुराम – को भवान् ? किमर्थमिहागत ?

कर्ण – अखिलानि अस्त्राण्युपशिक्षितुमिच्छामि ।

परशुराम – ब्राह्मणेभ्यपदेश करिष्यामि, न क्षत्रियाणाम् ।

कर्ण – नाह क्षत्रिय ।

परशुराम – तर्हि उपदिशामि ।[3]

कर्ण – तत भगवन् अखिलान्यस्त्राण्युपशिक्षितुमिच्छामीत्युक्तवानस्मि ।

. . ..

कर्ण – तत उक्तोऽह् भगवता ब्राह्मणेभ्यपदेश करिष्यामि न क्षत्रियाणामिति ।[4]

शल्य – अस्ति खलु भगवत क्षत्रिय–वैश्यं पूर्ववैरम् । ततस्तत ।

१– दामक प्रहसन

२– कर्णभार-पृष्ठ ६

३– दामक प्रहसन

४– कर्णभार १०

कर्ण – ततोनाहं क्षत्रिय इत्यस्त्रोपदेशं ग्रहीतुमारब्धं मया।...तत कतिपयकालातिक्रमे कदापि, समित्कुशकुसुमाहरणाय गतवता गुरुणा सहानुगतोऽस्मि।

शल्य – ततस्तत ।

कर्ण – तत स गुरुर्वनभ्रमणपरिश्रमान्मदङ्के निद्रावशमुपगत ।

शल्य – ततस्तत ।

कर्ण – तत —

कृत्तो वज्रमुखेन नामक्रमिणा दैवात्तदूरुद्वये
निद्राच्छेदभयादसह्यत गुरोर्धैर्यात्तदा वेदना ।
... .[1]

यह ठीक है कि दूतवाक्य, मध्यम व्यायोग आदि भासनाटक–चक्र मे परिगणित नाटकों के समान काव्य–सौंदर्य इसमे नही निखर पाया है नाट–कीय सविधान की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं है तथापि इसे भास की रचना मानने मे कोई आपत्तिजनक बात प्रतीत नही होती । कोई भी कलाकार आरम्भ में ही किसी कला के क्षेत्र मे नैपुण्य-लाभ नही कर लेता । अत भास-नाटकचक्र के नाटकों की विशेषताओं से युक्त दामक प्रहसन दूतवाक्यकार भास की प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है । यह पञ्चरात्र, कर्ण–भार आदि रचने से पूर्व की रचना मालूम होती है । ऐसा लगता है, कवि के मन मे कर्ण के चरित्र को चित्रित करने की इच्छा लम्बी अवधि से रही होगी जो इस रूपक मे *धुंधली सी दिखाई देती है । आगे जाकर वही परिष्कृत एव* विकसित होकर कर्णभार एव पञ्चरात्र में चमकी और पनपी है ।

प्रसगवश कवि ने इसमे प्राचीन भारतीय गुरुकुल तथा आश्रमवासियों का तपोमय जीवन चित्रित किया है, जिस पर भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' की छाया स्पष्ट लक्षित होती है । भारत की तत्कालीन सस्कृति की यह अद्भुत झांकी है । इसकी कतिपय पक्तियां कालिदास की पक्तियों से मिलती जुलती हैं ।

(परिक्रम्याश्रममवलोक्य)

भो सर्वजनसाधारणमाश्रपद नाम ।

१– कर्णभार-१० पृष्ठ ११.

सन्धुक्षिताग्निहोत्रधूमावलोकः । अत्र खलु सौरज्योत्स्नावमना
चिरकालादुपनिवृत्तनिष्क्रमणाग्निरुषा कृपातर प्रतिपन्नाँ खगाः.
वासकर्माणि सर्वाणि, सलिलमवगाह्योत्थायोदकमुपस्पृशन्ति ।
तत्र सन्ध्याहोत्रव्यग्रा मुनिजनाः । अत्र हि प्रदीप्तोऽग्निर्भाति ।
वैतानवह्निमुखश्च धूमो प्रविचरति मुनिवनम् ।[1]

तुलना कीजिये –

खगा वासोपेता सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥[2]

इसका नान्दी-श्लोक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है ।

सुवर्णपुष्पीं ब्रह्माणीं ब्रह्माणं च कुमारकम् ।
सर्वाश्च देवता वन्दे वन्दे सर्वांश्च तापसान् ॥[3]

महेन्द्रविक्रम के मत्तविलास में भी इसके वाक्य मिलते हैं ।

आ एष दुष्टकुक्कुरः अस्मत्कपालभाजनात् पिशितखण्डं गृहीत्वा धावति ।
दास्याः पुत्र ! कुत्र गमिष्यसि । तत् दण्डेन ताडयामि ।
स्मिन्नगोष्ठी कपालकाद् गृह्य खण्डं मार्गेण शीलमर्दनस्य घटोत्कच
इव ।[4]

तुलना कीजिये —भो एवं दुट्ठ कुक्कुरो[5]

इस प्रकार दामक-प्रहसन एक प्राचीन कृति मालूम पड़ती है और श्री रामकृष्ण कवि ने भी इसे भास का चौदहवाँ नाट्य-ग्रन्थ माना है। इसे भास की रचना मान कर ही प्राचीनतम रूपक होने के कारण यहाँ इसकी सर्वप्रथम चर्चा की गई है। काव्य कला की दृष्टि से यद्यपि यह कोई अपूर्व रचना नहीं है तथापि प्राचीन प्रहसनों की प्रतिनिधि होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

१- दामक प्रहसन
२- स्वप्नवासवदत्तम्, अङ्क १-१६ पृष्ठ ५७.
३- अर्थशास्त्र कौटिल्य चतुर्दशाधिकरण, पृष्ठ ४४२.
४- दामक प्रहसन पृ० १.
५- मत्तविलास प्रहसन (विद्याभवन ग्रन्थमाला -१३२) पृ० ३२-३३.

अब तक के विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृत नाट्य-वाङ्मय में प्रहसन साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है जिनमें समाज में रहने वाले ढोंगियों के मतों की खिल्ली उड़ाई गई है। उनके आडम्बरपूर्ण सिद्धान्तों की बुराइयों की ओर जिनसे जनता में अनाचार फैलने की आशंका है बड़े हृदय-स्पर्शी वाक्यों में संकेत किया गया है। इन प्रहसनों से तत्कालीन समाज तथा धर्म की स्थिति का ज्ञान होता है।

मत्तविलास

ऐसे उपयोगी प्रहसनों में 'मत्तविलास प्रहसन' का नाम मुख्य है। इसके लेखक काञ्ची के पल्लव-वंशीय सिंहविष्णु वर्मा के पुत्र महेन्द्रविक्रम वर्मा थे, जिनका समय सप्तमशतक का प्रथमार्ध माना जाता है। इनका संक्षिप्त नाम महेन्द्र प्रतीत होता है। इनके प्रहसन को पढ़ने से ज्ञान होता है कि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें शत्रुमल्ल और सकल गुणों की खान होने के कारण गुणभर एवं अवनि-भाजन आदि उपनामों से विभूषित किया गया था। त्रिचिनापल्ली की गुफाओं के दो शिलालेखों में भी लिखा मिलता है कि ये पल्लव-वंशीय राजा थे और उनकी एक उपाधि शत्रुमल्ल भी थी। स्थापनास्थित नान्दी-वाक्यावली से उनके मत्तविलास और गुणभर उपाधिधारी होने का बोध भी होता है।

महेन्द्र-विक्रमन् के मत्त-विलास प्रहसन में कापालिक शाक्यभिक्षु तथा पाशुपत का परस्पर संघर्ष बड़ी सरल-भाषा में दिखलाया गया है। इसकी कथा इस प्रकार है —

> मधुपान के कारण नशे में चूर किसी युवती और कापालिक के हाथ से एक कुत्ता उनका कपाल-भाजन छीनकर भाग गया। किसी दूसरे शाक्यभिक्षु के हाथ में उसी प्रकार का कपालपात्र देख कर वह मदमत्त युगल उसे चोर समझ कर उनसे झगड़ पड़ता है। उनके साथ का विवाद और विवाद के निर्णयार्थ उनका पाशुपति के आश्रम में जाना आदि बातें इस प्रहसन में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित हैं। इसकी कथावस्तु हास्य रस के अनुरूप ही है।

इस प्रहसन मे कापालिक, पाशुपत, शाक्य भिक्षु, उन्मत्तक आदि अनेक दाम्भिको की परिहास-केलि हास्यरस के परिपोषण मे वर्णित हैं।

मत्त-विलास मे चरित्र-चित्रण

सदा कपाल (खप्पर) धारण किये रहने के कारण इसके प्रमुख पात्र का नाम कापालिक है। इसकी पत्नी का नाम देवसोमा है। कपाल के खो जाने पर वह उससे खेद के साथ पूछ उठता है —"कैनार्हमिदानी कपाली भविष्यामि ? सुरापान के आदी कापालिक के लिए सुरा और स्त्री-समागम मानो मोक्ष का खुला द्वार है। उसके धार्मिक सम्प्रदाय के आद्य मार्गदर्शक भोले-नाथ शङ्कर ही हैं। इसीलिए वह भगवान् शिव की जयजयकार करता है— " दीर्घायुस्तु भगवान् स पिनाकपाणि। " इसी सन्दर्भ मे वह दुखहेतुक मोक्ष का स्वरूप बतलाने वाले जिन-भगवान् को मिथ्यादृष्टि तथा " वराक " आदि शब्दो से सम्बोधित करता हुआ जिनदेव के अनुयायियो का उपहास भी करता है—

कार्यस्य नि सशयमात्महेतो
सरूपता हेतुभिरभ्युपेत्य ।
दुखस्य कार्यं सुखमामनन्त
स्तेनैव वाक्येन हृता वराका ॥[1]

कापालिक इनका नाम लेने के कारण अपवित्र हुई जिह्वा का प्रक्षालन सुरा द्वारा करने की इच्छा प्रकट करके जैनी तीर्थङ्करों की आचार-पद्धति पर भी आक्षेप करता जाता है।

वह परमशत्रु शाक्यभिक्षु द्वारा अपहृत कपाल के अभाव मे भी अपना मानसिक सन्तुलन खो नही बैठता। अपनी प्रियतमा देवसोमा के कहने से विवाद को शक्त बनाने के लिए मदिरापान करते समय शाक्यभिक्षु की उपेक्षा नही करता। "शेषमाचार्याय प्रदीयताम् " इन शब्दो से उसकी शालीनता प्रकट होती है। खप्पर को एक पागल के पास से पुन प्राप्त करके हर्षोन्मत्त

१- मत्तविलास ८

होकर भी पाशुपत के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नही भूलता । इसका सारा श्रेय वह उन्हे ही दे देता है । उनका आदेश और सत्परामर्श पाकर अपने विरोधी के सामने अपराध स्वीकार कर लेता है । इस प्रकार इस प्रहसन के नेता कापालिक के जीवन चरित्र मे तद्युगीन सामाजिक तथा धार्मिक कटुता के साथ ही साथ सुव्यवस्थित शालीनता की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है ।

पाशुपत

मत्तविलास प्रहसन के तृतीय दृश्य मे कापालिक और बौद्धसन्यासी शाक्यभिक्षु के उग्र विवाद के समय निर्णायक के रूप मे पाशुपत के दर्शन होते हैं । कापालिक तथा शाक्य भिक्षु का सम्पूर्ण विवरण तत्परता-सहित सुनने के उपरान्त वह न्यायालय मे जाकर दोनो का झगडा शान्त कराने का यत्न करते हैं । न्यायालय तक जाने से पहले ही एक पागल कापालिक को कपाल दे जाता है और इस प्रकार कलह के अनायास ही समाप्त हो जाने पर पाशुपत को यश प्राप्त हो जाता है । विरोधियो का विरोध प्रेम में परिणत हो जाता है । इससे उन्हें अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है और वह कापालिक के प्रति इन शब्दों मे जीवन सन्देश देते हैं—

विरोध· पूर्वसम्बद्धा युवयारस्तु शाश्वत ।
परस्पर-प्रीतिकर किरातार्जुनयोरिव ·।[१]

यहां किरातार्जुनीयोरिव के प्रयोग द्वारा कवि ने भारवि की कीर्ति मे अपना परिचय सिद्ध किया है । डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय के 'प्राचीन भारत का इतिहास' से भी यह ज्ञात होता है कि महेन्द्रविक्रम के पिता सिंहविष्णु वर्मा ने भारवि को अपने दरबार मे सम्मानित किया था ।

शाक्य-भिक्षु

विवेच्य प्रहसन के द्वितीय दृश्य मे बौद्ध सन्यासी के रूप मे नागसेन नामक शाक्य भिक्षु का मञ्च पर प्रवेश होता है । इनके भाषण से ज्ञात होता है कि ये स्त्री परिग्रह एव सुरापान के समर्थक हैं और सभ्य-समाज से छिप कर

२- मत्तविलास, २२

इनका उपभोग भी करते हैं। अपने धार्मिक ग्रन्थ "पिटक" मे उक्त वस्तुद्वय का अभाव उन्हे बुरी तरह खटकता था और वह मूल पिटक ग्रन्थ का अनुसन्धान करके समाज को यह बतलाना चाहते हैं कि पिटक एव ऐसे अन्य धार्मिक ग्रन्थो म सुरापान एव दारसमागम विघान अनिवार्य रूप मे रहा होगा, जो दुष्ट वृद्धो द्वारा युवको के प्रति विरोध-प्रदर्शनार्थ इनमे से निकाल दिया गया होगा।

"कहिए गु हु मविणट्ठमूलपाठ.........
स तदो सम्पुण्ण बुद्धवग्रण लोए पलासग्रन्तो सघोवग्रार करिम्स।"[१] भिक्षुजी महाराज अपने इस सशोधित रचनात्मक कार्य द्वारा सघ का उपकार करना चाहते हैं। कापालिक के साथ विवाद के प्रसग मे देवसोमा द्वारा उनके सामने सुरापात्र के बढाने पर ये कृतकृत्य हो जाते हैं,किन्तु वृद्धजनो द्वारा देख लिए जाने का भय भी उनके मन मे छिपा बैठा है- 'एतावान् दोष। महाजनो-द्रक्ष्यति...' गुरुजनो से छिपकर भोग-विलास की सामग्रियो का उपभोग करना उनकी दृष्टि मे पाप नहीं है। इस बौद्ध-भिक्षु को " अदिण्णादाणावेरमणं सिक्खापद मुदावादा वेरमण सिक्खापद।" इत्यादि वाक्य कण्ठस्थ हैं, वह अन्य शैव साम्प्रदायिको के समक्ष अपने को दोषमुक्त सिद्ध करने के लिए बुद्ध के इन आदेश-वाक्यो का उल्लेख किया करते हैं।

इस प्रकार शाक्य-भिक्षु के चरित्र से तत्कालीन बौद्ध सन्यासियो की चारित्रिक दुर्बलताओ का उद्घाटन होता है, जो 'ऐतिहासिक दृष्टि से भी अवलोकनीय हैं। उन्मत्तक-कापालिक के कपाल को लौटाने वाले पागल का चरित्र अपने आप मे पूर्ण है। इस उन्मत्त की उन्मत्तता का कवि की लेखनी से स्वाभाविक चित्रण हो सका है। मासयुक्त खप्पर को कुत्ते से छीन कर वह अपने शत्रु के विषय में एरण्ड के वृक्ष से पूछता है, अपने कथन की पुष्टि मे मेघ को साक्षी बनाता है और उसकी साक्षी की उपेक्षा करता है।

'एशे एशे दुट्ठ कुक्कुले।... कहिं गमिश्शशि अइ एलण्डलूक्ख।
किं भणाशि – अलिग्र अलिग्रति। ण एशे मुशलशमविशालतम्ब-
हत्ये दुदुले मे शक्खी। ..

१- मत्तविलास -पृ० १६

इस प्रकार उन्मत्तक यहाँ विट और विदूषक का स्थानापन्न है, और हास्य के वातावरण को सजीव बनाता हुआ सफल अभिनय प्रदर्शित करता है।

कापालिक की भार्या है देवसोमा। आदि से अन्त तक पावन पातिव्रत का निर्वाह करती है। राम की आदर्श पत्नी सीता की तरह अपने पति के लिये कपाल की खोज में उसके साथ सारे काँचीपुर का पर्यटन करने को उद्यत रहती है। वाद विवाद के प्रकरण में श्रान्त कापालिक की श्रान्ति को दूर करने के लिये शराब का प्याला पकड़ा देती है —
ता दिण्ण गोसिंगेण सुर पिविअजातबलो भविअ इमिणासह विवाद करेहि. .'
एक ओर वह कपाल को बलपूर्वक छीन लेने की सलाह देती है, और दूसरी ओर पाशुपत द्वारा न्यायालय में जाने की बात को सुन कर अपनी दरिद्रता के कारण डर भी जाती है और इन शब्दों के साथ न्यायाधीश के पास जाने से विवादियों को रोकती है। —

'भगव। जइ एव, णमो क्वालस्स।'

न्यायालय में घूसखोर लोगों की ही बन आती है, उससे यह रहस्य छिपा नहीं है।* कापालिक की सहधर्मिणी होकर भी देवसोमा नारी जाति के लिये गौरवपूर्ण आदर्श प्रस्तुत करती है। सुख दुख में समान रूप से अपने पति को उत्साहित करते रहना ही जीवन-संगिनी का कर्तव्य होता है उसका चरित्र नारियों को यही शुभ संदेश देता है।

संस्कृत नाट्यपरम्परा के अनुरूप ही इसके आदि और अन्त में क्रमश नान्दी एवं भरत वाक्य है। यह प्रहसन लटकमेलक हास्यार्णव आदि कृतियों के समान विटवेश्यादि का अतिरंजित रूप प्रदर्शित नहीं करता। फलत उनकी तुलना में अश्लीलता से परे होने के कारण यह एक अनुपम रचना है। इसकी

* आज देश के सभी क्षेत्रों में इस प्रकार के विकार फैले हुए हैं। यह व्यंग्यसाहित्य आज भी यत्किंचित् परिवर्तनों के साथ जनता को सुधारने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर अभिनीत हो सकता है अथवा ऐसे साहित्य के निर्माण की प्रेरणा साहित्यकारों को दे सकता है।

शैली सरल एवं सरस है। निम्नांकित शंकरस्तुति एक हँसी भरी पिचकारी है। —

> पेयासुरा प्रियतमा - मुखमीक्षितव्य
> ग्राह्य स्वभावललितो विकृतश्च वेष ।
> येनेदमीदृश - मदृश्यत मोक्षवर्त्म
> दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणि ॥

अर्थात - -

मदिरा का पान करना चाहिये, प्रियतमा के मुख का दर्शन करना चाहिये और स्वभावसुन्दर विकृत वेष धारण करना चाहिये। इस प्रकार के रहन-सहन का उपदेश देकर जो मोक्ष का मार्ग दिखलाते है वे शंकर भगवान् दीर्घायु हो। [१]

महेन्द्र विक्रम की इस लघुकृति मे विविध प्राकृतो का प्रयोग उपलब्ध होता है जिनमे शौरसेनी और मागधी की प्रधानता है। इस एकाकी की प्राकृत-भाषा भास कवि की प्राकृत से बहुत सादृश्य रखती है। इन्होने और भी ग्रन्थ लिखे परन्तु उनकी अनेक विरचित रचनाओ मे से अब यही एक प्रहसन मिलता है।

लटकमेलक

महेन्द्रविक्रम के "मत्तविलास प्रहसन' के लगभग ५०० वर्ष बाद १२वी शताब्दी के आरम्भ मे कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र के सभाकवि शंखधर कविराज ने एक प्रहसन 'लटकमेलकम् "लिखा। इसके शीर्षक का शब्दार्थ होता है—'धूर्तों का सम्मेलन।" माण्टगोमरी[२] शिलेर ने अपना बिब्लियो-

---

१– मत्तविलास

२– देखिए –

(क) माण्टगोमरी द्वारा प्रस्तुत प्रहसनावलि पृष्ठ १०४.
बिब्लियोग्राफी आफ दी संस्कृत ड्रामा.

(ख) Natakmelak prahsana mentioned in S D. III 207, 537 Page 74

ग्राफी ग्राफ दी सस्कृत ड्रामा" मे एव श्रीमोनियर विलियम्स ने स्वकीय वृहद्-कोश मे "नटकमेलकम्" नामक एक अन्य प्रहसन का उल्लेख भी किया है। इसकी पुष्टि मे इन विद्वानो ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद के एक श्लोक को भी याद किया है। किन्तु 'दपण' की पूरी छानबीन के उपरान्त भी मुझे इसमे "नटकमेलक" नाम के किसी नाटक का उल्लेख नहीं मिला। सवत्र "लटकमेलक" ही मिलता है। अत यह "लटकमेलक" का ही नामान्तर होना चाहिये अथवा प्रतिलिपिकार का प्रमाद हो सकता है।

भीमदेव के पुत्र चालुक्यवशीय हरिपाल गुजरात के अभिनवपुर[1] के राजा थे जो 'विचार चतुर्भुज' भी कहलाते थे। इनकी प्रमुख रचना है, सगीत-रत्नाकर। इस पड्भाषाविद् ने विद्वन्मण्डली मे बहुमत मे "प्रहसन" के नाम से प्रख्यात 'लटकमेलक' को 'ईहामृग' कह कर सचमुच एक नई बात कह दी है। इन दो विभिन्न मतो को पढ कर स्वभावत यह प्रश्न उठ सकता है कि शखधर कविराज की उक्त रचना को किस वग मे रखना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिये 'प्रहसन' और 'ईहामृग' नामक रूपको के लक्षणो पर तुलनात्मक दृष्टि डालना अप्रासगिक न होगा। अस्तु-ऊपर हम प्रहसन के लक्षणो पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। तदनुसार प्रहसन भाण से मिलता जुलता हास्य-प्रधान एकाकी होता है[2]। इसके विपरीत ईहामृग[3] मे चार अक होते है। इसका कथानक मिश्रित होता है अर्थात अशत प्रसिद्ध और अशतः कवि-कल्पित। मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सधियो की योजना होती है।

१– "अभिनवपुराय हारिसगीतविद्य-प्रशमितविपवेद ?.शंनै. काञ्चनानाम्।
... .

मुदमपेनि सवेणुर्भारव यो मुकुन्द

ऐन्द्रस्यानस्युपाश्रितेषु कविपु शाब्येषु भूमण्डलीमध्य.-कम्पनजृम्भदम्बुदिक्कृतवेष्टाभिषा रक्षितुम्। पड्भाषार्विच्चारपदा रसगुणालङ्कारिणी – – जाग गिरा ददतः।
(भरतकोशस्य भूमिका मे प्रकित म. प्र रामकृष्णकवि के विचारो के आधार पर)
भरतकोष-पृष्ठ ७

२– सध्यङ्गलास्याङ्गैविनिर्मितम्।

सा. द. ६, पृष्ठ २६२

३– स, द. ६, २४५–२४६, पृष्ठ ४३८.

इसके नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत नर या देवता होते हैं। वह किसी सुरागना को चाहता है जो उसे नही चाहती। फलस्वरूप वह प्रकट रूप से उसके प्रति अपना प्रेम जता नही सकता और नायक उसको हर कर ले जाने की सोचता है। युद्ध की पूरी सभावना होती है किन्तु किसी बहाने से वह स्थिति टल जाती है। इतिहास म किसी महात्मा का वध विख्यात हो तो भी ईहामृग में उसे प्रदर्शित नही करना चाहिये। प्राय प्राचीन, मध्ययुगीन एव अर्वाचीन सब साहित्यालोचक तथा लक्षणकर्ता किंचित् हेरफेर के साथ इसकी यही परिभाषा बतलाते हैं।

इस प्रकार प्रहसन एव ईहामृग में निम्नाकित बातो मे भेद लक्षित होता है —

प्रहसन	ईहामृग
१ प्रहसन मे एक अङ्क होता है जो दो दृश्यो मे विभाजित हो सकता है।	१ इसमे चार अङ्क होते हैं।
२ यह शुद्ध विकृत और सकर तीन प्रकार का होता है।	२ नायक उच्चकुल के नर या देवता होते हैं।
३ इसमे साधु, सन्यासी के अतिरिक्त चेट, चेटी, वेश्या, विट आदि नीच पात्रो की योजना भी हो सकती है।	३ इसमे नीच पात्रो का प्रवेश नही के बराबर होता है।
४ यह हास्य रस प्रधान रूपक होता है जिसका मुख्य उद्देश्य होता है प्रेक्षकों को येन केन प्रकारेण हँसाना।	४ युद्ध होते होते रुक जाता है।
५ इसमें प्रेमिका का प्रेम अलभ्य नही होता।	५ नायिका का प्रेम दुर्लभ होता है।
६ विषय साधारण होता है।	६ ईहामृग व्यायोग नामक एकाङ्क रूपक का विकसित रूप प्रतीत होता है।

— —

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम शखधर कविराज के 'लटकमेलक' की समीक्षा करते हैं तब उसमे प्रहसन के लक्षण ही अधिक घटित होते देखते हैं। अत इस कृति को प्रहसन की कोटि मे रखना अधिक युक्तिसगत होगा। ईहामृग की तरह इसमे नायिका का प्रेम दुर्लभ नही होता। इसमे *किसी को पाने की मृग की तरह चेष्टा नही होती। यहाँ तो* प्रेम को सब खरीद सकते हैं। प्रहसनकार प्रहसन के लिए सामग्री साधारण समाज से बटोरता है जबकि ईहामृग की कथा पुराणो से ली जाती है या कवि-कल्पित होती है।

साहित्य समाज की ही अभिव्यक्ति होता है। अपने समय के विषाक्त वातावरण से आच्छादित समाज को सुधारने की आशा से ही प्रसिद्ध प्रहसन 'लटकमेलक' की रचना हुई। कवि शखधर इसमे अपने को कन्नौज नरेश गोविन्द[1] के शासनकाल मे उत्पन्न हुआ बतलाते हैं। इसका अभिनय वसन्त-काल मे राजाज्ञा[2] से हुआ था। इसमे कन्नौज-नरेश गोविन्ददेव का सकेत तथा कुछ एक गाँवो के नामो का उल्लेख इसे बारहवी सदी की रचना सिद्ध करते हैं। यथा दुढोलि[3] मुण्डिदाल, दरिद्द, जो कन्नौज-नरेशकालीन भारत के ग्रामो की ओर सकेत करते हैं। लटकमेलक मे मच्छरहट्टा[4] का नाम भी आया है जिसे पढ़कर इसी नाम के बनारस तथा पटनानगर के एक 'मच्छरहट्टा' नामक मुहल्ले की स्मृति हो आती है। इसमे प्रयुक्त 'राढीया' शब्द का सम्बन्ध बगाल के राढ के से प्रतीत होता है। राढा[5] बगाल के एक जिले का नाम है। उस स्थान से सम्बद्ध रीति रिवाज या जाति 'राढीय' कहे जाने लगे। बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के शासन काल मे (१२वी शताब्दी) दक्षिण भारत से आये हुए ब्राह्मणो को राढीय या राढी नाम दिया गया और उनको

१– लटकमेलक ४, पृष्ठ २.

२– यदद्य वसतसमय-समुचितेन कविराजश्रीशङ्खधरविरचितेन लटकमेलकनाम्ना प्रहसनेनास्मान् विनोदयेति। लटकमेलक – पृष्ठ ३

३– लटकमेलक पृष्ठ ६-७, पृष्ठ २६.

४– लटकमेलक पृष्ठ १२.

५– 'गौड राष्ट्रमनुत्तम निरुपमा तत्रापि राढापुरी।" प्रबोध चन्द्रोदय

परम्परा भी राढीय कहलाई[१]। इसमे प्रयुक्त इस शब्द को देखने से भी यह कृति १२वी सदी की प्रतीत होती है।

साहित्याचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियमो का उल्लघन करते हुए कवि ने 'लटकमेलक' रचना द्वारा समाज का जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है। ग्रन्थ के आरम्भ मे प्रस्तुत महादेव की स्तुति से कवि की शिवभक्ति झलकती है।

गौरीचुम्बन चञ्चलाञ्चलवलच्चन्द्रप्रभामण्डल
व्यावल्गत्कणिकुण्डल रतिरसप्रस्विन्नगण्डस्थलम्।
प्रौढप्रेमपरम्परा - परिचयप्रोत्फुल्ल - नेत्राञ्चल
शभोरस्तु विभूतये त्रिजगतामुन्मत्तग शिर ॥[२]

अपिच-

रक्षाशावलिमा परित्यजजटा कोऽप्युमदप्रक्रम
कौपीन त्यज मुञ्च मुञ्च नसर-व्यापारमास्थानिकम् ॥[३]

प्रस्तावना मे ही अपने आश्रयदाता गोविन्ददेव की प्रशसा भी की है जिससे उनकी राजभक्ति का भी परिचय मिलता है।[४]

धूतमण्डली की इस कथा मे काव्य की छटा-प्रदर्शन का कवि को बहुत कम अवसर मिलता है। कवि ने धूर्तो के क्रियाकलापो का अतिरजित एव विस्तृत विवरण और इसमे निम्न समाज का नग्न-चित्रण करके अपनी इस कृति को आधुनिक युग के सस्ते साहित्य की कोटि का अवश्य बना दिया है

१- कुरटमिश्र – वदन मिथ्याशुक्ल-महामहोपाध्यायोऽसि। (सविमर्शम्) अहह।
ब्राह्मण्य विनापि परम प्रतिष्ठास्पद। तथापि राढीय वचन-रचना – –
एष व्याकरण न वेत्ति न कृत काव्येष्वनेन श्रम
श्रुत्वाचामपि भट्टवार्त्तिकगिर रक्ति स्वशस्तद्विद।
राढीयैरतिहृद्यं – गद्गदगलै प्राभाकर श्रूयते॥ लटकमेलक, १६ पृष्ठ ३८

२- लटकमेलक १, पृष्ठ १

३- लटकमेलक १, पृष्ठ १

४- लटकमेलक ३, पृष्ठ ५

(कारण इसमे आदि से अन्त तक पात्रो के मूर्खतापूर्ण वार्तालाप ही आते हैं) तथापि यह प्रहसन-साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाला अपने समय की लोकरुचि का द्योतक प्रहसन है, इसमे सदेह नही। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस प्रकार की रचनाओ का अन्य परवर्ती प्रहसनकारों पर भी प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ प० जगदीश्वर भट्टाचार्य विरचित हास्यार्णव का नाम उद्धृत किया जा सकता है। लटकमेलक तथा हास्यार्णव के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होगा कि दोनो रचनाओ की विषय वस्तु वर्णनाशैली, यहाँ तक कि पात्रो के नाम एक दूसरे से मिलते जुलते है। दोनो प्रहसनो का उद्देश्य है शास्त्र-सम्मत षड्विध हास्य के प्रयोग द्वारा हास्यमय वातावरण का निर्माण करना। शास्त्र के नियमो का पालन करते समय कवि शिष्टता को भी कहीं कहीं भूल बैठा है—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येनकेनापि पेषयेत्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्य यद्वा तद्वा भविष्यति॥[1]
व्याधयो मदुपचारलालिता मत्प्रयुक्तमृत विप भवेत्।
किं यमेन सह जाकिमौषधैः स्वविहितरि पुर स्थितेमयि॥[2]

तुलना कीजिए—

नेत्रे तप्ता शलाका जठरगुरुगदे स्त्रीपदे छिन्तिरध्रे
रम्याया नासिकाया वडिश्मनिशित तप्ततैलञ्च शूले।
हृद्रोगे द.-दाम्द्द्यनिविरत्न द इन मुखदेशे
एवैतें रम्योपचारैर्नयनि पितृवन रोगिण क न यातु॥[3]

दोनों कृतियो मे रोग के उपचार के लिय जो चिकित्सा पद्धति वैद्य जी अपनाते है वह एक सी ही है। दोनो प्रहसनो म वैद्यजी महाराज वास्तव मे महावैद्य ही है। दोनो को वैद्यकशास्त्र का रत्ती भर भी ज्ञान नहा है। हास्यार्णव के कवि का नाम तो ज्ञात है परन्तु इनके समय का पता नही चलता। अनुमान से यह चौदहवी सदी के बाद की रचना प्रतीत होती है।

१- लटकमेलक २३ पृष्ठ १७
२- लटकमेलक २८ पृष्ठ १६
३- हास्यार्णव २८, पृ० २१.

'लटमेलक' में धूर्तों का सारा कार्यक्रम दन्तुरा नामक कुट्टिनी (दूती) के घर पर होता है। कामुक लोग उसकी सुन्दरी पुत्री मदनमजरी के प्रेम को खरीदने के लिए आते हैं। मदनमजरी के गले में हड्डी अटक जाती है। इससे उसे कष्ट होता है। लोग उसे जन्तुकेतु नामक वैद्यराज से इलाज करवाने की सलाह देते है। उनके आने पर हास्य मे ओत-प्रोत वातावरण हो जाता है। हँसने मे हड्डी अपने आप निकल जाती है। दूसरे दृश्य मे कामियों का विवाह-सस्कार होता है। विवाह मानव जीवन का एक आवश्यक सस्कार है। इसका मनुष्य से गहरा सबध है। पहले सवर्ण जातियो से तो सम्बन्ध होता ही था, असवर्ण जातियो के साथ भी गाँठ जोडने की मनाही न थी। सभापति जी ने एक दिगम्बर का दन्तुरा के साथ विवाह कराया और स्वय मदनमजरी से बँध गए। इस पर गीता का प्रभाव भी है, परन्तु गीता के श्लोक विवाह के अवसर पर प्रसग का विचार न करते हुए जहाँ तहाँ कहलवा दिए गए हैं, जो विचित्र हास्य की सृष्टि करते हैं।

जातस्य हि ध्रुव मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्व शोचितुमर्हसि ॥[1]

और भी—

सभापति--दन्तुरे, त्वद्गुणाकृष्टोऽय दिगम्बरस्त्वामभिलषति। त्व चाद्यापि नवनवतिवर्षदेशीया युवति। तथाहि—
निविडितनूपुर मधुरा कस्य निगूढा न सन्ति ते निधय।
रिपुरिव यदि न विसर्पति करकिसलयवलय-झकार ॥[2]

विवाह के दृश्य के आधार पर कई लोग इस प्रहसन को दन्तुरापरिणय भी कहते है।

हास्यार्णवः—

श्री जगदीश्वर के हास्यार्णव मे अनन्य सिन्धु राजा की कथा है जो

---

1 – लटकमेलक ३४, पृ० ४६
2 – लटकमेलक २६, पृ० ४७

भोगलिप्सा में लिप्त रहने के कारण राजकार्य को देर से नहीं सँभाल सका है। अमयाथवादी नामक नौकर को वह राजकार्य की गतिविधियों का पता लगाने के लिए भेजता है। अपना काम समाप्त करके वह राजा को यह सूचना देता है कि उसकी स्वेच्छाचारिता के फलस्वरूप जनता ने सब प्रकार की बुराइयों को त्याग कर अच्छाइयों को ग्रहण कर लिया है। नौकर के मुख से यह समाचार सुन कर राजा का क्रुद्ध हो जाना और इसके लिए नागरिकों को दण्ड देने के लिए उद्यत हो जाना आदि हास्यमूलक बातें हैं। इस प्रकार अनौचित्य एवं प्रकृतिविपरीत कथनों द्वारा कवि ने हास्य का सर्जन करने का प्रयास किया है।

चर - (संस्कृतमाश्रित्य)
आलिङ्गन्ति निजाङ्गना परवधू हित्वा जना साम्प्रतं
नीचं नोऽस्पृशति मद्युपानरमहो सद्ब्राह्मणानां गणे।
वन्दन्ते द्विजमन्त्यजे निवसति व्रीडाविहीना जना
एवं मण्डल-वैपरीत्यमधिकं जातं महाभूपते॥
अपि च—नारीणां नयनेऽञ्जनं न जघने सिन्दूरमासम्भिने
सीमन्ते न च नूपुरो पदयुगे सावेऽपि नैवेक्षरे।
वक्षोजे मणिकङ्कणौ न करयो काञ्ची कटौ नाधरे
चेत्थं देशविपर्ययं प्रतिदिनं दृष्ट्वा सकष्टं मया॥[1]

इसके अनन्तर वह मन्त्री कुमतिवर्मा को बुलवाकर उसे मन्त्रणार्थ उचित स्थान निर्धारित करने की आज्ञा देता है। मन्त्री मन्त्रणा के लिए शहर की बन्धुरा नामक कुट्टिनी वेश्या के मकान को इस कार्य के लिए उपयुक्त बतलाता है। राजा उसका समर्थन करता हुआ सबके साथ निश्चित स्थान पर पहुँचता है। बन्धुरा भी उन्हें अपने यहाँ आया देख प्रसन्न होती है और अपनी पुत्री मृगाङ्कलेखा नामक वेश्या से राजा का परिचय करवाती है। कामुक राजा उसके सौन्दर्य को देख मोहित हो जाता है। वहीं मृगाङ्कलेखा को कामशास्त्र पढ़ाने वाले गुरु महामहोपाध्याय श्रीविश्वभण्डजी अपने शिष्य कलहाङ्कुर के साथ पहुँच जाते हैं। उन्हें टूटे आसन पर बैठा कर स्वागत किया जाता है।

१- हास्यार्णव ११-१२ पृ० १०

मिथ्याशुक्ल – (मदनमञ्जरीमवलोक्य) – – –।
समारसारमहह त्रिजगत्पवित्र तद्रत्नमेतदुपसर्पति पङ्कजाक्षी ॥[1]

ऐसी रसभरी बातें सुन कर वन्धुरा को युवावस्था में की गई काम-क्रीडाओं की स्मृति कामज्वर का शिकार बना देती है। उपचारार्थ आतुरातक के पुत्र व्याधिसिन्धु नामक महावैद्य बुलाए जाते हैं जो लटकमेलक के वैद्य के समान ही हैं जिसका तुलनात्मक चित्रण हम ऊपर कर आए हैं। विशेष बात यह होती है कि वैद्यराज चिकित्सा करने के बदले स्वयं ही काम के शिकार बन जाते हैं, मृगाङ्कलेखा का सौन्दर्य उन्हें मुग्ध कर देता है। इसी प्रकार रक्तपल्लोल नामक नाई (अपनी कला में अनभिज्ञ) मिथ्यार्णव नामक ब्राह्मण, महायाम्रिक नामक ज्योतिषी आदि पात्र मञ्च पर आकर अपने हास्य-परक आङ्गिक एवं वाचिक अभिनयों द्वारा लोगों का चित्तानुरञ्जन कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त वसन्त ऋतु में प्रकृति की मोहक छटा का वर्णन कवि के प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है। रचना शैली सरस एवं सरल है। कहीं-कहीं समस्त पदावली के दर्शन भी होते हैं।

इसी तरह "लटकमेलक" के दन्तुरा एवं मदनमञ्जरी के अतिरिक्त अन्य पात्र भी अपने ढंग के अनोखे हैं यथा –

सभासलि कौल (शाक्त) मत के अनुयायी हैं जिनकी पत्नी का नाम कलहप्रिया है। मदनमञ्जरी की परिचारिका दन्तुरा से उनकी खूब बनती है। उसके रूप-यौवन पर उनकी दृष्टि सदा लगी रहती है। दन्तुरा और मदन-मञ्जरी को सदा प्रसन्न रखने का यत्न करते हैं। वह कहीं सलाहकार के रूप में और कहीं अज्ञानराशि और दिगम्बरसूरिजी के बीच बकरी के वध के झगड़े का समाधान करते दिखाई देते हैं। कहीं प्रसव कार्य में भी हाथ बँटाते हैं। कामिया का विवाह भी कराते हैं। इस प्रकार धूर्त-मण्डली में ये महाशय व्यवहार-कुशल जान पड़ते हैं।

कुकटमिश्रजी एक दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित किए गए हैं। इनकी दार्शनिकता एवं इनका पाण्डित्य अतुलनीय है। इनके बौद्धिक-प्रदर्शनपरक अनेक मनोरञ्जक श्लोक इसमें मिलते हैं।

१- लटकमेलक १८, पृ० ४०

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्युपास्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।
अमी समाघ्राय वितर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥

व्यसनाकर को 'बौद्ध' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो चमरसेन विहार का निवासी है। वह गुप्त रूप से किसी धोबिन से प्रेम करता है। इसी कारण मञ्च पर उपस्थित होते ही उसका चेतन मन उसे धिक्कारता है—

पृथुजघनया सुतनया विना रजन्या
समुत्खाननिधानस्थानमिव विभाति भवनम् ।

परन्तु जब उसे किसी निम्नजाति की स्त्री से सम्पर्क रखने के कारण दूषित ठहराया जाता है, तब वह चिढ़-सा जाता है। इसके प्रत्युत्तर में अपने समर्थन के हेतु बुद्ध भगवान् के वचनों का सहारा लेता है। जाति नामक पदार्थ, पदार्थों से भिन्न रूप में कभी भासित नहीं होता। उनके मत में सब पदार्थ ही क्षणभंगुर हैं। आत्मा भी स्थायी नहीं है।[1] इसलिये उसे धोबिन को छूने का दोष नहीं लग सकता। उसकी अनोखी तर्कसंगति इस प्रहसन में देखी जा सकती है—

दन्तुरा-परिणय या लटकमेलक प्रहसन की शैली एवं भाषा सीधी-सादी किन्तु अपने ढंग की अनोखी है। संक्षेप में गंभीर चित्रण करने का दुष्कर कार्य भी कवि ने कर दिखाया है, जो श्लाघ्य है।

व्यसनाकर — विनाशशीला भावा जायन्ते ।[2]

स्थान-स्थान पर समस्त-पदों का प्रयोग भी किया गया है, परन्तु उनसे भाषा का प्रभाव अवरुद्ध नहीं होता। इस शैली के माध्यम से पञ्चमकार के उपासक शाक्तों के सामाजिक दुराचार, बौद्ध सन्यासियों के मिथ्या विहार, दार्शनिकों के अभिमान और उनकी ज्ञानहीनता का कवि ने अत्यन्त सजीव भाषा में कलात्मक ढंग से रहस्योद्घाटन किया है। कवि ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि सन्तों और उनके अनुयायियों की कथनी एवं करनी में आकाश पाताल का अन्तर है।

१– लटकमेलक २१, पृ० ४४.
२– लटकमेलक पृ० ४४.

वैद्यक-ग्रन्थों को जन्म दिया, जहाँ वाग्भट्ट, माधव-निदान, चरक समान ग्रन्थों की रचनाएं हुई, जिनके साहाय्य से कोटि कोटि प्राण बचाए गये, वहाँ नीम हकीम खतरएजान वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले वैद्य भी समाज में विद्यमान थे। लटकमेलक हास्यार्णव तथा अन्य प्रहसनात्मक ग्रन्थों में चित्रित वैद्यों का चरित्र इसका प्रमाण है।

प्रस्तुत हास्य प्रधान कृति अपने देश की समसामयिक धार्मिक स्थिति पर भी प्रकाश डालती है। लटकमेलक उस समय की रचना है जब भारत में धर्म की बागडोर गुरु, साधु सन्यासियों के हाथ में थी। वे अपनी शक्ति का अनावश्यक लाभ उठाते तथा भोली जनता को भ्रमजाल में फँसाकर अपना मतलब साधते थे। इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि भारत के इस स्वर्ण-युग में बौद्धभिक्षु जैसे धर्म के रक्षक भी दुर्बलता के शिकार बन कर धर्मभक्षक बन बैठे। लोगों का चरित्र नित्यप्रति गिरने लगा था। देश की ऐसी स्थिति तो शुंग, सातवाहनों तथा गुप्त राजाओं के समय से ही होने लगी थी। बौद्ध तथा जैन धर्म की अवनति तभी से होने लगी थी परन्तु उसका चरम सीमा का पहुँचा हुआ रूप ६वी तथा १०वी शताब्दी में देखने को मिलता है। बौद्ध एवं जैन जैसे पवित्र धर्म भी वासना एवं आडम्बर की दुर्गन्ध से घृणित हो गए। जटासुर, दिगम्बर और चमरसेन विहार के वासी व्यसनाकर बौद्ध का चरित्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है। यह प्रहसन तत्कालीन विवाह की रीति पर किस प्रकार प्रकाश डालता है हम ऊपर ही देख चुके हैं।

प्राचीन संस्कृत-नाट्य साहित्य के इतिहास के पृष्ठों के सम्यगवलोकन से श्री सुन्दरम् पिल्लई के इस कथन की सत्यता में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि दक्षिण भारत का केरल प्रान्त मुस्लिम आक्रमणों से सुरक्षित रहने के कारण भारतीय नाट्य का उर्वर स्थान रहा है। महाकवि भास के नाटकों के प्रकाश में आने से तथा इनकी रचनागत विशेषताओं से सम्पन्न मत्तविलासादि अन्य नाट्य-ग्रन्थों के दर्शन से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। मलाबार के विद्वान् श्री पी अनुजन् अचन् के बोधायन कवि रचित भगवदज्जुकम् या भगवदज्जुकीयम् की दो-तीन हस्तलिखित प्रतियों को प्राप्त कर इसका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन करके संस्कृत-साहित्य में एक नवज्योति जगा दी है। अब तक के प्रकाशित प्रहसनों में प्रस्तुत विवेच्य प्रहसन सर्वोत्तम रचना है। पल्लवनरेश महेन्द्रविक्रमन् के

मत्तविलास की तरह भाण की शब्दगत विशेषताओं से विभूषित होने पर भी इन दोनों कृतियों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। प्रमुख भेद यह है कि मत्तविलास में हास्यात्मक स्थिति का निर्माण पात्रों द्वारा हुआ है और 'भगवदज्जुकम्' में कथावस्तु के माहात्म्य से हास्योत्पत्ति की गई है। अस्तु—

भगवदज्जुकम् :—

एक हिन्दू परिव्राजक और बौद्ध श्रमणक शाण्डिल्य योग-विषयक चर्चा करते हुए किसी उद्यान में आते हैं। वसन्तसेना नामक गणिका भी चेटी के साथ उसी स्थल पर पहुँचती है। पुष्पावचय करते समय यमपुरुष सर्प बनकर वसन्तसेना को डस कर उसके प्राणों को हर लेता है। सन्तप्त-हृदया चेटी शाण्डिल्य के पास गणिका के मृतक शरीर को छोड़कर उसकी माता को यह शोक समाचार देने चली जाती है। इस बीच गणिका के प्रेम में पागल शाण्डिल्य को विलाप-प्रलाप करते देख परिव्राजक योग-विद्या की सहायता से वसन्तसेना के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। तब वसन्तसेना का शव उठ कर परिव्राजक के समान बातें करने लगता है। चेटी और गणिका की माता जब आकर वसन्तसेना को एक तपस्वी के समान बातें करते सुनती हैं तो वे इसे विष का प्रभाव समझ कर वैद्य को बुलवाती हैं। इधर भूल में वसन्तसेना नाम की दूसरी नारी को मार कर आने के कारण यमपुरुष को मृत्युराज की फटकार सुननी पड़ती है। अपने स्वामी द्वारा भर्त्सित यम का अनुचर लौटकर निर्जीव वसन्तसेना के शरीर को चलता फिरता एवं बोलता देख आश्चर्यमग्न हो जाता है। अतएव वह वहाँ पड़े परिव्राजक के शव में उस गणिका के प्राणों को डाल कर लौट जाता है। परिव्राजक के शरीर में प्रविष्ट वसन्तसेना एक गणिका के समान वार्तालाप करने लगती है। शाण्डिल्य इस मोहक दृश्य को देख कर कह उठता है 'अब यह न भगवान ही रहा और न अज्जुका– यह तो भगवदज्जुक' हो गया।

शाण्डिल्य. — भअव। किं एदं......
ऐव भअवो ऐवाज्जुआ। भअवदज्जुअ णाम संवुत्त।[1]

1– भगवदज्जुकम्, पृ० ६७.

यही इस प्रहसन के नामकरण का कारण है। शाण्डिल्य परिव्राजक को भगवान् कहा करता था और चेटी गणिका को अज्जुका के नाम से सम्बोधित किया करती थी। कवि ने इस इतिवृत को एक अनोखे ढंग से प्रस्तुत किया है जिसे देखकर दर्शक हास्य के सागर मे गोते लगाने लगते हैं। अन्त मे यम की सहायता से दोनों आत्माएँ अपने-अपने शरीरो मे चली जाती हैं। परिणामत यह प्रहसन एक सुखान्त लघु नाटक का रूप धारण कर लेता है और कवि 'न दुःखान्त नाटकम्', संस्कृत-नाट्य-शास्त्र के इस प्रमुख नियम का पालन न करने के दोष से मुक्त हो जाता है।

'मत्तविलास' मे मद्यपान के कारण मदमस्त कापालिक और एक शाक्य भिक्षु के वाद-विवाद की कथा वर्णित है, जिसमे धोखे मे वह भिक्षु को *अपने कपाल-पात्र का चोर ठहराता है, जबकि उसका वर्तन एक कुत्ता ले* भागा था। यहाँ भिक्षु का बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तो के विरुद्ध भोगविलासमय जीवन चित्रित किया गया है। इसके विपरीत भगवदज्जुकम् का शाण्डिल्य जो पहले शाक्यश्रमणक था, एक मूर्ख पेटू के रूप मे दर्शाया गया है। इसे देखकर संस्कृत के बृहन्नाटको के विदूषक का स्मरण हो आता है।

शाण्डिल्य – भो। पुठम एव्व अहं करदुअमेसमसिद्धेणिरक्खरप्पविवित्तजीह
कण्ठप्पमत्तजण्णोव वीदे बह्मण्णमत्त परितुट्ठे कुले पसूदो।
... ... आ। एसो दुट्ठलिंगी पादरसणलोहेण एआई
भिक्ख आहिण्डिदु पुव्व गदोत्ति तक्केमि।[1]

उक्त प्रहसन-द्वय की कथा के तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्यक्ष हो जाता है कि मत्तविलासयुगीन भारत म बौद्ध धर्म पतन की ओर झुक रहा था। इसके विपरीत भगवदज्जुककालीन देश मे उक्त धर्म की स्थिति इतनी गिरी हुई न थी जैसी कि प्रथम प्रहसन म देखने मे आती है। इस प्रकार दोनो रचनाओ मे नाट्य-सविधान, रचना-शैली आदि मे कुछ साम्य होने पर भी बड़ा अन्तर स्पष्ट है। इसे ध्यान मे रखते हुए बोधायन कवि के समय का

१– भगवदज्जुकीयम् पृ० ६

सम्यक् निर्धारण न होने पर भी उनकी रचना मत्तविलास के पूर्व की प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त एवं आत्मा का दूसरे के शरीर में प्रवेश करने का वृत्तान्त वैदिक धर्म के इतिहास से सम्बद्ध कई ग्रन्थों में प्राप्त होता है। योगसूत्रों[1] में 'परशरीरावेश' के प्रसंग में इसका उल्लेख मिलता ही है।

बन्धकारणे शैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश ।

योगी की इस प्रकार की महासिद्धि से सम्बद्ध बहुत से दृष्टान्त महाभारत में भरे पड़े हैं। अपने गुरुदेवशर्मन् की पत्नी रुचि की इन्द्र से रक्षा करने के लिए विपुल का गुरुपत्नी के शरीर[2] में प्रविष्ट होना, महायोगी विदुर[3] का युधिष्ठिर के शरीर में प्रविष्ट हो जाना आदि उदाहरण उक्त कथन का समर्थन करते हैं। इस इतिहास के अतिरिक्त सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' में कथित योगानन्द[4] की कथा में तथा पञ्चतन्त्र की कई कथाओं में भी इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। श्री रामानुजाचार्य ने भी 'श्रीभाष्य' में इस प्रकार की कहानियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। नाट्यकार ने इन्हीं स्थलों से प्रेरणा ग्रहण कर 'भगवदज्जुकम्' की रचना की है। संस्कृत रूपक-साहित्य में बोधायन कवि से पहले किसी अन्य कवि ने अपनी रचना में ऐसी घटना की ओर संकेत नहीं किया है। इसलिये भी इस प्रहसन पर प्राचीनता की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। इसके अनुकरण पर रामपाणिवाद[5] जैसे परवर्ती नाटककारों ने भी अपनी कृतियों में इससे मिलती-जुलती कथा को स्थान दिया है।

'भगवदज्जुकम्' उस युग की रचना मालूम पड़ती है, जब बौद्ध धर्म पर से लोगों का विश्वास पूरी तरह नहीं उठ पाया था। बौद्धों एवं ब्राह्मण-

---

१- पातञ्जलयोगसूत्र पृ० ३-३८

२- महाभारत-अनुशासन पर्व ५६, पृ० ४०३

३- महाभारत, आश्रमवासिक पर्व २६, पृ० ६७

४- कथासरित्सागर – ६८–६६, पृ० ११

५- देखिए- रामपाणिवाद के 'मदनकेतु प्रहसन' की समीक्षा।

धर्मावलम्बी साधु सन्यासियो मे विरोध अवश्य था परन्तु एक युवक के लिए धर्म-परिवर्तन करना कोई सामान्य बात न थी।

यद्यपि प्रस्तुत एकाकी नाटक मे इसके रचयिता के नाम एव स्थिति-काल का उल्लेख नहीं मिलता तथापि इसी की एक टीका मे टीकाकार ने इसे बोधायन[1] नामक किसी कवि की रचना घोषित किया है। इसके आधार पर बोधायन ही इसके निर्माता प्रतीत होते हैं। सस्कृत-समाज इस नाम के दो व्यक्तियो से परिचित है जिनमे से एक कवि और दूसरे *'बादरायण'* के सूत्रो के वृत्तिकार है। प्रो विण्टरनित्ज ने इन दोनो को एक व्यक्ति माना है। परन्तु श्री अशोकनाथ भट्टाचार्य ने इलाहाबाद ओरियण्टल कान्फ्रेन्स (सन् १९२६ मे) मे पढे गए अपने शोध-पत्र मे इस पर आपत्ति उठाई थी।

> Would it not be rather ludicruous to assume that the great Vrittikar could really demean himself to write such a petty farce as this ?

उनके कथनानुसार एक वृत्तिकार प्रहसन जैसे हीनकाव्य की रचना करके जनता के उपहास का विषय कदापि नहीं बनना चाहेगा। परन्तु सत्य तो यह है कि सहृदय विद्याप्रेमियो के मानस-सर मे किसी भी समय, किसी भी प्रकार की भाव-लहरियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। गम्भीर विचारार्णव मे डूबा हुआ दार्शनिक भी कभी हास्य - व्यग्य द्वारा अपना तथा अपने साथियो का चित्तरञ्जन करता मिल सकता है। एक ही व्यक्ति मे ये दो विरुद्ध स्वभाव के द्योतक लक्षण एक ही काल मे भले ही न मिलें परन्तु प्रसगवश उनकी चित्तवृत्ति बदल भी सकती है। *नाट्यकला मे इनका ही प्रदर्शन किया जाता है।*

गम्भीरता और विनोदवृत्ति एक दूसरे के सहायक है। मानसिक विश्रान्ति के लिये मनुष्य हास्य का मार्ग अपनाता है। महात्मा गांधी जैसे रात

१- बोधायन कविविरचिते, विद्यान भगवदज्जुकाभिहिते अभिनेयेऽतिगभीरे, विशदानघुना करोमि गूढार्थान् ॥ भगवदज्जुकीयम् (टीका) पृ० १

योगी पुरुष का जीवन इस तथ्य को प्रमाणित करता है। वह कहा करते थे कि यदि विनोद का महत्व न समझकर मैं उसकी उपेक्षा करता तो मेरा जीवन ही समाप्त हो गया होता।

इसी प्रकार मानव में बौद्धिक विकास होने या उसके अन्तस्तल में काव्य के बीज के प्रस्फुटित होने का भी कोई निश्चित समय नहीं होता। भारतीय-साहित्य के इतिहास तथा पतञ्जलि के महाभाष्य आदि ग्रन्थों का अवलोकन करने पर हमें वररुचि (वाररुच काव्यम्) जैसे वैयाकरण के कवि होने का प्रमाण प्राप्त होता है। वररुचि का अकेला (दृश्य काव्य) उभयाभिसारिका शीर्षक एक नट नाटक (भाण) मिलता है। भाण एवं प्रहसन लगभग एक ही कोटि के रूपक होते हैं। यदि वैयाकरण भाण की रचना कर सकता है तो एक वृत्तिकार के "भगवदज्जुकम्" जैसे प्रहसन के कर्ता होने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये। श्रीयुत वाचस्पति गैरोला के संस्कृत-साहित्य के इतिहास से ज्ञात होता है कि भगवदज्जुकम् ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास लिखा गया एक प्राचीनतम प्रहसन है और पल्लवनरेश महेन्द्रविक्रमन् के एक शिलालेख में 'मत्तविलास" प्रहसन के साथ उक्त प्रहसन का उल्लेख होने के कारण कुछ लोग उसे भी "महेन्द्रविक्रमन्" (७०० ई) की कृति मानते हैं। उक्त कथन के प्रथमांश में यह सत्यता अवश्य दिखाई देती है कि यह प्राचीनतम हास्य प्रधान रचना है किन्तु यह महेन्द्रविक्रमन् की ही दूसरी कृति प्रतीत नहीं होती। कारण, 'भगवदज्जुकम्' के आमुख में रचयिता का नाम नहीं मिलता, जबकि मत्तविलास की प्रस्तावना में इसके लेखक महेन्द्रविक्रमन् का नाम उल्लिखित है। यदि भगवदज्जुकीयम् भी मत्तविलासकार की ही रचना होती तो इसमें भी गुणभर, मत्तविलासादि उपाधियों से महेन्द्रविक्रमन् वर्मा का नाम होना चाहिये था। यहाँ उनके अपने नाम को गुप्त रखने का कोई कारण नहीं है।

इस विवाद में अधिक न पड़कर हम इसे इसकी टीका में निर्दिष्ट बोधायन कवि की रचना मानकर ही इसकी समीक्षा करेंगे। यद्यपि टीकाकार का नाम भी हमें ज्ञात नहीं है तथापि इनकी टीका में गुरुचरणों की स्मृति में उद्धृत अपने गुरु द्वारा रचित श्लोक के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ये भगवदज्जुकीय के टीकाकार नारायणभट्ट के एक शिष्य थे। उसी श्लोक

का 'गुरुभक्तपुराधीश्वर[1]' पद मलाबार के गुरुवायुर नामक मन्दिर के एक प्रसिद्ध देवता का नाम है।

इसी देवता की स्तुति के रूप में श्री नारायण भट्ट ने १५६० ई० में "नारायणीय" शीर्षक मन्त्रों की एक पुस्तिका लिखी थी। यह टीका भी १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में इनके किसी शिष्य ने रची होगी। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' नाटक पर इनके इसी शिष्य द्वारा रचित 'भावार्थ - दीपिका' टीका भी जयन्तमंगलम् की "पालीयम् मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी" में सुरक्षित है। इस टीका के अन्त में भगवदज्जुकम् प्रहसन का नाम भी निर्दिष्ट है।

इस लघु प्रहसन में कवि की विद्वत्ता पद-पद पर झलकती है। परिव्राजक और शाण्डिल्य के मुख से नि सृत जो वार्तालाप सुनाई देता है, उससे बोधायन कवि के सांख्य एवं योग शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित होने का पता चलता है।[2] इसमें सांख्य के सामान्य सिद्धान्त ही वर्णित हैं, अत अन्य किसी प्रमाणिक एवं पुरातन ग्रन्थ में स्थित वाक्यों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। जहाँ शाण्डिल्य बौद्ध तथा सांख्य सिद्धान्तों को पहचानने में भूल करता और अष्ट-प्रकृतियों, षोडशविकारों, आत्मा, पञ्चवायु, गुणत्रय, मनस् आदि की चर्चा करता है, वहाँ उसकी इस तालिका में गिनाए गए सचर और प्रतिसचर ये दो अन्तिम पद सांख्यकारिका में उपलब्ध नहीं होते।

शाण्डिल्य - सुणादु भअवो। "अष्टौप्रकृतय, षोडशविकारा
आत्मा, पञ्चवायव त्रैगुण्य, मन, सचर, प्रतिसचरश्चेति।[3]

तत्व-समास में ये पद प्राप्त होते हैं, परन्तु यह कोई प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। अतएव उक्त विवेचना से भी "भगवदज्जुकम्" के समय का ठीक ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। परिव्राजक तथा शाण्डिल्य (गुरुशिष्य) की बातों में प्राचीन नैयायिकों की वेदवेदान्तविषयक शास्त्रीय चर्चा-शैली तथा गीता

१- भगवदज्जुकीयम् (टीका) - पृ० ४१
२- भगवदज्जुकम् - पृ० ४५
३- भगवदज्जुकम् - पृ० ५०

के उपदेशो की छाप देखकर भी इसकी प्राचीनता का सहज अनुमान हो सकता है। यथा —

शाण्डिल्य - जो अजरो अमरो अच्छेज्जो अभेज्जो सो अत्ताणाम।
जो हसेदि,हासेदि,सअदि,भुजदि,विलअ च गच्छदि सो कम्मत्ताणाम।[1]

तुलना कीजिये—

अच्छेद्यो ऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ॥[2]

इतना ही नही बोधायन की इस कृति की स्थापना मे भास के नाटको की तरह कर्ता के नाम तथा निवास-स्थान आदि के सकेतो के अभाव को देखते हुए ऐसा लगता है कि यह रचना उस समय के बहुत पहले लिखी गई होगी जब से नाट्य-कार प्रस्तावना मे अपने नाम एव पते का निर्देश करने लगे थे। भरत के नाट्यशास्त्र मे यह नियम लिखित है, परन्तु उसका पालन भास के परवर्ती कवियो ने ही किया। इन विशेष लक्षणो से लक्षित दृश्य काव्यो को श्री पिशरोतीजी किसी की स्वतत्र रचना न मान कर एक सकलन मात्र(Compilation) कहते हैं। यहाँ तक कि भास के ख्याति-प्राप्त सुन्दर रूपको के विषय मे भी उनकी यही धारणा है। किन्तु भास-कवि के नाटको की चारुता को देख कर उन्हें किसी के द्वारा किया गया सग्रह-मात्र मान लेना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इसी प्रकार बोधायन कवि के इस उत्कृष्ट प्रहसन को भी ऐसा कहना ठीक नही मालूम देता।

साख्य तथा योगदर्शन के पण्डित होने के साथ-साथ बोधायन कवि के नाट्य-शास्त्र-विद् होने का प्रमाण भी इसी रचना मे उपलब्ध होता है। भारतीय-नाट्य-शास्त्र के नियम का पालन न करके इसकी स्थापना मे कवि ने रचयिता के नाम का उल्लेख करने के स्थान पर सूत्रधार के मुख से एक प्रहसन का अभिनय करवाने की सूचना दिलवाई है। उसी स्थान पर अङ्कित रूपक-भेदो की पुष्पिका[3] मे नाटक और प्रकरण से विकसित होने वाले दशरूपको के साथ

१– भगवदज्जुकम् पृ० ३१
२– श्रीमद्भगवद्गीता। २ २४.
३– भगवदज्जुकम् - पृ० ५.

'वार' और 'सल्लाप' को स्थान देकर परम्परया स्वीकृत रूपक के दस भेदो की सख्या बारह तक पहुँचा दी गई है। इसी सूची मे सम्मिलित 'सल्लाप' का नाम तो उपरूपको के साथ परिगणित होने के कारण परिचित-सा प्रतीत होता है, परन्तु 'वार' एक नया ही नाम प्रतीत होता है। इनमे कवि ने हास्यप्रधान प्रहसन को ही प्रमुख स्थान दिया है।

दार्शनिक विवेचन के आधिक्य के कारण यह ग्रन्थ कही कही गूढ सा हो गया है, किन्तु दर्शनशास्त्र के रूखे-सूखे वाक्य भी हास्यरस मे डूबे होने के कारण नीरस नही प्रतीत होते।

परिव्राजक – रागद्वेषयोर्मध्यस्थता । कुत –
सुखेषुदुःखेषु च नित्यतुल्यता
भयेषु हर्षेषु च नातिरिक्तताम्।
सुहृत्स्वमित्रेषु च भावतुल्यता
वदति ता तत्त्वविदो ह्यसगताम् ॥[1]
+ + + +
ज्ञानमूल तप-सार सत्त्वस्थ द्वन्द्वनाशनम्।
मुक्त द्वेषाच्च रागाच्च योग इत्यभिधीयते ॥[2]

प्रसगवश यत्र तत्र शृगाररसमूर्च्छनात्मक गीतियाँ श्रोता का मन मोह लेती हैं जिससे कवि के कवित्व का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ जब गणिका वसन्तसेना और चेटी उद्यान मे मधुरसुरो मे गाती हैं तो इस उद्यान मे बसने वाले सहकार-रूपी शरीरधारी कामदेव के ज्याघोष के समान मधुर स्वर से मुनि का मन भी मुग्ध हो जाता है—

परभृत - मधुकरनाद –
ज्याघोष काम एव उद्याने।
तिष्ठति सहकार शरो
मुह्यति नून मनोपि मुने ॥[3]

१– भगवदज्जुकम् - पृ० २३
२– भगवदज्जुकम् १५, पृ० ४८,
३– भगवदज्जुकम् १८, पृ० ५६

इतना ही नही, कामिनियो के कटाक्ष का सखा कामदेव (कन्दर्प) जिसे मधुमास वसन्त पर गर्व है प्रफुल्लित 'अशोक' रूपी शरा से योगियो के हृदय को भी घायल कर देता है।

मधुमास – जातदर्प
कन्दर्प कामिनीकटाक्षसख ।
अपि योगिनामिह मनो
विध्यति फुल्लैरशोकशरै ॥[1]

पुष्पोद्यान मे प्रविष्ट शाण्डिल्य द्वारा उद्यान का वर्णन नाट्यकार की वर्णनाशक्ति का परिचायक है।

शाण्डिल्य —(उद्यान निरूप्य) ही। ही। चपअज्जुणकदम्बणी-वणि
सिन्दुवारतिए ..मुहावह अहो। रमणिज्ज खु इद उज्जाण।[2]

सर्प द्वारा डसे जाने के बाद विष के प्रभाव से सतप्त गणिका द्वारा उसको मानसिक एव शारीरिक शिथिलता का वर्णन बडा ही मर्म स्पर्शी है।

गणिका – सीददि विअ मे सरीर उब्भमन्ती विअ मे दिट्ठी
आउलिअ विअ मे हिअअ, णिग्गच्छन्ति विअ मे पाणा। सद्दु इच्छामि।[3]

इस प्रसग मे 'भगवदज्जुकीयम्' मे चित्रित वैद्यजी का चरित्र भी विचित्र है। वैद्यराज लटकमेलकादि के वैद्य के समान अपने शास्त्रज्ञान मे शून्य होने पर भी उनसे भिन्न है। इनकी भाषा सयत और शिष्ट प्रतीत होती है। उपचार करते समय 'पुस्तक पुस्तक' कह कर वैद्य अपना अज्ञान प्रकट करते हैं जो हास्य-जनक है।

१– भगवदज्जुकम् १६, पृ० ६०
२– भगवदज्जुकम्, पृ० ३६
३– भगवदज्जुकीयम् - पृ० ६७

गणिका – मूर्ख ! वैद्य ! वृथावृद्ध ! प्राणिनामन्तकमपि न जानीषे।
कतमेनेय सर्पेण व्यापादितेति वद ।

० ० ० ० ० ० ०

गणिका – ब्रूहि, ब्रूहि, वैद्यशास्त्रम्
वैद्य – सुणादु भोदी।
वातिका पैत्तिकाश्चैव श्लै – श्लै – अविहा।
पुत्थअ, पुत्थअ ।[1]

इस प्रहसन मे गणिका की कथा आती है। इसका सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह कृति शुद्ध प्रहसन की कोटि मे रक्खी जा सकती है। कारण, इसकी गणिका वसन्तसेना भी शूद्रक के मृच्छकटिक म चित्रित वसन्तसेना की तरह कुलजा नारी है। उसका रामिलक के प्रति प्रेम भी वैसा ही निष्कपट है जैसा मृच्छकटिक मे चित्रित वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति। उसके आचार-विचार लटकमेलक, हास्यार्णव, नाटवाट आदि प्रहसनो मे आलिखित वेश्याओ से भिन्न हैं। उसका स्थान कही अधिक उच्चस्तर का है। इसमे (हेमचन्द्रादि लक्षण-शास्त्रियो के अर्थ मे) विकृत भाषा का कही प्रयोग नही मिलता। नाट्य-शास्त्र के अनुसार शुद्ध-प्रहसन मे भगवत्, तापस आदि को स्थान मिल सकता है।[2] भवदज्जुकीयम् मे शाण्डिल्य एव गुरु परिव्राजक को भगवत् माना जा सकता है। शिष्य उसे इस सम्बोधन से सम्बोधित भी करता है। इसलिये श्री मनकड[3] भी इसे शुद्ध-प्रहसन मानते हैं।

इसमे आदि स अन्त तक सरल किन्तु सरस भाषा मे हास्य-व्यग्य प्रस्तुत किए गए हैं। इसके पात्र भी विशिष्ट लक्षणान्वित हैं और कवि ने बडी निपुणता से इसे मञ्च के उपयुक्त बनाया है। अब तक के प्रकाशित प्राचीन प्रहसनो मे सर्वोत्कृष्ट रचना होने के कारण इसे 'प्रहसनरत्नम्' ठीक ही कहा गया है। इसके कवि की गणना भी उत्कृष्ट कवियो मे की जा सकती है।

१– भगवदज्जुकीयम् - पृ० ६०,
२– ना शा अध्याय १८, १०३ १०४, पृ० ४४८-४४६
३– Types of Drama, D. R Mankad

इसकी विलक्षणता ने बहुत से उत्तरवर्ती कवियो को प्रभावित किया है जिनमे रामपाणिवाद का नाम प्रमुख है।

मदनकेतु प्रहसन

मदनकेतु चरित नामक प्रहसन मे सूत्रधार की पक्तियो[1] मे मद्रास के केरल प्रान्त के विख्यात कवि रामपाणिवाद को इसका रचयिता बतलाया गया है। इन्होंने १८वी शताब्दी के आरम्भ में अपनी कृतियो के रूप मे संस्कृत-साहित्य को बहुत वृद्ध किया है। इनकी लीलावती एव चन्द्रिका नाम की दो और रचनाएँ भी उपलब्ध होती है जो वीथी (रूपक) की कोटि की हैं। अनुसधान-कर्ताओ मे इस विषय पर मतभेद है कि प्रस्तुत प्रहसन के रचयिता रामपाणिवाद और कुछ म्लयालम् रचनाओं एवतु ल्लल कथाओ के लेखक 'कुचन नप्पियार' दोनों एक ही व्यक्ति है। यह समस्या अब तक हल नही हो पाई है।

नव युग की नई कृति होने के कारण, कवि को अपनी योग्यता पर विश्वास नही है या यों कहिए कि वह बहुत विनयशील है। उदारतावश इन्हें पुराने विद्वान रसिक-कवियों की रचना के बाद अपनी वस्तु प्रस्तुत करते समय सकोच होता है जो इसकी प्रस्तावना मे स्थित सूत्रधार एव पारिपार्श्विक के वार्तालाप[2] तथा ग्रन्थ के अन्त मे लिखित वाक्यो[3] से स्पष्ट झलकता है। इन वाक्यों से कवि मे आत्मविश्वास का अभाव भी स्पष्ट प्रतीत होता है। इसमें कवि की अयोग्यता नही, अपितु विनम्रता ही प्रकट होती है। उसकी निपुणता तो ग्रन्थ को सुन्दर ढग से आरम्भ करने मे ही फूटी पडती है। सरस्वती के चरणो मे श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित करने को व्याकुल कवि इसे सहृदयसमाज के समक्ष प्रस्तुत कर ही देता है। कारण, जो सज्जन हैं वे

१– सूत्रधार. – मारिष । अपि शृणोषिमगलग्रामवास्तव्येन रामपाणिवादेन विरचित मदनकेतुचरित नाम प्रहसनमस्मद्वशे वर्तत इति। मदनकेतुचरित पृ० २

२– स पुनर्यथानैपुण क्रियत एव। किन्तु आधुनिकाना निबन्धान्यबध्नन्ति सन्त इति केवलमुदास्यत। मदनकेतुचरित पृ० २.

३– प्रहसनलक्षणलेशैः स्पृष्ट चेत् प्रहसनाभिधा लभताम्।
नो चेत् पुनरन्यदिद विनोद रामपाणिवादस्य। मदनकेतु प्रहसन पृ० ५६

कवि के नए काव्य मे यदि गुण का अणुमात्र भी देख लेते है तो उसके छिद्रो की परवाह नही करते। ऐसे लोगो के सामने बच्चा भी स्वकीय कृतियो द्वारा अपनी प्रगति का परिचय दे सकता है। देदीप्यमान चन्द्रमा के सामने भी क्या तारागण नही चमकते ? चन्द्र के साथ उनका भी अस्तित्व होता है।

बालोऽप्यात्मकृतिप्रकाशनविधौ शक्नोति तेषा पुरो
दीप्ति विन्दति किं न चन्द्रमहसामग्रेऽपि तारागण ॥[1]

उदारमना रामपाणिवाद को इस प्रकार ग्रन्थारम्भ करते देख हमें कवि कालिदास की याद आ जाती है, जिनके मन मे मालविकाग्निमित्र को जनता को भेट करते समय ऐसे ही भाव उत्पन्न हुए थे।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्तरद् भजन्ते
मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥[2]

उनके अनुसार कोई काव्य पुराना होने पर ही उत्तम तथा ग्राह्य नही होता और न नया होने पर वह त्याज्य ही होता है। वस्तुत विद्वान् उसकी सम्यक् परीक्षा एव समीक्षा करके उसके गुण तथा अवगुण अलग करके बतला देते हैं। इसके विपरीत मूर्ख दूसरो की कही हुई बातो का अन्धाधुन्ध अनुकरण करते हैं। किसी भी कवि की कृति को कसौटी पर कसने वाले विवेकशील पाठक या दर्शकों का एक अलग समाज होता है। तदनुसार मदनकेतु को नवयुग की नवीन रचना होने के कारण बिना सम्यक्विवेचन के अवर मान लेना कवि के साथ अन्याय करना होगा। एतदर्थ इसका परिशीलन आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु—

इसमे बौद्ध भिक्षु विष्णुमित्र, शिवदास, राजा मदनकेतु, चन्द्रलेखा, अनगलेखा आदि की प्रणयलीला वर्णित है। मदनकेतु लका का प्रसिद्ध राजा

१— मदनकेतुचरित पृ० २
२— मालविकाग्निमित्र

है जिसने कलिंग पर विजय प्राप्त करके अपने कनिष्ठ भ्राता मदनवर्मा को वहाँ का राजा बना दिया।

लंका मे विष्णुमित्र नामक बौद्ध-भिक्षु अपने धर्म के विपरीत आचरण करने लगता है। वह अनगलेखा नामक वेश्या के प्रति अनुरक्त है और उसके प्रेम मे अन्धा हो रहा है।

'कथमपि नयाम्येष दिवसान्'
+ + + + + +
ध्याय ध्याय प्रिया ता पदमपि नोत्सहे कि करोमि ॥

इस प्रकार के प्रलापों से उसका चरित्र जनता के सामने आता देख अपने राज्य मे नैतिक पतन हो जाने की चिन्ता से आकुल राजा राज्य मे धर्म की सुरक्षा के लिए अद्भुतयोगविद्या के ज्ञाता कापालिक शिवदास का सहारा लेता है और शिवदास को भिक्षु विष्णुमित्र की चारित्रिक बातों से अवगत कराकर इसका प्रतिकार करने का सविनय आदेश करता है। अपने मित्र कलिंगराज मदनवर्मा के अनुरोध पर लंकानरेश मदनकेतु के दरबार मे पहुँचकर शिवदास उससे स्वयं मिलता है। बातों ही बातों मे मदनकेतु के मन मे स्थित द्रविड देश की रूपवती गणिका चन्द्रलेखा से प्रेम की बात को जानकर शिवदास उसकी प्रणयलीला मे सहायक पीठमर्द का कार्य सम्पादन करने का वचन देता है।

राजा – (सहर्षमुत्थाय) सखे कथयामि ते भूतार्थम्।
......चन्द्रलेखेति प्रख्यात किमपि गणिकारत्नमनुश्रूयते। तथाहि–
प्रत्यङ्गमङ्गनायास्तुङ्गकुचाभोगभुग्नमध्यायाः
विचरद्विहरतिमततविरहय्यानङ्गइनमाम् ॥[1]

कंचुकी राजाज्ञा से भिक्षु को राजा के समक्ष उपस्थित करता है। अनगलेखा की वृद्धामाता उसे खींचे जाते हुये देखती है। उसकी शिकायत यह है कि विष्णुमित्र उसकी पुत्री अनगलेखा के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध

1– मदनकेतुचरित २१, पृ० ११

बलात्कार करता पाया गया। उसे उचित दण्ड मिलेगा, इस आशा से आश्वस्त होकर वृद्धा लौट जाती है। कामुक भिक्षु बुरी तरह से ताडित होने पर भी, इसलिये प्रसन्न है कि इस बहाने उसे अपनी प्रेमिका के साथ कुछ क्षण व्यतीत करने को मिलेंगे–

कुट्टिन्या दृढमुष्टिकुट्टिकशतैर्निष्पिष्टसन्धीन्यपि
प्रायो नातिरुज भजन्ति विकसन्चित्तस्य गात्राणि मे।[1]

विष्णुमित्र दरबार मे बतलाता है कि वह रानी शृगार मञ्जरी की आज्ञा से अनगलेखा को बुलाने के लिये गया था, कारण रानी को अनगलेखा के नाम से सबोधित करने से राजा का उसके प्रति अनुराग झलकता था। राजा रानी की चाल को समझ कर उसके विनोदी स्वभाव की सराहना करना नही भूलता।

संस्कृत साहित्य मे योगियो एव ऐन्द्रजालिको द्वारा अद्भुत वस्तुओ का प्रदर्शन करने की परम्परा दिखाई देती है। राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी तथा हर्ष की रत्नावली मे इस प्रकार के आश्चर्यजनक वर्णन मिलते हैं। उदाहरणार्थ कर्पूरमञ्जरी सट्टक मे राजा भैरवानन्द नामक कौतुक प्रदर्शनकर्ता ऐन्द्रजालिक से कोई आश्चर्यजनक वस्तु दिखाने का अनुरोध करता है। भैरवानन्द वही असम्भव को भी सम्भव कर दिखाता है –

दसेमि तपिसीसिए वसुहावइण्णं
थमेमि तस्य वि रविस्स रह एहद्धे।
आणेमि जक्खसुरसिद्धगणगणाओ
त णत्थि भूमिवलए मह ज ण सज्झ।।
अत —(भैरवानन्दो ध्यान नाटयति)
राजा – अह ह, अच्छरिअ अच्छरिअ.........
आणीदा इअमम्भु देवकजणणी जोई सरेणामुणा।।[2]

१– मदनकेतुचरित पृ० १३
२– क म १ २५ २६

योगीश्वर के इस चमत्कार को देख दर्शक आश्चर्य में डूब जाते हैं। इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए यहाँ कवि ने योगिराज शिवदास का सहारा लिया है। ध्यानस्थ शिवदास चन्द्रलेखा को राजा के सामने उपस्थित कर दर्शकों को एक जादूनगरी में पहुँचा देता है।

> अवतरतु धरित्रीमेव राका-शशाङ्क
> पिबतु वकचकोरश्चन्द्रिकामेतदीयाम्।
> अपि च विकचपुष्पा मल्लिका जङ्गमत्व
> व्रजतु भजतु चैनामुत्सुको भृङ्गराज ॥[1]

ध्यान-मग्न शिवदास द्वारा सुन्दरी चन्द्रलेखा के नैसर्गिक सौन्दर्य को न देख सकने के कारण राजा को उस कापालिक पर दया भी आती है। उसकी मनोहारिणी छवि का चित्रण करने वाले श्लोक कवि की वर्णनाशक्ति एवं प्रकृति के सूक्ष्म-निरीक्षण के परिचायक हैं। यथा—

> सखे शिवदास! मुधा खलु विफलयसि सभाविनिमीलनेन लोचन-युगलम्[2]।... पश्य पश्य

संस्कृत-नाटकों में राजमहिषी राजा के प्रणय व्यापार में बाधक के रूप में प्रदर्शित की जाती रही है। विक्रमोर्वशीय, कर्पूर-मञ्जरी एवं रत्नावली आदि रूपकों के परिशीलन से इसकी पुष्टि होती है। रामपाणिवाद के मदनकेतुचरित में भी राजा की धर्मपत्नी शृङ्गार-मञ्जरी की उपस्थिति प्रेम विह्वल राजा एवं चन्द्रलेखा के मिलन में बाधा डालती है। चन्द्रलेखा द्वारा यह संकेत किये जाने पर भी कि महारानी की ओर से इसका विरोध होगा, प्रेमान्ध राजा चिरप्रतीक्षित प्रिया के साथ मिलन के सुख को त्याग नहीं सकता।

> राजा – प्रिये। मा मैवम्। कुत
> देवीविरोधमनुशङ्क्य तवाङ्गसङ्ग –
> सौख्यं चिराभिलषितं कथमुज्जहामि।
> व्यालीभयेन मलयाचलकन्दरस्थ
> को वा पटीरतरुसारमपाकरोति ॥[3]

१- मदनकेतु प्रहसन २५, पृ० १२
२- मदनकेतु प्रहसन २७ पृ० १३
३- [illegible] २१ पृ० १८

प्रेमिका की आशका को निर्मूल सिद्ध करने के लिये वह मलय पर्वत की कन्दराओ मे स्थित नागिनो के साथ रह कर भी अपनी स्वाभाविक शीतलता को न छोडने वाले चन्दन वृक्ष का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार चन्दन को प्राप्त करने वाला सर्प के डर से मैदान छोडकर भाग नही सकता उसी प्रकार कामासक्त राजा भी रानी शृगार-मञ्जरी के भय को त्याग कर चन्द्रलेखा के रूपलावण्य के सामने अपने घुटने टेक देता है। इस प्रसग मे राजा के मुख से निकले हुए उद्गार कुमारसभव मे पार्वती के कठोरतप के आगे हारे हुए शिवजी के वचनो से मिलते हैं।

सुन्दरि !
बिम्बोकद्रविणेन केवलमह क्रीतोऽस्मि दासोऽस्मि ते।[1]

यद्यपि कुमारसभव मे कालिदास का उद्देश्य भिन्न है, उससे रामपाणि-वाद की तुलना नहीं की जा सकती तथापि यहाँ कवि मे कालिदास का अनुकरण करने का प्रयास स्पष्ट लक्षित होता है।

'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मिदास क्रीतस्तपोभिरिति ।।"

एक म्यान मे दो तलवारें नही रह सकती। खम्भे के पीछे छिप कर राजा तथा चन्द्रलेखा की कामकेलि को देख लेने के कारण क्रोध से बौखलाती हुई रानी को देख राजा के सामने महान् सकट उपस्थित हो जाता है।

राजा (सविलक्ष स्वगतम्) — हन्त। महति सकटे पतितोऽस्मि।
(इति चन्द्रलेखा मुञ्चति)

अब कामोन्मत्त राजा का व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है। वह चौंककर चन्द्रलेखा को दूर कर देता है। इस दृश्य से शृगारमञ्जरी के हृदय मे सपत्नी के प्रति जागी हुई ईर्ष्या का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है।

देवी मा खु मा खु वालीमएण चन्दणरस मुचेहि ।।[2]

१– मदनकेतु प्रहसन ३०, पृ० १८
२– मदनकेतु प्रहसन पृ० २०
(इस स्थल को पढते समय विक्रमोर्वशीय के कुछ प्रसङ्गों तथा रत्नावली की वासवदत्ता के सागरिका के प्रति ईर्ष्या-भरे व्यवहार का स्मरण हो आता है।)

राजा के रँगे-हाथों पकड़े जाने के कारण यह स्थल दर्शकों के लिये मनो-विनोद का विषय बन गया है। कापालिक शिवदास के समझाने-बुझाने पर रानी शृङ्गारमञ्जरी मान जाती है और चन्द्रलेखा के साथ भगिनीवत् व्यवहार करने लगती है। अन्तःपुर में उसको अलंकारों से मण्डित भी किया जाता है, जहाँ वह मदनकेतु की प्रतीक्षा करती है।

शिवदास के चमत्कार को देखकर भिक्षु विष्णुमित्र प्रभावित हो जाता है। वह उसके सामने अपने मनोरथ की पूर्ति में विलम्ब के कारण उत्पन्न व्याकुलता को प्रकट करता है। काम के वश में पड़े हुए भिक्षु को-जो कर्तव्याकर्तव्य तथा औचित्यानौचित्य के विवेक से शून्य था, देख कर शिवदास को कलिंग नरेश मदनवर्मा को धर्म की सुरक्षा में साथ देने का-दिया हुआ वचन याद आ जाता है।[1]

इसके लिये वह कोई नई चाल चलना चाहता है। वह विष को विष से ही मारने का यत्न करता है। 'कण्टक कण्टकेनैव' के अनुसार वह बौद्ध भिक्षु को विषय-वासना में लिप्त करके इतना छका देना चाहता है कि वह भविष्य में इस मार्ग पर चलने का साहस ही न कर सके।

साधूक्त मदनवर्मणा। (विचिन्त्य) भवतु। चापल्यस्य परा काष्ठा मयायमनुभाव्यते॥ ततस्संसारभोगेषु विरक्तिं प्रापयिष्यते॥[2]

वह भिक्षु को मद्य से विमुख करने के लिये मद्य का गुणगान करता है और उसे मद्य पिलाकर पूर्ण तृप्त करने का यत्न करता है। पहली बार भिक्षु के मना करने पर भी 'साक्षात्परिव्राडिति युक्तमेतत्' इत्यादि कहता हुआ उसे पान करा ही देता है।[3]

१- मदनकेतु प्रहसन ३७, पृ० २३, १७, पृ० ८,

२- मदनकेतु प्रहसन पृ० २३.

३- मदनकेतु प्रहसन ३९, पृ० २४

यहाँ गूढ व्यंग्य छिपा हुआ है। भिक्षु के धर्म-विरुद्ध व्यापार पर कटाक्ष किया गया है। विष्णुमित्र जैसे दूसरे ढोंगियो पर भी यह बात लागू होती है। इसी प्रसंग में राजा भी राज्य में साधु-सन्तों को मद्यपान करने एवं वेश्यागामी होने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। राजा की यह घोषणा असंगत होने के कारण हास्य की सृष्टि करती है।[1]

शिवदास अनंगलेखा द्वारा यह कार्य सम्पादित करवाना चाहता है। गणिका का काम ही लोगों को शृंगार में लिप्त कर बहकाना होता है। वेश्या धन-लोलुप होती है। लखपति ही गणिका का प्रियतम होता है। चाहे वह अन्धा, लूला, लँगड़ा ही क्यों न हो?[2]

"यतो वित्तापति स खलु गणिकाना प्रियतम ।।"

जब अनंगलेखा विष्णुमित्र को रास्ते पर लाने को तैयार नहीं दिखती तो शिवदास भिक्षु को उसके आश्रम की पवित्रता और वेश-गृह की अपवित्रता में भेद बतलाता हुआ इसे कलुषित मार्ग को छोड़ देने की सलाह देता है।।[3]

"क्वासौ ससारसिन्धोस्सुतरणतरणिर्योगिनामाश्रमस्ते"

अर्थात —

कहाँ संसार-सागर को सरलता से पार करा देने वाला योगियों का आश्रम और कहाँ चन्द्रोदय की शोभा से रंजित रात्रि के समान वेश-वधुओं के संग का क्षणिक सुख? (दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है)। अतः अपने कल्याण की कामना करते हुए सज्जनों की उज्ज्वल सभा के बीच वास करो, तीर्थों का स्नान करके इस दुराशा से मलिन हुए मन का परिष्कार करो।

शिवदास योगविद्या से अनंगलेखा के शरीर में प्रविष्ट होकर भिक्षु के मन में वैराग्य उत्पन्न करके सपरिवार राजा को दिखलाना चाहता है। आग ही अग्नि का मूल कारण होती है।

---

१ मदनकेतु प्रहसन ४०, पृ० २४
२ मदनकेतु ४५, पृ० २६
३ मदनकेतु ६०, पृ० ३१

स्त्रीमूलस्योपतापस्य स्त्रिय एव प्रतिक्रिया ।
वह्निश्च वह्निमूलस्येत्यामनन्ति मनीषिणः ॥[१]

वह अपनी यौगिक शक्ति से अनगलेखा को सर्प से डँसवा कर उसकी आत्मा को किसी जन्तु मे डाल देता है। इस घटना से त्रस्त होकर भिक्षु रक्षणार्थ राजा के पास पहुँचता है। इसी बीच शिवदास की आत्मा से युक्त अनगलेखा के शरीर को चलता-फिरता देख राजा-रानी आदि आश्चर्य मे डूब जाते हैं। इस स्थल पर बोधायन कवि के भगवदज्जुकीय का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ भी कथावस्तु द्वारा हास्योत्पादन किया गया है। अनगलेखा भिक्षु के प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगती है। उसका प्रेम प्रकाशन अपनी सीमा को पार कर इतना बढ जाता है कि भिक्षु को भरी सभा मे उसके इस व्यवहार से लज्जित होना पडता है। वह लज्जा से गड जाता है। इतना होने पर भी वह अनगलेखा को हृदय से चाहता है। परन्तु अनगलेखा के व्यवहार मे नर्युचित कुल, शील तथा लज्जा के अभाव को देख कर वह ऊब जाता है। बीभत्स-रस का सचार होने के साथ-साथ उसकी बातो से ग्रामीणता भी टपकने लगती है। इसके फलस्वरूप पहले जो कामुक था, अनगलेखा पर प्राण देता था, वही उसका तिरस्कार करने लगता है।

'बीभत्सन्ते जगति युवतिभ्य सुमतय। [२]

तिरस्कृत होकर शिवदास की आत्मा से युक्त अनगलेखा का शरीर भागना चाहता है। राजा मदनकेतु भी रुष्ट होकर उसे दण्डित करने की धमकी देता है। उसी क्षण प्रविष्ट होने वाले डाम्भक के हाथ मे शिवदास के शव को देख दर्शक योगिराज की आकस्मिक मृत्यु पर दुःख प्रकट करते है। शिवदास की आत्मा अनगलेखा का तन त्यागकर अपने शरीर मे पुनः प्रविष्ट हो जाती है। माता को पुत्री के लिये दुःखी देख शिवदास उसे भी पुनर्जीवित कर देता है। इस प्रकार अनगलेखा द्वारा दिखलाए गए ग्रामीण व्यवहार का रहस्य भी खुल जाता है।

१- मदनकेतु ६२, पृ० २३.

२- मदनकेतु पृ० ४०

भूमौ यत्किल सचिनोति दुरितं धर्म्यात् पथ प्रच्युतो,
लोकस्तत् खलु भूपतौ परिणमत्यम्भो यथाम्भोनिधौ ।
इत्यालोच्य हिताय ते यतिमम् दुर्मार्गपातोन्मुख
तत्व बोधयितुभवाब्धिजलधेरेष प्रयत्नो मम ।[1]

इस प्रकार कवि ने शिवदास नामक पात्र द्वारा एक उच्च उद्देश्य की पूर्ति करवाई है जिसमे जन-कल्याणकारिणी भावना छिपी है ।

परिषदमाराधयितु प्रयतेथा सर्वथा दुराराधाम् ।
गणिकामनङ्गलेखा भिक्षुरसौ विष्णुमित्र इव ॥[2]

वैदर्भी रीति म रचित मदनकेतु प्रहसन अपने ढंग का निराला है। १८ वी शताब्दी की रचना होने पर भी इसमे १२ वी शताब्दी के लटकमेलकादि प्रहसनो मे चित्रित समाज का ही चित्र अकित किया गया है। लटकमेलकादि की भाँति कही-कही अश्लील वर्णनो से युक्त होने पर भी रचयिता ने इसे इस ढग से प्रस्तुत किया है कि इसमे अन्य मध्ययुगीन प्रहसनो की अपेक्षा अभद्रता-सूचक दृश्य कम आये है ।

इसमे कुछ ऐसे तत्त्व है जो पूर्णतया काल्पनिक हैं तथा अद्भुतरसात्मक (Romantic) जगत् का निर्माण करते हैं —जैसे योग-विद्या या अतिरञ्जित चित्र। भारत मे योग विद्या का प्रभाव प्राचीनकाल से रहा है, परन्तु आधुनिक युग की दृष्टि मे इसे अस्वाभाविक माना जा सकता है। फलत आज के विचारक इसे अवर रचना मान सकते हैं। आग्ल-साहित्य मे भी शेक्सपियर ने इस प्रकार के कृत्रिम रोमान्टिक और काल्पनिक तत्वों का सहारा लिया है- उदाहरणार्थ मैकबेथ हेमलेट, ' मिडसमरनाइट्स ड्रीम ' आदि म प्रेतात्माओं का प्रवेश कराया गया है। चलचित्र जगत मे आज भी दर्शकों को जादूनगरी मे पहुँचा देने वाले दृश्य दिखलाए जाते हैं, जिन्हें जनता बडी रुचि से देखती है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे भी ऐसी बातो का सम्मान होता है।

१— मदनकेतु ११० पृ० ५४
२— मदनकेतु ५. पृ० ३, मदनकेतु ११४ पृ० ५५

कारण, अप्रिय सत्य की अपेक्षा कल्पना से रञ्जित असत्य चित्रण अधिक प्रभावोत्पादक हुआ करता है ।

इस प्रहसन में मुख्यतः बौद्ध भिक्षु विष्णुमित्र और शिवदास की कथा वर्णित है। फिर भी इसका शीर्षक 'मदनकेतु' रक्खा गया है। नाट्याचार्यों ने नाटक-सम्बन्धी जो नियम बतलाये हैं, उनका पालन न करके कवि ने राजा के नाम पर ही इसका नामकरण कर दिया है।[1]

यहाँ दो प्रकार के राजाओं का चित्र उपलब्ध होता है। एक है रात दिन भोगविलास में रत रहने वाला लंका का राजा मदनकेतु, जो प्रेम मार्ग में विश्वासघात करता है। उसकी बातों से उसकी छलियावृत्ति और नारी की मोहिनी-शक्ति के आगे उसकी पराजय झलकती है।[2]

" नम्रालापैरमृत – मधुरैरन्यमाह्लादयन्ती
नारीनाम्ना जयति हि जगन्मोहिनी कापि शक्तिः ।।

कवि ने उस पर गहरा व्यंग्य कसा है। रानी की उपस्थिति में वह उसे त्रैलोक्य-रत्न बतलाता है और रानी के चले जाने पर शिवदास से चन्द्रलेखा के प्रति अपने प्रेम की बात व्यक्त करता है।[3]

मदनकेतु पर भगवदज्जुकम् का प्रभाव

इसके विपरीत दूसरा राजा है कलिंगराज मदनवर्मा, जो सदा राज्य में धर्म संस्थापना की चिन्ता में लीन रहता है। योग-विद्या द्वारा एक महान् उद्देश्य की पूर्ति करने की कवि की कल्पना निस्सन्देह उत्कृष्ट है। यह प्रेरणा कवि ने बोधायन के 'भगवदज्जुकीयम्' प्रहसन से ली होगी, ऐसा भासित

१– नामकार्यं नाटकस्य गर्भितार्थ-प्रकाशम् । यथा – 'रामाभ्युदय'।
नायिकाख्यानात्संज्ञा-प्रकरणादिषु । यथा मालतीमाधवादि । नाटिकासट्टकादीना नायिकाभिविशेषणम् । यथा –रत्नावली कर्पूरमञ्जरी ।
साहित्यदर्पण.

२– मदनकेतु पृ० ४५.

३– मदनकेतु १३५, पृ० ७.

होता है। मदनकेतु प्रहसन एवं भगवदज्जुकीयम् के तुलनात्मक अनुशीलन से दोनों कृतियों में निम्नांकित साम्य दिखाई देता है यथा —

भगवदज्जुकीयम्	मदनकेतु प्रहसन
(क) यहाँ वसन्तसेना की मृत्यु का कारण सर्पदंशन है।	अनगलेखा के मरण का हेतु भी सर्प है।
(ख) भगवदज्जुकम् में परिव्राजक वसन्तसेना के शरीर में प्रविष्ट होता है।	यहाँ शिवदास अनगलेखा के शरीर में प्रवेश करता है।
(ग) हास-परिहास के पोषक के रूप में किसी स्त्री-पात्र को योगी द्वारा प्रस्तुत किया गया है।	रामपाणिवाद भी अपनी कृति में हास्य की पुष्टि के लिये योगी के द्वारा एक नारी-पात्र को स्थान दिलवाते हैं।
(घ) प्राकृत भाषी पात्र कभी कभी संस्कृत बोलते हैं जैसे वसन्तसेना[1] उसकी चेटी कामदेव की स्तुति करते समय संस्कृत में गीत गाती है।	चन्दनिका नामक दासी संस्कृत में बोलती है।[2] शिवदास के तन में प्रविष्ट अनगलेखा[3] प्राकृत में भाषण करती है परन्तु कभी-कभी संस्कृत बोलना आरम्भ कर देती है।

नाटकीय संविधान की दृष्टि से उक्त प्रहसनद्वय में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है। भगवदज्जुकम् में भास के नाटकों की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। यथा नान्दी का अभाव, स्थापना में नाटककार के नामोल्लेख की अनुपस्थिति और मञ्च पर वध दिखलाना आदि बातें भासनाटकचक्र के नाटकों के समान ही बोधायन कवि की रचना में उपलब्ध होती हैं। इसके विपरीत मदनकेतुप्रहसन में इनका अभाव है। भास के बाद के रूपककारों की तरह रामपाणिवाद ने भी प्रस्तावना में अपने नाम धाम का परिचय दिया

१— भगवदज्जुकम् श्लोक १८-१६, पृ० ५६ ६०
२— मदनकेतु ४३, पृ० ७५
३— मदनकेतु ६५ पृ० ४५

है। नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार मञ्च पर वध के दृश्य भी (दो चार क्षणों तक रहने वाली मरणावस्था को छोड कर) नहीं प्रदर्शित किए हैं।

इस प्रहसन मे कवि ने पहले के व्यग्य-रूपको की भाँति लोगो को केवल हँसाने का ही प्रयत्न नही किया है अपितु काव्य की साहित्यिक छटा का सुन्दर प्रदर्शन भी किया है। प्रसगानुसार कवि लेखन शैली बदलने मे भी पटु है। भिक्षु द्वारा प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का वर्णन उत्कृष्ट कल्पना का दृष्टान्त है।[१] मदनवर्मा द्वारा मदनकेतु को प्रेषित सन्देश मे अपने दरबार के सामन्त राजाओ की राजभक्ति का प्रभावोत्पादक वर्णन है।[२]

विषयानुकूल दीर्घसमासयुक्त लम्बे वाक्यों का बाहुल्य भी इस प्रहसन मे मिलता है। कही-कही कवि की गौरवात्मक शैली दर्शक के हृदय मे माधुर्य का सञ्चार करती है।[३]

श्रृगार-वर्णन के प्रसग मे भाषा सगीतमय एव भावात्मक हो उठी है। प्रेमी प्रेमिका के प्रेम मे विभोर होकर उसके चरणो मे अपना सिर रख देता है।

जननयनचकोरी – चन्द्रिके, चन्द्रलेखे !
विसृज सुतनु ! मौन मादृशो नापराधी।
इति निपतति जल्पन् पादयोस्ते प्रमादा-
दधिभुवि लिखिताया श्चित्त-सकल्पिताया ॥[४]

इस प्रकार रामपाणिवाद के मदनकेतु प्रहसन मे नाट्यशास्त्र के नियमो के अनुसार सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग, और अङ्को द्वारा सम्पादित बौद्ध भिक्षु विष्णुमित्र जैसे निन्दनीय पुरुष का कवि-कल्पित वृत्तान्त है। यह राम पाणिवाद का केवल विनोद ही नहीं, प्रत्युत प्राचीन आचार्यों की रूढि को न तोडते हुए इस क्षेत्र मे उनका सफल प्रयास है।

१– मदनकेतु १०, पृ० ६
२– मदनकेतु १४, पृ० ८
३– मदनकेतु ३४, पृ० २३.
४– मदनकेतु २६, पृ० १७.

हास्य-चूडामणि प्रहसन

चतुर्भाणी की विवेचना करते समय वत्सराज के कर्पूरचरित भाण का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ उनके हास्यचूडामणि प्रहसन की चर्चा की जायगी। इस प्रहसन में भागवत सम्प्रदाय के किसी आचार्य के अध्यापन के विचित्र ढंग तथा उनके केवलीविद्यागत ज्ञान का अतिशय हासिक शब्दों के प्रयोग द्वारा उपहास किया गया है। वहीं गुरु-शिष्य के वेश्यागत प्रेम पर भी आक्षेप किया गया है।

ज्ञानराशि – अयि ! कण्ठ गतो शुकी तवेसी सवृत्ती ?
शिष्य – नारायणे ! उवरणदाविमे सवुत्ता।
ज्ञानराशि – (सक्रोधम्) मूर्ख नामग्रहणेन मा व्याहरसि ?

+ + + +

शिष्य – नमस्ते पाण्डुरैकाक्ष ! नमस्ते विश्वतापस ?
नमस्तेऽस्तु मृगाक्षेप महापुरुष कुर्वंर।
ज्ञानराशि – (सक्रोध) आ क्षुद्र ! पाण्डुराक्ष इति मामुपहससि।
(इति हन्तुमुपक्रमते)

+ + + +

ज्ञानराशि – (स्वगतम्) अमज्ञोऽयम्। तदहं एनमस्य धैर्यात्।
(प्रकाशम्) वत्स कौण्डिन्य एह्येहि।
शिष्य (सोद्वेगम्) ए भागम्मिस्स चण्डसीलो नु भुम।

+ + + +

शिष्य – ए अ तुमु जाणामि केवली विज्ञा।
ज्ञानराशि – मूर्ख ! अहमेव केवली जाने किन्तु...... ..

कवि के भाण और प्रहसन तथा इसी कोटि के अन्य ग्रन्थों में अधिकतर शिव की स्तुति की गई है।

कल्याणं वितरन्तु व पृथुजटाजूटाग्र-विस्तारिण
न चूडाशशिन शिर सुरधुनीधारानुसारा करा।
सानुत्प्रेक्ष्य मदोम्भभार - विधुरे शुण्डारदण्ड मृपा
हेरम्बे घटयत्यनारतमभूद्धासमिहासो हर ॥[1]

1– हास्यचूडामणि ९

अपि च –

भूयिष्ठा परिरम्भकेलिषु भुजा नोत्कण्ठमालोकने
नेत्राणि प्रचुराणि चुम्बनविधौ भूयांसि वक्त्राणि ते ।
इत्थं भूरिवधूविलास-घटनासज्जस्य काऽहं तव
प्रोक्तः क्रोध-विरुद्धयेति शिवया स्मेरो हरः पातु वः ॥[1]

इन्हे देखकर ऐसा भासित होता है कि ऐसी हास्यपरक रचनाओं के रचयिता शैव और शाक्त सम्प्रदाय के अनुयायी रहे होंगे । इनमे तथा श्रव्य-काव्य के कतिपय रूपों मे प्राप्त धूर्तों का चित्र एवं वैशिक-वर्णन का आधिक्य इस बात की ओर संकेत करता है कि मध्ययुगीन भारत मे वेश्याओं और कपटी लोगो की संख्या बहुत बढ गई थी। सम्भवत बडे नगरो और राज-धानियो मे इस प्रकार की जनवृद्धि का कारण रहा होगा छोटे-छोटे राज्यों का अतिविलासी होना। परिणामस्वरूप तत्कालीन साहित्य मे अंकित प्रकृति-नटी भी ठगोका-सा आचरण करती पाई जाती है। वत्सराज के एकांकी प्रहसन हास्य-चूडामणि मे आचार्य ज्ञानराशि की कुछ हँसी उडाई गई है जो 'केवली' विद्या के ज्ञान के सहारे गडे हुये धन तथा खोई हुई पुरानी निधि का सहज ही पता लगा लिया करता था। अपने धार्मिक कृत्यों को छोडकर लौकिक कार्यों मे उसकी अनुरक्ति को ही कवि ने व्यंग्य का शिकार बनाया है।

हास्यचूडामणि में प्रकृति का चौर-कर्म दर्शनीय है —

पत्त णिअ सम्पत्ति परिमुसिअ विसमतिमिरचोरेण
एसाऽम्बर – लक्ष्मीर्भगवन्त सूरमनुमरति ।[2]

अर्थात् रात्रि के घोर तिमिर रूपी चोर द्वारा अपहृत सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये यह अम्बर-लक्ष्मी उषा भगवान् सूर्य का पीछा करती चली आ रही है।

इस प्रकार कवि ने सामाजिको का चित्तानुरञ्जन करते हुए उनके मनो-विकारो का परिष्करण करने का सुन्दर प्रयास किया है।

१- हास्यचूडामणि २.
२- हास्यचूडामणि ६.

धूर्तसमागम

मिथिला नरेश हरिसिंह देव के राजकवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर के धूर्त-समागम प्रहसन का भी नामोल्लेख महत्वपूर्ण है। ज्योतिरीश्वर ने वर्णन रत्नाकर[1] (मैथिल भाषा मे) और पचसायक नामक अलकार ग्रन्थ भी लिखे। नैपाली जनता ने नाट्यकला के साहित्यिक रूप को इन्ही से ग्रहण किया। ज्योतिरीश्वर के काल एव स्थान के विषय मे मतैक्य नही है। 'धूर्त-समागम' की प्रस्तावना मे वर्णित मिथिला-नरेश और इतिहासप्रसिद्ध तुगलकवश के मुसलमान राजा गयासुद्दीन तुगलक के बीच हुई लड़ाई की ओर सकेत किया गया है। वही कवि ने अपनी वशावली पर भी प्रकाश डाला है। तदनुसार ये मिथिला के धीरेश्वर कुलोद्भव रामेश्वर के पौत्र तथा घनेश्वर के पुत्र थे। कवि के इस प्रहसन की किसी प्रति मे उनके आश्रयदाता का नाम हरिसिंह देव और किसी मे नरसिंह देव मिलता है। यही भेद विद्वानों मे प्रचलित ज्योतिरीश्वरठाकुर के कालविषयक मतभेद का प्रमुख कारण है। इस आधार पर जर्मनविद्वान लासेस ने अपने एन्थोलोजिया सस्कृतिका (बरेन १८३८ ई०) मे ज्योतिरीश्वर को विजयनगर के नृपति नरसिंहदेव का, जिनका समय १४८६ से १५०८ ई तक बताया जाता है, दरबारी कवि माना है। हरप्रसाद शास्त्री नेपाल दरबार पुस्तकालय से प्राप्त धूर्त-समागम की एक प्रति के अनुसार इनके आश्रयदाता का नाम हरिसिंह देव (१३२३ ई) ही मानते है। अत उनके अनुसार कवि का समय तेरहवी शताब्दी होना चाहिये। श्री कृष्ण जी (बबुआ जी मिश्र) छठे कर्णाटवशीय राजा हरिसिंह देव के शासनकाल मे प्रारम्भ की गई मिथिला की पजी मे कवि के नामोल्लेख को न पाकर उन्हें हरिसिंह देव का पूर्ववर्ती मानते हैं। तदनुसार भी कवि का समय तेरहवी शती ही प्रतीत होता है। श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'वर्णनरत्नाकर' का सम्पादन करते हुए उसकी भूमिका मे कवि के काल-विषयक उद्गार अकित किए हैं। उनसे ध्वनित है कि इनका समय चौदहवी शती रहा होगा। कतिपय आधुनिक आलोचको ने पजी मे भी ज्योतिरीश्वर के नाम को ढूंढ निकालने का यत्न किया है और उन्हे विद्यापति

१- सम्पादक श्री सुनीतिकुमार चटर्जी तथा प० बबुआजी मिश्र (श्रीकृष्ण मिश्र) प्रकाशक -एशियाटिक सोसाइटी बगाल (कलकत्ता) -१९४० ई०

का यदाज सिद्ध किया है।[1]

धूर्तसमागम मे एक दुष्ट परिव्राजक विश्वनगर और उसके शिष्य दुराचार के बीच एक सुन्दरी वेश्या अनगसेना के लिये कलह का चित्रण किया गया है। अनगसेना से शिष्य पहले मिला था परन्तु गुरु उसे अपने लिये चाहता था। उस युवती के परामर्श से इसका निर्णय सज्जाति नामक ब्राह्मण को सौंपा जाता है जो बन्दर तथा दो बिल्लियों की लडाई की कथा के आधार पर इस झगडे का निर्णय करता हुआ वेश्या को अपने लिये रख लेता है। इसकी कथा लटकमेलक एव हास्यार्णव के समान ही आदि से अन्त तक शृगाररस मे पगी हुई है। पञ्चसायक नामक कामतन्त्रविषयक ग्रन्थ के रचयिता ज्योतिरीश्वर के लिये काममय प्रहसन लिखना कोई बडी बात नही थी।

कौतुक–सर्वस्व

गोपीनाथ चक्रवर्ती का कौतुक-सर्वस्व दुर्गा–पूजा के उत्सव पर लिखा गया उत्तरकालीन प्रहसन है इसमे अश्लील-तत्व अपेक्षाकृत कम और मनोरजक तत्व अधिक प्राप्त होते हैं। भगेडी, लम्पट और मद्य प्रकार से दुर्व्यसनी राजा कलिवत्सल पुण्यात्मा ब्राह्मण सत्याचार के प्रति दुर्व्यवहार करता है। सत्याचार राज्य मे फैली हुई गडबडी को देखता है। लोग परपीडन मे शूरता, झूठ बोलने मे कुशलता और धर्मशील लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने मे अपनी सज्जनता समझते हैं। तलवार से मक्खन की टिकिया काटने की एव मच्छर की उपस्थिति से उसको काँपता देख दर्शक सेनापति के वीरत्व का सहज अनुमान कर सकते हैं। पुराणो मे वर्णित अनैतिकता की इस प्रहसन में हँसी उडाई गई है। ऋषियो ने पाप की चर्चा करते हुए उन्ही बातो का निषेध किया है जिनका वे स्वय वृद्धावस्था के कारण उपभोग नही कर सकते। राजा स्वच्छन्द प्रेम की घोषणा करता है, परन्तु स्वय गणिका-विषयक किसी अन्य विवाद मे व्यस्त हो जाता है। उसे रानी के पास बुला लिया जाता है। इस

१- देखिये –वर्णन रत्नाकर –लेखक लक्ष्मणप्रसाद
दी जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी –१६५०
जिल्द ३४, भाग ३-४ पृ० १७२.

घटना से गणिका इतनी त्रस्त होती है कि सब लोग उसे आश्वासन प्रदान करने के हेतु दौड़े आते हैं। राजा गणिका की प्रसन्नता के लिये विवश होकर सब ब्राह्मणों को राज्य से निकाल देता है।

कौतुक रत्नाकर

बंगाल के वाणीनाथ के पुत्र अज्ञातनामा (कवितार्किक उपाधिधारी) राजपुरोहित की एक अनुपम हास्य प्रधान कृति मिलती है, जिसका शीर्षक है कौतुकरत्नाकर। नोआखाली में स्थित भूलुआ के लक्ष्मणमाणिक्य कवि की यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है। इसमें पुण्य वर्जित नगर के धुरितार्णव नामक मूल राजा की हँसी उड़ाई गई है जिसने दुष्टों द्वारा हरी गई अपनी रानी को ढूंढ लाने का काम धूर्तों को सौंपा था। रानी पुलिस विभाग के प्रधान कर्मचारी सुशीलान्तक के पास सुरक्षित थी। वह वसन्तोत्सव से एक रात पहले भगा ली गई थी। राजा अपने मन्त्री कुमतिपुंज, पुरोहित आचारकालकूट ज्योतिषी अशुभचिन्तक, अन्त पुर के प्रहरी चचण्डशेफ एवं अपने गुरु अजितेन्द्रिय आदि की सलाह के अनुसार सारे काम सम्पादित करता है। राजा अनंग-तरंगिणी नामक वेश्या को रानी के स्थान पर वसन्तोत्सव के दिन रख लेता है। इसी बीच कपटवेशधारी नामक धूर्त ब्राह्मण रानी के हर्ता के रूप में प्रकट होता है। अन्य प्रहसनात्मक रचनाओं की तरह इसमें भी पात्रों के आचार विचार, उत्तर-प्रत्युत्तर अशिष्टतापूर्ण हैं। अतिशयोक्ति तथा ग्रामीणता भी इसमें दृष्टिगत होती है जिसके कारण इसका व्यंग्य एवं हास्य फीका पड़ गया है।

धूर्तनर्तक

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नरहरिबिन्दुपुरेन्द्र के पुत्र एवं रामचरित नाटक तथा अन्य कविताओं के निर्माता सामराज दीक्षित का धूर्तनर्तक भी दो सन्धियों में विभक्त एकांकी प्रहसन है। यह भगवान् विष्णु के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर रचा गया था। इसमें मुख्यतः शैव अवधूतों का उपहास किया गया है। साधु पुरेश्वर एक नर्तकी के प्रेम में पड़ा था किन्तु उसने अपना प्रेम अपने शिष्यों से गुप्त रखा था। इसके दोनों शिष्य उसका

प्रणय-व्यापार राजा पापाचार के समक्ष उद्घाटित कर देते हैं। इस कृति मे पूर्ववर्ती प्रहसनो की अपेक्षा अशिष्टतापूर्ण चित्र कम पाये जाते हैं। फिर भी इसमे साहित्यिक दृष्टि से सराहनीय कुछ भी दिखाई नही देता।

पूर्वोल्लिखित प्रहसनावली मे परिगणित कृतिया म कुछ अप्रकाशित हैं। इनका ज्ञान हमे हास्य रचनाओ की आशिक पाण्डुलिपियो के अध्ययन से होता है। ऐसी कृतियो मे काश्यप-गोत्रोद्भव[1] कीर्तिदेव के वशावतस श्री विश्वनाथ देव के पौत्र और गोविन्ददेव के पुत्र सुन्दरदेव वैद्य द्वारा दो सन्धियो मे रचित 'विनोदरङ्ग' नामक प्रहसन भी है। इसकी रचना वसन्तोत्सव के समय उपस्थित सामाजिको[2] के अनुरञ्जनार्थ हुई थी। इसमे परम्परा के अनुसार धूर्तो एव रागमजरी वेश्या का चरित्राङ्कण किया गया है। इसका अन्त भरत-वाक्य से होता है।

उन्मत्तकविकलश

भोसलवशावलि चम्पू काव्य एव सभापतिविलास शीर्षक नाटक के रचयिता वेंकटेश्वर कवि ने भी उन्मत्तकविकलशप्रहसन लिखकर प्रहसनसाहित्य को समृद्ध करने का यत्न किया।[3] उक्तरूपकद्वय तथा चम्पूकाव्य की हस्त-लिखित पोथियो की तालिका से विदित होता है कि हमारे नाट्यकार दक्षिण भारत

१- काश्यपगोत्रभविन कीर्तिदेव वशावतस-श्री विश्वनाथ-देवात्मज गोविन्ददेवसुत-सुन्दरदेव-वैद्य-सस्कृत विनोदरङ्गप्रहसने द्वितीय-सधो प्रथमोऽङ्क।

समाप्तमिद प्रहसनम्।

२- नान्द्यन्ते सूत्रधार -अलमतिविस्तरेण।

यदद्य वसन्तोत्सव-समयानुकूलं श्रीकविराज-सुन्दरदेव वैद्य विरचिते विनोदरङ्गनाम्ना प्रहसनेन सामाजिकानुरञ्जयाम। (नेपथ्ये) क काव्य भो वाचाट इव पण्डित सभासु।

विनोदरङ्ग प्रहसन।

३- सूत्रधार (विचिन्त्य सहर्षम्) हस्तगतमपि माणिक्यमापणे मृग्यते। ननु निर्दिष्टगुण-विशिष्टमस्मद्वश एव कवरकुमारिकानरलतरङ्गताण्डवनिशोकरासार शीतलोपशल्य-मानुरामहाराहारनायकमणे षड्दर्शनी-सागरनिशाकरस्य षड्भाषा-सार्वभौमस्य प्रतिदिन-प्रबन्धनिर्माणपरमेश्वरस्य धमराजमनीषिणो भाग्यधय-परिणामेन वेङ्कटेश्वरकविना गृहीत-वस्तु – विरचित-विरचितमुन्मत्तकविकलशनामकेन सकलहृदयानन्दविकसनम् प्रहसनम्।

के भोसल-नृपेन्द्र शरभोजि प्रथम के आश्रित कवि थे। शरभोजि महाराज का शासन काल १७११ ई मे १७२८ तक माना जाता है। नैधुवकाश्यपगोत्रीय घमराज के पुत्र वेंकटेश की ये कृतियाँ अब तक अप्रकाशित हैं। ये विद्वद्वंश के थे। इनका उन्मत्तकविकलशप्रहसन आंग्लसाहित्य के प्रहसनो (Farce) से से बहुत-कुछ मिलता है। इसका मुख्य उद्देश्य प्रेक्षको को हँसाना है। फलस्वरूप इसमें कहीं-कहीं अभद्रता के दर्शन होते हैं। विट सभा मे स्थित सामाजिको के हृदयावर्जनार्थ इसे प्रस्तुत किया गया था। यहाँ भी नाट्य शास्त्र के नियमानुसार नान्दीपाठ का सम्यक्पालन किया गया है।

वेंकटेश्वर कवि

वेंकटेश्वर नामक एक दूसरे महानुभाव के भानुप्रबन्धप्रहसन का नाम भी प्रहसनावली में मिलता है। ये कवि उन्मत्तकविकलश प्रहसन के रचयिता वेंकटेश या वेंकटेश्वर जी से सर्वथा भिन्न व्यक्ति है। यह कृति अपने सम्पूर्ण रूप मे तो नही मिलती किन्तु इसके कुछ अंशो का निर्देश पाण्डुलिपियों की सूची मे अवश्य मिलता है। ये रामभद्रदीक्षित के पतञ्जलि चरित काव्य के व्याख्याकार थे। इस व्याख्या मे और इसके अन्त में इन्होंने स्वयं को रामभद्रदीक्षित[1] का शिष्य और श्री दक्षिणामूर्ति का पुत्र घोषित किया है। भानुप्रबन्ध[2] के भरतवाक्य मे भी इनके पिता का नाम उल्लिखित है। इस प्रहसन के अन्तिम

१- इति कौण्डिन्यकुलतिलकदक्षिणामूर्तिवेङ्कटेश्वरशास्त्रिविरचितायां पतञ्जलिचरितव्याख्यायां ललिताख्यायां प्रथम सर्ग।

० ० ० ० ० ०

व्याचष्टे किल रामभद्र मखिनस्तस्याप्तशिष्य कृती,
सौभीद्र सहृदेवेङ्कटेश्वरकवि यस्यानिबद्ध यश । पतञ्जलिचरित व्याख्या-४।

२- भूपा पुण्यपथे चरन्तु भवतु क्षेम नृणा सर्वत
कालेष्वोक्षय फलन्तुसस्य खेलन्तु राजा प्रिया।
कौण्डिन्यान्वयमण्डनायजनित - श्रीदक्षिणामूर्तिना
काव्यस्यास्य च वेङ्कटेश्वर-कवि कर्ता चिर जीवतु।
। श्री गुरुभ्योनम । भानुप्रबन्ध प्रहसन।

श्लोक से कवि का तंजौर के दरबार से निकट सम्बन्ध भी विज्ञापित होता है।[1]

सोमवल्ली योगानन्द प्रहसन

चित्तौड जिले के विद्वत्परिवार में उत्पन्न कवि अरुणगिरिनाथ के सोमवल्ली योगानन्द प्रहसन का नाम भी मिलता है।[2] इसके कवि ने महाकवि कालिदास की कृतियों पर प्रसिद्ध टीकाएँ भी लिखी हैं। यह प्रहसन प्रकाशित होकर जनता के सामने नहीं आ सका है। इसमें एक योगी को किसी कुमारी कन्या के साथ प्रणय-लीला का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त काश्मीर के निवासी गोविन्दश्रीवत्साङ्क उपनामधारी वासुदेव कवीन्द्र का सुभगानन्द प्रहसन भी लिखा गया था। प्रस्तुत प्रहसन के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि वे काश्मीर[3] के राजा भी थे। यह कृति भी प्रकाश में नहीं आ पाई है।

किसी अज्ञातनामा कवि ने भी 'पलाण्डुमण्डन' नामक प्रहसन लिखकर प्रहसनसाहित्य को समृद्ध करने में योगदान किया। यह प्रहसन अब नष्ट हो चुका है।

१- मानदवल्लिदेव्या स्तनभारमेदुरा कटाक्षोर्मिः ।
भामलकुलमणिदीप सुखयतु शाहाधिपं नित्यम् ॥

२- अस्ति (ख) लु परेद्राग्रहार नायकमणे सामवेदसागर-सायालिकस्य अष्टभाषाकविता-सौराज्याभिषिक्तस्य कलाधरस्य कटकविकुलगर्वं धतपदे नागणकविनागकेसरिणः श्रीमत् कविरत्नो पौत्र पुत्र श्रीराजनाथदेशिकस्य ब्रह्माण्डभाण्डपिण्डमण्डलितडिण्डमप्रचण्डिम श्रीकण्ठायनशिखण्डमण्डनमणे श्रीडिण्डमप्रभो दौहित्र श्रीमदभिरामनायिकास्तु अय समापतिभट्टारकार्यं भागिनेय अरुडिण्डिमकवि सार्वभौम इति प्रथितविरुदनामधेय सुलभभाग्धय सरस्वतीप्रसादलब्धकविताप्रसाद श्रीमानरुणगिरिनाथो नाम। तेन (प्रणीतेन) सोमवल्लीयोगानंद नाम्ना प्रहसनेन सभानियोगमनुतिष्ठामि । योगानंद प्रहसन.

३- काश्मीरीयपण्डीयरायदौहित्रमल्लविविधवीरचूडामणिरायगोविन्दश्रीवत्साङ्कापरनामधेय-श्रीवासुदेवनरेन्द्र विरचित सुभगानन्द नाम प्रहसन सम्पूर्णम्।

तंजोर के तुक्कोजी महाराज प्रथम के मन्त्री घनश्याम १८वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध मे बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कवि हुए हैं। इन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत मे अनेक ग्रन्थों की रचना की और प्रत्येक ग्रन्थ मे अपने विद्वत्तापूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला है। इनकी विलक्षण बुद्धि का ज्ञान समय-समय पर उन्हे प्रदान की गई विभिन्न उपाधियों को देख कर होता है। वह स्वय अपने को वश्य वचस्, सर्वज्ञ और सरस्वती कहा करते थे। प्रबोधचन्द्रोदय पर अपनी सजीवनी टीका मे भी उन्होंने अपनी योग्यता का परिचय दिया है।[१] ये महादेव और काशी के पुत्र थे तथा इनके भाई का नाम चिदाम्बरपति एवं बहिन का शाकम्भरी था। इनकी सुन्दरी और कमलजा नामक दो विदुषी पत्नियाँ थी। इन्होंने राजशेखर-कृत विद्धशालभञ्जिका की टीका में स्वकीय कृतियों की तालिका भी प्रस्तुत की है। चन्द्रशेखर और गोवर्धन इस महाकवि के दो पुत्र-रत्न थे। चन्द्रशेखर ने अपने पिता के काव्य डमरुक पर और दूसरे पुत्र गोवर्धन ने घटकर्पर काव्य पर टीका लिखी।

डमरुक (चित्रावली)

इनके 'डमरुक' को कई लोगों ने प्रहसन की कोटि मे रक्खा है परन्तु वस्तुत यह रचना शास्त्रसम्मत प्रहसन कहलाने योग्य नहीं है। इसमें हीन पात्रों का चरित्र नहीं प्रदर्शित किया गया है। इसमे हास्य का प्राधान्य भी दिखाई नही देता। राजानुरञ्जन, कलिङ्गपण, सुकविसञ्जीवन, कुकविनापन, अबोधाकर, शाब्दिक भञ्जन पण्डित-खण्डन, जातितस्तर्जन, प्रभुत्व और अखण्डानन्द, इन दस छोटे-छोटे अनङ्क रो म यह अभिनेय प्रबन्ध विभक्त है। प्रत्येक अलङ्कार के वर्णनकर्ता दो भिन्न भिन्न पात्र हैं। कवि ने स्वय इसे निबन्ध की सज्ञा दी है।[२] प्रबन्ध, रूपक और वस्तु-अभिधान कोशो मे निबन्ध ये तीन अभिधाएँ कही गई हैं। इस पद्यमय अभिनेय रूपक को लिख कर कवि ने निस्सदेह संस्कृत-नाट्य के क्षेत्र मे एक नई धारा प्रवाहित की है। इसकी गणना अन्य आधुनिक एकाङ्की नाटिकाओं के साथ की जा सकती है। कारण कवि के पुत्र चन्द्रशेखर ने भी इसकी व्याख्या मे इसे प्रहसन न कह कर चित्रा-

---

१- डमरुक ६, ४.

२- डमरुक पात्रसूचनायाम् पृ०

वली[1] कहा है। इसके अतिरिक्त घनश्याम की पत्नियों द्वारा रचित राजशेखर की विद्धशाल-भञ्जिका की टीका में इनकी कृतियों का वर्गीकरण करके इनके शीर्षक स्पष्ट लिखे गये हैं किन्तु डमरुक के आगे भाण या प्रहसन जैसा कोई विशेष पद नहीं लिखित है। इस विवेचन से इसका प्रहसन होना प्रमाणित नहीं होता।

प्रहसनों की पाण्डुलिपितालिका में इनके 'चण्डानुरञ्जन' प्रहसन का नाम भी आता है। इसमें हास्य की प्रमुखता है। यह कृति अपूर्ण और अप्रकाशित है।

नाटवाट प्रहसन

मदनमहोत्सव के अवसर पर अभ्यागतों के मनोविनोदार्थ वासुदेव-चयनिसुत यदुनन्दन द्वारा विरचित नाटवाट[2] प्रहसन का नाम भी आता है। कवि का जन्म सारस्वत कुल में हुआ था। शिवजी की अर्चनाविषयक पद्यावलि से इनका शिवभक्त होना सूचित होता है। इनका काल अब तक अनिश्चित-सा ही रहा है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास लेखकों एवं नाट्य-समीक्षकों ने इसे बहुत पुराना न कह कर ही संतोष कर लिया है। गोपाल-नारायण कम्पनी से १८६१ ई. में प्रकाशित इसकी एक प्रति के अन्त में 'पुस्तक-लेखक लेख' के नाम से उद्धृत श्लोक से इस रचना के रचनाकाल पर कुछ प्रकाश पड़ता है।[3] तदनुसार यह रचना आज (शक संवत् १८८७) से १०६ साल पूर्व की अर्थात् १६वीं शताब्दी की प्रतीत होती है। नवयुग की रचना होने पर भी इसमें मध्य-युग के समाज का चित्र दृष्टिगत होता है। इसमें एक

१- डमरुकव्याख्यानम् ३, पृ० ३३.

२- नाटवाटप्रहसन ५, पृ० २, नाटवाट प्रहसन पृ० ७.

३- *इति वासुदेवचयनिसुतयदुनन्दन विरचित नाटवाट प्रहसन-सम्पूर्णम् । पुस्तकलेखक लेख* -
सप्तेभ-मुनिशाकेभूवत्सरे च क्षयावहे।
आश्विने शुक्लपक्षे नवम्यां सौम्यवासरे॥
काशीकरोपिधानस्य म्बको व्यलिखिन्मुदा।
नाटवाट-प्रहसन यतये तत्समर्पितम॥

पूरी कथा आदि से अन्त तक नहीं मिलती। किसी नगर के सम्भवत कर्णाटक[1] के किसी शहर म नाटवग के (नर्तक या नट) राहगीरो का वार्तालाप इसमें सुनने को मिलता है। इन यात्रियो की शास्त्रविरुद्ध एव प्रकृति विपरीत अनर्गल बात सुनकर तथा इनके पात्रो के विचित्र नामा का देख कर लटकमेलकादि प्रहसनो की याद आ जाती है।[2]

यहाँ भी उपयुक्त प्रहसनो की भाँति प्रेक्षक समाज को येन-केन प्रकारेण हँसाने का प्रयत्न किया गया है। इसके वैद्य ज्योतिषी आदि पात्र पूववर्ती हास्यात्मक कृतियो मे अङ्कित पात्रो की तरह अपने अपने शास्त्र ज्ञान से शून्य ज्ञात होते हैं।[3]

दो सधियो मे विभक्त इस लघु प्रहसन की कथा मे तारतम्य के अभाव और प्रथम सधि के कतिपय पात्रो की द्वितीय सधि मे अनुपस्थिति को देख बहुत से समीक्षक इसे शास्त्रीय प्रहसन की कोटि मे रखने मे सकोच करते हैं। इसमे नेपथ्ये, तत प्रविशति, मनोदूती, आकण्य आदि मञ्चीय निर्देशो तथा पात्रो की बडी सख्या पर दृष्टिपात करने से भासित होता है कि यह रूपक सवाई, रामलीला जैसे लोकशैली के नाट्यो के अनुकरण पर अभिनयार्थ रचा गया होगा। इसमे सूत्रधार द्वारा नान्दी पाठ के प्रसङ्ग मे एकाङ्की अभिनय पर सस्कृत के प्राचीन भाणो की छाया प्रतिबिम्बित है।[4] साहित्यिक दृष्टि से नाटवाट प्रहसन का विशेष महत्व प्रतीत नही होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे प्राचीन काल से प्रहसनो की रचना होती रही है। भाणो की तरह उत्तरकालीन प्रहसनो मे भी निकृष्ट समाज के चित्र उपलब्ध होते हैं। भगवदज्जुकीयम्, मत्तविलासादि प्रहसन साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। शेष मध्ययुगीन हास्यप्रधान रूपक लगभग एक

१- अभिधानकोशों में नाट का प्रय कर्णाटक का एक शहर भी बतलाया गया है।

२- नाटवाट प्रहसन ३६, ४४ पृ० १५

३- नाटवाट प्रहसन ३६-४७ पृ० १६

४- नाटवाट प्रहसन ४ ८ पृ० १-२

से ही प्रतीत होते है। दक्षिण भारत, बगाल आदि भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे राजाज्ञा से समय-समय पर मनाये जाने वाले त्यौहारो के अवसर पर प्रेक्षको के मनोविनोद के लिये इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि हुई। बारहवी सदी से लेकर सत्रहवी सदी तक पर्याप्त सख्या मे शृगारसिक्त हास्य-व्यग्य-प्रधान रूपको की रचना हुई। साहित्य के अन्य क्षेत्रो की भाँति उत्तरयुगीन प्रहसनो मे भी मनोरञ्जन के साथ साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन कवियो का उद्देश्य रहा है। आज के विद्वान् अब भी प्रहसन-परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न कर रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय

व्यायोग

संस्कृत मे व्यायोग

परिचय

व्यायोग एकाकी रूपक का ही एक प्रकार है। इसकी कथा-वस्तु पुराण मे ली हुई या इतिहासप्रसिद्ध होती है, किन्तु इसका नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना है। इसमे कैशिकी-वृत्ति का प्रयोग निषिद्ध है। शेष तीन भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियाँ प्रयुक्त होती हैं तथा गर्भ एव विमर्श को छोड कर मुख प्रतिमुख और निर्वहण नामक सन्धियो की योजना होती है। व्यायोग मे हास्य एव शृगार का प्रयोग वर्जित है। करुण, भयानक, वीर रौद्र एव बीभत्स नामक रसो का प्रयोग किया जा सकता है। शृगार[1] और हास्य से रहित (जो कैशिकी वृत्ति का गुण है) होने के कारण ही स्वभाव से कोमल स्त्रियो को इस रूपक मे स्थान नही दिया गया। आचार्य

१- शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुन।
रसे रौद्र च बीभत्से वृत्ति सर्वत्र भारती। सा द — ६-१८२

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में स्पष्ट कह दिया है कि इसमें नायिकाएँ[१] नहीं होती। स्त्रियों में केवल दासियों को ही स्थान दिया जा सकता है। पुरुष पात्रों का इसमें बाहुल्य होता है। व्यायोग शब्द का अर्थ है जिसमें विविध व्यक्ति युक्त हों।

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने इस नाट्य प्रकार में 'बहवस्तत्रच पुरुषा' अर्थात अनेक पुरुष पात्रों के रहने के कारण ही इसका नाम व्यायोग रक्खा होगा। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अपनी टीका में स्पष्ट करने का यत्न भी किया है।[२] उनका मत है कि युद्ध में पुरुषों के नियुक्त होने के कारण इसे व्यायोग कहा जाता है। यह दीप्त रस-युक्त नाट्यभेद व्यायाम भी कहा गया है।[३] वीर-भयानकादि रसों से ओत प्रोत होने के कारण युद्ध, नियुद्ध (द्वन्द्व युद्ध) एवं संघर्ष भी इसमें प्रस्तुत किये जाते हैं, किन्तु ये युद्ध स्त्रियों के कारण नहीं होते। इसमें एक दिन का वृत्तान्त चित्रित किया जाता है। शेष सब बातों में व्यायोग डिम के समान ही होता है।

भरतमुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक जितने भी नाट्यमीमांसक हुए हैं, उन सबके लक्षण ग्रन्थों का सम्यगालोडन करने पर ज्ञात होता है कि

१– व्यायोगस्तु विधिज्ञैं कार्यं प्रख्यातनायक-शरीर।
अल्पस्त्रीजनयुक्त
एव विधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरस-योनि।
(टीका – अल्पाश्च स्त्रीजनाश्च तेन युक्त चेटयादिना न तु नायिका डिमि कैशिकी-हीनत्वात्।) काव्यानुशासन (निर्णयसागर संस्करण) पृ० ३८७

२– व्यायोगस्तु डिमस्यैवदोषभूते दिव्यनायकाभावात्। नैवनमतोदात्तस्य राजादेर्नायकता। अपितु मात्यसेनापतिकृते दीप्तरसस्य। दिव्यं दैवैर्नृपैरूपिमिश्र नायके न निवद्धोप्य भवनीत्यर्थ। ननु कस्मादय व्यायोग इत्याह। युद्ध नियुद्धेति। व्यायामे युद्धप्राये नियुज्यन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थ.। सङ्घर्षेति। शौर्यं विद्याकुलरूपादिकृता स्पर्धा। दीप्त काव्यमोजा-गुणयुतम्। दीप्तरसाद्या वीररौद्राद्या.। तदुभय योनि कारणमस्य।
अभिनवगुप्त।

३– व्यायामस्तु विधिज्ञैं काव्य प्रख्यातनायकशरीर। काव्यानुशासन – पृ० ३८६

इन सब नाटयाचार्यों ने प्रकारान्तर स व्यायाग का यही लक्षण किया है ।[1] कहीं-कहीं थोडा हेर-फेर अवश्य है ।

अभिनवगुप्त के मतानुसार देवता नृपति अथवा ऋषि व्यायोग का नायक नही होना चाहिय । परन्तु आचाय विश्वनाथ न अभिनवगुप्ताचाय से मतभद प्रकट करते हुए इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष माना है और अपने ही नामधारी किसी कवि के सौगन्धिकाहरण को इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है । राजर्षिरथदिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च स'। सभवत आचाय विश्वनाथ न भास क दूतवाक्य व्यायोग के नायक श्रीकृष्ण को ध्यान मे रख कर ही प्राचीन आचार्यो म मतभेद प्रकट करन का साहस किया होगा । इस प्रत्यक्ष प्रमाण को देख कर हम मोक्षादित्य क भीमविक्रम व्यायोग के सम्पादक द्वारा किये गये निम्नाङ्कित आक्षेप पर पुन विचार करने को बाध्य होना पडता है ।[2]

शारदातनय के अनुसार पात्रा की सख्या दस स अधिक नहीं होनी चाहिय ।[3] सागरनन्दी के व्यायोग को 'ऋषिकन्यापरिणययुक्त कहने मे ध्वनित होता ह कि किसी युग म व्यायोग मे ऋषिम कुमारियो के विवाह के चित्र अङ्कित किये जाते रहे होगे और उसमे गाम्भीय को हल्का करने के लिये थोडा बहुत अवकाश रहता होगा । परन्तु इसके उदाहरण अब अप्राप्त है ।[4]

१– ना शा ८१ ८२ अध्याय १८ दशरूपक–३ प्रकाश ६०–६१ नाट्यदपण ७२–७३

२ ' Mankad seems to be wrong when he says that the hero may be divine person or a king since neither Natya sas tra referred to by him nor Natya darpana support a divine hero Introduction Bhima Vikrama Vyayoga G O S No 151 Page 9

३– अस्त्रीनिमित्त संग्रामो व्यायोग कथितो बुधै
नायकास्त्रिचतुष्पञ्च भवेयुन दशाधिका । भावप्रकाश ८ २४८

४– प्रख्यात नायकविषय । ऋषिकन्यापरिणययुत सम्भोगयुक्तो वा एकाङ्क ।
नियुद्धयुद्धबहुल' दीप्तवीररौद्ररस विदितरूप सस्फोटवान् मुखनिवहणसन्धियुक्त,
नातिकरुणश्रृङ्गार कथ्यते सद्भि । सागरनन्दी (भरतकोश) से

नाट्य-शास्त्र मे सम्बद्ध ग्रन्थो के शास्त्रीय विवेचन को देख कर प्राचीन काल मे व्यायोगो के प्रचलन का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही साहित्य के इतिहासो मे दी गयी इनकी नामावलि तथा हस्त लिखित पोथियो की सूची में प्रदर्शित व्यायोग-तालिका से सस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के लघु-रूपको की लोकप्रियता सिद्ध होती है। भारत के अन्य भाषाविदो ने भी सस्कृत व्यायोगो का अनुवाद करके इनके प्रति अनुराग प्रकट किया है।[1]

एकाकी साहित्य का गवेषणात्मक अध्ययन करते समय मुझे अब तक जिन व्यायोगरूपको के नाम मिल पाए हैं उनकी सूची आरम्भ मे दी जा चुकी है। उनमे से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ अभी तक तिमिराच्छन्न हैं। इस तालिका मे निर्दिष्ट रचनाओ के अतिरिक्त भास-नाटक-चक्र मे परिगणित दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरुभग को भी कतिपय इतिहासविदो ने व्यायोग के वर्ग[2] मे रक्खा है। वस्तुत भासप्रणीत ये नाटक ऐसे हैं जिनमे उत्सृष्टिकाक[3] नामक रूपक के लक्षण भी घटते हैं और व्यायोग के भी। इनका सम्यक् अध्ययन करने पर उक्त रूपकत्रय मे उत्सृष्टिकाक के लक्षण अधिक मात्रा मे प्राप्त होते हैं। अत श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय आदि इतिहास-लेखको[4] ने इन्हे उत्सृष्टिकाक ही बतलाया है।

१– देखिये – काञ्चनपण्डित के धनञ्जय-विजय व्यायोग का बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हिन्दी मे अनुवाद।

२– व्यायोग रचनाओ में भासकृत मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरुभङ्ग प्रमुख हैं वाचस्पति गैरोला। सस्कृत साहित्य का इतिहास–बृहत्–सस्करण – पृ० ८२४ डॉ० कीथ के अनुसार भी दूतघटोत्कच एक व्यायोग है।

३– उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतार प्राकृता नरा।
रसोऽत्र करुण स्थायी बहुस्त्री-परिदेवितम्।
प्रख्यातमितिवृत्त च कविर्बुद्धया प्रपञ्चयेत्।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ।
युद्ध च वाचा कर्तव्य निर्वेदवचन बहु। सा. द.

४– कर्णभार यह एक उत्सृष्टिकाङ्क है दूतघटोत्कच और उरुभङ्ग ये दोनो एकाकी उत्सृष्टिकाङ्क हैं। (सस्कृत साहित्य की रूपरेखा) – पृ० २४.
ले. श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा डॉ० एन. बी. व्यास।

दूतघटोत्कच मे अभिमन्यु के वध के बाद शोकसन्तप्त अर्जुन के पुत्रवध का बदला जयद्रथवध द्वारा लेने की प्रतिज्ञा करने पर श्रीकृष्ण हिडिम्बा से उत्पन्न भीम के पुत्र घटोत्कच को दुर्योधन के पास भेजते हैं। यहाँ उद्धत वीर घटोत्कच का दौत्यकर्म नाटकीय ढंग से वर्णित है। कर्णभार मे कर्ण द्वारा ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र को अपना कुण्डलकवच दान मे दे देना दिखलाया गया है। उरुभग मे भी अभिमन्यु की मृत्यु का बदला लेने के लिये पाण्डवो की प्रतिज्ञा के फलस्वरूप भीम और दुर्योधन के बीच गदायुद्ध मे असफल दुर्योधन की दयनीय मृत्यु का चित्रण है। इस रूपक मे विशेष बात यह है कि एक अक मे ही लगभग छियासठ (६६) श्लोक मिलते हैं। संस्कृत नाट्य परम्परा मे मृत्यु का वर्णन करने वाले भास के ही रूपक मिलते हैं। स्व० पाण्डेयजी "संस्कृत-साहित्य मे दु खान्त-नाटको का नितान्त अभाव है –" इस कथन का खण्डन करते हुए कर्णभार, उरुभग और भट्टनारायण[1] के वेणी-संहारादि का दु खान्त के उदाहरण स्वरूप स्मरण करते हैं। परन्तु वास्तव मे दु ख-प्रवण नाटक (ट्रेजेडी) हमारे नाट्य-सिद्धान्तो के सर्वथा-विरुद्ध है। स्व० पाण्डेयजी इनके दृष्टान्तस्वरूप संस्कृत की जिन नाट्यकृतियो का नामोल्लेख करते है, उनमे दुष्टो का वध हुआ है। दुष्टो की मृत्यु से दु ख नही होता और न मरनेवाले के प्रति सहानुभूति ही होती है। यह तथ्य सार्वजनीन है कि दुष्टात्मा की मृत्यु किसी के दु ख का कारण नही होती, किन्तु पाश्चात्य दु ख-प्रवण नाटको मे नेता की मृत्यु दिखाई जाती है जो प्रेक्षक की सहानुभूति का पात्र होता है। अत उपर्युक्त रूपकों को पाश्चात्य ट्रेजडियो का स्थानापन्न नही माना जा सकता।

नाट्यरचना-विधान की दृष्टि से ये रूपकत्रय उत्सृष्टिकांक के अधिक निकट प्रतीत होते है। बहुत से अन्य विद्वानो ने भी इन्हे व्यायोग न मानकर उत्सृष्टिकाक[2] ही माना है। अतएव इन संदिग्ध रूपको की यहाँ विस्तृत चर्चा नही की जा रही है।

१– संस्कृत नाटक प्राय सुखान्त होते हैं किन्तु यह कथन युक्तिसङ्गत नही कि संस्कृत मे दु खान्त नाटको का नितांत अभाव है। निश्चित रूप से दु खांत नाटक माने जाने चाहिये। संस्कृत साहित्य की रूपरेखा–पृ० २२६, स्व० पाण्डेय तथा डॉ० व्यास।

२– भास –ए स्टडी –पुसालकर

रामायण और महाभारत सदा से परवर्ती साहित्य के उपजीव्य रहे हैं। व्यायोग-पटल के परिशीलन से प्रतीत होता है कि इनके रचयिताओं को दीप्तरसयुक्त रूपकों के लिये उपयुक्त सामग्री महाभारत से ही मिल गयी है। इस प्रकार की अधिकांश कृतियाँ महाभारत पर ही आधारित हैं। केवल कृष्ण कवि का "विक्रान्त राघव' और जीवन्यायतीर्थ का 'कैलासनाथ विजय" रामायण पर आश्रित हैं। इन महाकाव्यों में से किसी एक सूत्र को लेकर कविगण अपनी मौलिक प्रतिभा प्रदर्शित करते आए हैं।

कवि कुलगुरु कालिदास द्वारा सम्मानित महाकवि भास ने भी जो केवल संस्कृत-नाट्य-साहित्य के आदिसृष्टा ही नहीं हैं अपितु सर्वप्रथम एकांकीकार भी हैं, अपनी कृतियों के लिये उपयुक्त इतिवृत्त महाभारत से ही चुना। यहाँ पर कुछ उपलब्ध व्यायोगों में से प्रमुख का संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। संस्कृत-साहित्य में नाटकों की सजीव एवं मूर्त परम्परा के अनुवर्तक भास कवि के दूतवाक्यनामक व्यायोग से ही हम इस चर्चा का प्रारम्भ करेंगे।

दूतवाक्य

भास-नाटक-चक्र के अन्तर्गत दूत-वाक्य व्यायोग का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इसकी कथा-वस्तु महाभारत के उद्योग पर्व से ली गई है।[1] पाण्डवों ने बारह वर्षों का वनवास समाप्त करने के उपरान्त इन्द्रप्रस्थ पहुँच कर कौरवों से, सन्धि की शर्तों के अनुसार, आधा राज्य माँगा।

"अहं तु तव तेषां च श्रेयइच्छामि भारत।
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव राजन् मा नीनशः प्रजाः ॥[2]

तुलना कीजिए —

अनुभूतं महद् दुःखं सम्पूर्णः समयः स च।
अस्माकमपि धर्म्यं यद्दायाद्यं तद् विभज्यताम्। ॥[3]

१- महाभारत – अध्याय ८२, ४३ ६० उद्योगपर्वणि भगवद्यान पर्व।
२- महाभारत – अध्याय ८२, ६० (उद्योगपर्वणि भगवद्यान पर्व)
३- दूतवाक्य २०

पाडवो ने युद्ध के भयङ्कर दुष्परिणामो से ससार की रक्षा के लिये सन्धि के प्रस्ताव के साथ श्रीकृष्ण को दूत बनाकर दुर्योधन के पास भेजा। महाभारत की यही कथा दूतवाक्य मे भास के कवित्व से निखर उठी है। कवि ने इसमे सवथा विरुद्ध प्रकृति के दो पात्रा को चुना है। एक ओर धीर गम्भीर सफल राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण हैं, जो त्याग एव शान्ति की साक्षात् मूर्ति हैं। दूसरी ओर ईर्ष्यालु दुर्योधन है, जिसे कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी ध्यान नही है। भगवान् श्रीकृष्ण सारगर्भित उक्तियो एव प्रत्युक्तियो द्वारा ज्येष्ठ कौरव को समझाने का यत्न करते हैं, परन्तु सब व्यथ होता है। उनका दुर्योधन की सभा से निराश होकर लौटना इस अभिनेय काव्य मे वर्णित है।

मध्यम व्यायोग

सस्कृत व्यायोग-कानन का दूसरा पुष्प है – मध्यम व्यायोग। यह भी भास की ही कृति है। इसका नायक महाभारत का प्रमुख पात्र कौन्तेय भीमसेन है। पाण्डवो मे इसका स्थान तीसरा था, इसलिये इसे मध्यमपाण्डव भी कहते हैं।

> मध्यमोऽहमवध्यानामुत्सिक्ताना च मध्यम।
> मध्यमोऽह क्षितौ भद्र! भ्रातृणामपि मध्यम॥[1]

मध्यम व्यायोग मे महाभारत मे उल्लिखित बकासुर और ब्राह्मण-परिवार की कथा का आश्रय लिया गया है।

लाक्षागृहदहन के समय हिडिम्बा राक्षसी से मध्यम-पाण्डव का सम्पर्क होने के कारण भीम के घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। पारस्परिक वचन के अनुसार पुत्र-दशन होते ही हिडिम्बा और भीम का साथ छूट गया। भास के प्रस्तुत व्यायोग के अनुसार जहाँ हिडिम्बा रहती थी, उसी जगल मे केशवदास ब्राह्मण का परिवार एक यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिये जा रहा था। माग मे उसका सामना घटोत्कच से हुआ जिसे माता के भोजनार्थ

१- मध्यम व्यायोग २८

मनुष्य ढूंढ लाने का आदेश था। ब्राह्मण के तीन पुत्रों में से एक की उसने याचना की। पुत्र-प्रेम के कारण केशवदास ने अपने आपको और पतिव्रता ब्राह्मणी ने पति के प्राणों की रक्षा के लिये स्वयं को इस कार्य के लिये समर्पित किया किन्तु घटोत्कच ने वृद्ध होने के कारण ब्राह्मण को तथा स्त्री जानकर ब्राह्मणी को भोज्य बनाना उचित नहीं समझा। ज्येष्ठ सन्तान पिता को और कनिष्ठ माता को प्रिय होती है। फलतः मध्यम-ब्राह्मण के राक्षस ले चला। तृषार्त मध्यम ने रास्ते में जलाशय से जल ग्रहण करने की आज्ञा माँगी। घटोत्कच की स्वीकृति पाकर जलपानार्थ गये ब्राह्मण-पुत्र के लौटने में विलम्ब होता देख, राक्षस ने 'मध्यम-मध्यम' कह कर जोर से पुकारा। उसकी पुकार सुन अकस्मात् ब्राह्मण के स्थान पर मध्यम-पाण्डव भीमसेन पहुँच गया। घटोत्कच के मुख से वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर ब्राह्मण की रक्षा के हेतु उसने राक्षस की माता का आहार बनना स्वीकार कर लिया। सामने आने पर हिडिम्बा पवन-पुत्र भीम को पहचान गई। पिता-पुत्र का मेल हुआ और ब्राह्मण परिवार का उद्धार। यही इस व्यायोग की संक्षिप्त कथा है। मध्यम पाण्डव द्वारा मध्यम ब्राह्मण की रक्षा की गई। इसलिये इसका नामकरण 'मध्यम-व्यायोग' रखा गया है।

सफल नाटक के लिये निम्नांकित षड्गुण आवश्यक होते हैं (१) घटनाओं का ऐक्य (२) घटनाओं की सार्थकता (३) घटनाओं की घात-प्रतिघात गति (४) कवित्व (५) चरित्र-चित्रण (६) स्वाभाविकता। भास के नाटकों में इन सब गुणों का समावेश उपलब्ध होता है। दूतवाक्य एवं मध्यम व्यायोग के[अनुशीलन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। इन रचनाओं में भास की सरल, सरस एवं सुन्दर शैली का परिचय मिलता है।

भास अपनी दोनों ही कृतियों में महाभारत की छोटी-छोटी कथाओं को मौलिक रूप प्रदान करने में सफल उतरे हैं। इनका अध्ययन करते समय भास को, हम एक अनुभवी व्यक्ति, राजधर्म में निष्णात पण्डित, उत्कृष्ट कोटि के नाटककार एवं विष्णु के अनन्य उपासक के रूप में देखते हैं। दूतवाक्य में कृष्ण का दौत्यकर्म वर्णित है, जिसमें दुर्योधन और कृष्ण के संवाद में नाटकीयता का पर्याप्त निदर्शन है। दोनों की ओर से एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न होता है। भास ने आरम्भ में ही पाण्डवों के दूत के आने का समाचार सुनाते

हुए जो वाक्य कहा है वह उपमालङ्कार एव यमक का सुदर दृष्टान्त है।

प्राप्त विनाद्य वचनादिह पाण्डवाना
दौत्येन भृत्यइव कृष्णमति स कृष्ण
श्रोतु सखे त्वमपि सज्जय कर्ण कर्णौ
नारी-मृदूनि वचनानि युधिष्ठिरस्य ॥[1]

यहाँ पाण्डवों के प्रति कौरवों के हृदय मे स्थित कुत्सित भाव भी झलकते हैं।

भास की रचना शैली प्रसाद एव ओज के साथ साथ माधुर्यगुण से ओत प्रोत है। इस अपूर्व शैली मे रचे गये नाटकों के सवाद बड़े चुभते हुए सक्षिप्त एव सुबोध हैं जो भास की नाटकीयता को पुष्ट बनाने में सहयोग प्रदान करते हैं। गद्यपद्यमयसवादों का भास का ढग अनोखा है। श्रीकृष्ण और दुर्योधन की गर्वोक्तियों को पढ कर कवि का भाषा पर अधिकार उसकी वाकपटुता एव राजनीतिज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। विपक्षी का समुचित उत्तर न दे सकने पर दुर्योधन का कृष्ण जैसे योगी पुरुष के लिये भी अपशब्द कहना नितान्त स्वाभाविक है।

दुर्योधन – कथ कथ दायाद्यमिति। भो तदाप्रभृत्येव सदारस्पृह परमात्म जाना पितृतां कथ व्रजेत् ?

वासुदेव – पुराविद भवत,पृच्छामि –
विचित्रवीर्यो विषयी विपत्ति क्षयेणयात पुनरम्बिकायाम्।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्य जनक कथ ते ?
दुर्योधन – भो दूत। न जानाति भवान्राज्य व्यवहारम्।

लोक-कल्याण की कामना करने वाले दूत के रूप मे श्रीकृष्ण का सयत, शब्दों मे नैतिक उपदेश करना इनकी उदारता का परिचायक है और मूढ दुर्योधन का अशिष्ट व्यवहार उसकी पामरता का।

१– दूतवाक्य १३

वासुदेवः – कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो, विस्मर्तव्या गुणेतरा. ।
सम्बन्धो बन्धुभि श्रेयाँल्लोकयोरुभयोरपि ॥

दुर्योधन – भो गोपालक ...

दुर्योधनः – गच्छ गच्छ पशुखुरोद्धतरेणुरुषिताङ्गो व्रजमेव । विफलीकृत कालः ।

पारस्परिक वार्तालाप के बीच श्रीकृष्ण का मायावी रूप दिखलाकर कवि ने इस रूपक में चार चाँद लगा दिये हैं। सर्वत्र अद्भुतरस का सचार है। दुर्योधन तो ऐसे मायामय दृश्य को देखकर भ्रम मे पड़ ही जाता है, दर्शक या पाठक भी इससे प्रभावित हो मुग्ध हो जाते हैं। महाभारत मे भी वाद-विवाद के प्रसग मे क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण ने अपना भयकर विश्वरूप दिखलाया है। इस प्रकार दो विरुद्ध स्वभाव के चरित्रों का मनोहर रूप दूतवाक्य मे प्राप्त होता है।

दुर्योधनः – भो दूत । .... आ.तिष्ठेदानीम् । कथन दृष्ट केशव. अय केशवः ...अहोहस्त्वत्व केशवस्य.. अय-केशव. । सर्वमन्त्रशालाया केशवा भवन्ति। ......किमिदानी करिष्ये ? भवतु दृष्टम् ... भो भो राजानः । एकैकः केशवो वध्यताम् ।[1]

तुलना कीजिए –

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशव. परवीरहा
शखचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दका. ।
नाना बाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ।
ते दृष्ट्वा परमात्मान केशवस्य महात्मन. ... ...
... न्यमीलयन्त नेत्राणिराजानस्त्रस्तचेतसः ।[2]

1– दूतवाक्य
2– महाभारत अध्याय ११८.

मध्यम-व्यायोग मे भी भीमसेन एव घटोत्कच की दर्पोक्तियो के माध्यम से दो वीरो का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। भीमसेन के मुख से ब्राह्मण को छोड देने की बात सुन कर घटोत्कच उसे मुक्त न करने की जिद पकड लेता है। बातो ही बातो मे दोनो अपनी शक्ति की परीक्षा करने पर तुल जाते हैं।[1] भीमसेन इस व्यायोग का नायक है और नायकोचित बल-पराक्रम से युक्त धीर-वीर पुरुष है। घटोत्कच की वीरता देखकर उसे आनन्द होता है।

भीमसेन –(नियुद्धवन्धमवधूय)
व्यपनयबलदर्पं दृष्टसारोऽसि वीर।
नहि मम परिवेदोविद्यते बाहुयुद्धे ॥[2]

भीमसुत घटोत्कच भी बडा बली है। वह वीर-प्रेमी भी है। 'वलीबल वेत्ति' के अनुसार दूर से वीर भीमसेन की दर्शनीय आकृति को देखकर एक पराक्रमी के लिये उसके हृदय मे आदर भाव उमड पडता है।

घटोत्कच –न खल्वय ब्राह्मणबटु। अहो दर्शनीयोऽय पुरुष
सिंहाकृति कनकयष्टिसमानबाहु –
मध्येतनुर्गरुडपक्षविलिप्तपक्ष
विष्णुर्भवेद्विकसिताम्बुजपत्रनेत्रो
नेत्रममाहरतिबन्धुरिवागतोऽयम् ॥[3]

वीर होने के साथ ही साथ वह गुरुभक्त भी है। घटोत्कच के मुख से माता के प्रति भक्ति भावना-मिश्रित विचार सुनकर भीम को भी मातृ-भक्ति के फलस्वरूप प्राप्त पाण्डवो की वर्तमान दुर्दशा की याद आ जाती है।

भीमसेन (आत्मगतम्) – कथ मातुराज्ञेति। अहो गुरुशुश्रुषु खल्वय तपस्वी।
माताकिल मनुष्याणा देवताना च दैवतम्।
मातुराज्ञा पुरस्कृत्य वयमेता दशा गता ॥[4]

१– मध्यम व्यायोग ३६
२– मध्यम व्यायोग ४६
३– मध्यम व्यायोग २७
४– मध्यम व्यायोग ३७

भीम उसकी गुरुसेवा-परायणता की सराहना करता है। दीन-ब्राह्मणों के प्रति भी उसके हृदय में पर्याप्त सम्मान और सहानुभूति है। राक्षस होने पर भी शूरवीर घटोत्कच में मानवीय गुण विद्यमान है।

> रूप सत्व बल चैव पितृभिः सदृशं बहु।
> प्रजासु वीतकारुण्य मनश्चैवास्य कीदृशम् ॥[1]

उसका मातृ प्रेम निराला है। ब्राह्मण के प्रति दयाभाव होते हुए भी वह माँ की आज्ञा का टाल नहीं सकता।[2]

गुरु-भक्त पिता की झूठी निन्दा को सहन न कर प्रतिद्वन्द्वी से लड़ने को तैयार हो जाता है। अन्त में रहस्योद्घाटन होने पर आज्ञाकारी पुत्र पिता से क्षमा-याचना करता है। भीम भी उसे क्षमा प्रदान कर अपने हृदय की विशालता तथा पितृत्व का परिचय देता है और पुत्र पराक्रमी होने का आशीर्वाद ग्रहण करता है।

हिडिम्बा राक्षसी होकर भी, द्रौपदी, गान्धारी आदि की तरह एक सती साध्वी पतिव्रता है।

> कौरव्यकुलदीपेन पाण्डवेन महात्मना।
> सनाथा या महाभाया पूर्णेन धौरिकात्मना ॥[3]
> भीमसेन — (विलोक्य) का पुनरियम् ? अये देवी हिडिम्बा।
> अस्माक भ्रष्टराज्याना भ्रमता गहने वने।
> देवि ! सन्तापो नाशितस्त्वया ॥
> जात्या राक्षसी। न समुदाचारेण

वह जाति से ही राक्षसी है, आचरण से नहीं। बहुत दिनों के बाद वह अपने पति से मिल कर कृतकृत्य हो जाती है और उसका एक भारतीय नारी की

१– मध्यम व्यायोग ३९.
२– मध्यम व्यायोग –९.
३– मध्यम व्यायोग ३२.

तरह अभिवादन करती है। आदर्श माता की तरह घटोत्कच को उसकी भूल का ज्ञान कराती हुई पिता का अभिनन्दन करने की आज्ञा देती है। वह किसी देवी से कम नहीं।

इस तरह भास पात्रों के व्यक्ति-वैचित्र्य द्वारा कथा को सजीव बनाने में निष्णात हैं। उनके पात्र स्त्री हों या पुरुष सामान्य भूमिका पर ही दृष्टिगत होते हैं। वे कल्पनालोक के प्राणी नहीं हैं। उनके पात्र चाहे दिव्य हों या राक्षस मानवीय गुणों से मंडित होते हैं। उनके विचारों एवं कार्यों में कोई असाधारण बात नहीं देखी जाती। जब हम पात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-विकास की परीक्षा करते हैं तब पाते हैं कि भास आधुनिक युग के नाटककारों के साथ ही हैं। उनके गुण की श्री मीरवय जैसे सहृदयों ने मुक्त कण्ठ से सराहना की है —

"In Psychological subtlety, Bhasa is almost modern"

महाभारत पर आधारित रूपकों के चरित्र चित्रण में यद्यपि भास स्वतन्त्र न थे तथापि उनके द्वारा चित्रित श्रीकृष्ण, दुर्योधन, भीम आदि उदात्त भावनाओं को उत्पन्न करने में पूर्णतया समर्थ हैं और वे प्रदर्शकों की सहानुभूति भी प्राप्त कर लेते हैं। संक्षेप में भास के पात्र कालिदास, बाण, भवभूति आदि के पात्रों की तरह केवल कल्पनानगरी में विचरण करने वाले भावना के पुतले नहीं हैं। वे भट्टनारायण जैसे ओज-प्रधान भी नहीं हैं और न वे शूद्रक की तरह हँसोड़ ही हैं। इनमें प्राचीन कवियों के पात्रोंकी-सी कामुकता तथा भावुकता नहीं दिखाई देती। इनमें यथार्थता के दर्शन होते हैं।

भास के नाटकों की अनेकता एवं विविधता से भास की मौलिकता तथा नाट्यकला में निपुणता स्वतः सिद्ध है। नाट्य-शास्त्र का अक्षरशः पालन न करने पर भी उनकी अभिनेय कृतियाँ श्रेष्ठ एवं रोचक सिद्ध हुई हैं। इतिहास-पुराणादि से लिये गए इतिवृत्त भी कवि की अनूठी कल्पना से मनोज्ञ बन गए हैं। भास के रूपकों की लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण उनकी अभिनेयता है। इनमें समय और स्थान की अन्विति का सफल निर्वाह हुआ है। जहाँ संस्कृत के बहुत से नाटक अभिनय के लिये अनुपयुक्त प्रतीत

होते हैं, वहाँ भास के नाटक रङ्गमञ्च के सर्वथा उपयुक्त हैं। दक्षिण भारत में चाक्यारों द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व से इनके नाटकों का अभिनय होता रहा है।

विकटबन्ध, क्लिष्ट कल्पना और दीर्घ-समासों का अभाव ही कवि की रचनाओं की रोचकता का मुख्य कारण है। भास की वैदर्भी शैली को ही कालिदास ने ग्रहण किया। भाषा की सरलता को देख कर विदित होता है कि ये नाटक तत्कालीन सामान्य जनता को ध्यान में रख कर ही रचे गये होंगे। प्रस्तावना में ही सूत्रधार की सहायता से नाटक के प्रमुख पात्रों का परिचय कराने की कवि की पद्धति निराली है। भास ने उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा जैसे सरल अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। रस तथा प्रसङ्ग के अनुरूप शैली में परिवर्तन कर देना कवि के बाँए हाथ का खेल है। वाग्विस्तार के स्थान पर शब्दों के परिमित प्रयोगों से ही भावों की मर्मस्पर्शी व्यञ्जना करने में भास निपुण हैं। कवि की लेखनी के प्रभाव से कई स्थल बड़े ही प्रभावोत्पादक एवं हृदयग्राही बन गए हैं। उदाहरणार्थ– मध्यमव्यायोग में बिछुड़े हुए पिता-पुत्र का बड़े दिनों बाद हुआ मेल बड़ा ही हृदयस्पर्शी है।

भीमसेन – एह्येहि पुत्र। अतिक्रमकृत क्षान्तमेव। (परिष्वज्य) धार्तराष्ट्र-वन-दवाग्नि पुत्रापेक्षीणि खलुपितृहृदयानि। पुत्र। अतिबलपराक्रमो भव।[1]

इसी प्रकार राक्षसी के आहारार्थ मध्यम-पुत्र को विदा करते समय माता-पिता का हाल देख कर आँसू नहीं रोके जा सकते।

वृद्ध – हा पुत्र! कथं गत एव।
तरुण। तरुणतानुरूपकान्ते। नियमपराध्ययन-प्रसक्त-बुद्धे।
कथमिहि गजराजदन्तमग्न – स्तरुरिव यास्यसि पुष्पितो विनाशम्॥[2]

---

१ मध्यम व्यायोग
२– मध्यम व्यायोग २४

मध्यम-पुत्र की उपेक्षा होते देख एतरेय ब्राह्मण का 'शुनःशेप आख्यान' याद आ जाता है।

> तस्य ह त्रय पुत्रा आसु । ..
> न ज्येष्ठ पुत्र निगृह्णान उवाच – नत्विममिति नो एवेममिति ।
> कनिष्ठ माता । तौ ह मध्यमे सपादयाञ्चक्रतु शुन शेपे ।[1]

तुलना कीजिए –

वृद्ध – ज्येष्ठमिष्टतम न शक्नोमि परित्युक्तम् ।
ब्राह्मणी – यथार्यो ज्येष्ठमिच्छति, तथाहमपि कनिष्ठमिच्छामि ।
द्वितीय – पित्रोरनिष्ट कस्येदानी प्रिय ?
घटोत्कच – अह प्रीतोऽस्मि, शीघ्रमागच्छ ।[2]

उसमे भी यज्ञ मे बलिदान देने के लिये अपने तीन पुत्रो मे से एक का त्याग करते समय पिता ने ज्येष्ठ को और माता ने कनिष्ठ पुत्र को छाती से लगा लिया था। मँझली सन्तान की यह दुर्दशा सदा से ही होती आई है। उसके प्रति पाठको की पूरी सहानुभूति होती है। इस प्रकार वीररस के सफल नाटककार ने प्रणय, करुण एव विस्मय का सुन्दर निर्वाह किया है।

भास ने सासारिक बातो का सूक्ष्म निरीक्षण कर लोगो को उनसे लाभान्वित करने के लिये बहुत सी नैतिक बातें लोकोक्तियो मे पिरो दी हैं। इन लोकोक्तियो द्वारा उन्होने गागर मे सागर भर दिया है।]

> आपद हि पिता प्राप्तो ज्येष्ठपुत्रेण तार्यते ।[3]
> रुष्टोऽपि कुञ्जरो वन्यो न व्याघ्र धर्षयेद्वने ।[4]

उनके सश्लिष्ट चित्र नाटक के कथानक की श्रीवृद्धि करते हैं।

१– ऐतरेय ब्राह्मणस्य हरिश्चन्द्र आख्यानम्
२– मध्यम व्यायोग
३– मध्यम व्यायोग १६.
४– मध्यम व्यायोग ४४

पाद: पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सव: सव ।
व्याविद्धो नमुचिर्येन तनुताम्रनखेन खे ।[1]
दौत्येन भृत्यइव कृष्णमति: स कृष्ण ।
श्रोतु सखे ! त्वमपि सज्जयकर्ण । कर्णौ

भवतु चपला चक्र वातचक्र नवाद्य ।

तरुण तरुणानुरयरान्ते [2]

कहीं कहीं समस्त पदो और दीर्घ वाक्यो का प्रयोग भी वे प्रसङ्गवश करते हैं किन्तु वह वाक्य काव्य-सौंदर्य की वृद्धि में सहायक होता है, बाधक नहीं ।

कृष्णापराधवभुजा रिपुवहिनीभिकुम्भस्थलीदलननीक्ष्णगदाधरस्य ।[3]
मत्तार्मु कोदरविनि सृनदारणजालै ।[4]

धनञ्जयविजय व्यायोग

भास के पश्चात् लगभग ११०० ई में काञ्चनाचार्य ने धनञ्जय-विजय व्यायोग रचा । इसकी कथावस्तु महाभारत के विराट-पर्व के गोग्रहण-पर्व से ली गई है । दुर्योधन की शर्तों के अनुसार पाण्डवों को तेरह वर्ष तक वन मे वास करना था जिसमें एक वर्ष की अवधि अज्ञातवास की थी । पाण्डव द्रौपदी-सहित भिन्न-भिन्न वेशो मे राजा विराट के संरक्षण मे रह कर अज्ञातवास की अवधि पूरी कर रहे थे । एक वर्ष के पूर्ण होने मे तेरह दिन शेष रहे तब कौरवों ने कीचक का वध हो जाने से विराट को निर्बल जान कर उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया । वे उनकी एक लाख गायें हर ले गए । ऐसी विषम

१- दूतवाक्य
२- मध्यम व्यायोग
३- दूतवाक्य -१४.
४- दूतवाक्य -४१

परिस्थिति मे भीम, अर्जुन आदि ने अपना पराक्रम दिखला कर कौरवों से गाएँ वापस ले ली। धनञ्जय विजय में गोरक्षा की यही कथा वर्णित है। चन्द्रावली (जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई प्रह्लादनदेव[1] ने १२०६ ई मे पार्थपराक्रम नामक व्यायोग की रचना की। इसका विषय भी गोरक्षण कर्म का चित्रण करना है।[2] यथा –

> अर्जुन (स्वगतम्) (साहङ्कारम्) कृतमिदानीं कर्तव्यान्तरेण।
> वात्सानामहमुत्सव विरचयाम्युच्चैर्मुहु क्रन्दता
> निष्क्रीणामि विराटकुट्टिमसुखावस्थानमानीय गा।

पार्थपराक्रम और धनञ्जयविजय की तुलना

उक्त दो कवियो की रचनाओ के एक ही कथावस्तु पर आश्रित होने पर भी इनके रचयिताओ के विचारो और उनकी भाषा मे पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। सबसे पहला भेद तो रूपक के शीर्षक का ही है। दूसरे, पात्रों की सख्या मे भी पार्थक्य है।

धनञ्जय-विजय	पार्थपराक्रम
अर्जुन	अर्जुन
अमात्य	उत्तरा ... ... विराटराजपुत्री
विराटकुमार	द्रौपदी
इन्द्र	उत्तर नामक कुमार
विद्याधर	
दुर्योधन	पुरुष एव जयसेन
प्रतिहारी	द्रोण
सूत (इन्द्र का)	भीष्म
भीम (मध्यम पाण्डव)	सुषेण

१– नट – भाव । अस्त्येव युवराजश्रीप्रह्लाददेवनिर्मित पार्थपराक्रमनामा व्यायोग
पार्थपराक्रम पृ० २

२– पार्थपराक्रम ३८, पृ० १३

युधिष्ठिर
दुर्योधन
सूत
वासव

भास ने अपने नाटकों में भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन करने का साहस किया है, परन्तु काञ्चनपण्डित एवं प्रह्लादनदेव जैसे परवर्ती कवियों ने अपनी कृतियों में नाट्य-सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए वीररस-प्रधान रूपक के अनुरूप विष्णु भगवान् के नानारूपों तथा शक्तिदायिनी माता चण्डी (दुर्गा) की स्तुति के उपरान्त इस व्यायोग के प्रमुख विषय का बड़े कलात्मक ढंग से परिचय करवाया है।

हरेर्लीलावराहस्य दंष्ट्रा-दण्डः स पातु वः।[1]
देवः स वः शिवशतानि तनोतु शौरि-
र्यः शैशवेऽपि तुलयन्नतुलं नगेन्द्रम्।
लज्जां विजित्य परिहृत्य भियं गुरूणां
गोपीजनैः सरभसं परिरभ्यते स्म।।[2]
तद्वः प्रमार्ष्टुं विपदः प्रणतार्तिहन्त्र्या
न्यस्तः पदः महिषमूर्धनि चण्डिकायाः।
वैरी यदीय - नखराशुपरीत - शृङ्ग
शक्रायुधाङ्कित - नवाम्बुधर - प्रभोऽभूत्।।[3]

काव्य की चारुता

इसके अतिरिक्त इन रस सिद्ध कवियों ने प्रभातकालीन एवं शरत्कालीन प्रकृति की मोहक छटा तथा श्रीकृष्ण द्वारा हाथ में उठाए नन्दनपर्वत की शोभा

१- धनञ्जयविजय
२- पार्थपराक्रम
३- धनञ्जयविजय

का वर्णन कर अपने कवित्व का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।[1]

> स्थापक – (पुरोविलोक्य) अहह। चारिमा हिमाचलनन्दनस्य नन्दिवर्द्धनस्य। तथा हि –
> नीते मौनिप्रणयिनि घन वरगुवलयद्वलावे,
> विभ्रत्युच्चैर्दिव चतुगुमाद्भासिध स्मितशोभाम्।
> पाताघातक्षनरयपय सीकराद्वेगारहार,
> स्फारस्फार्निर्दितरनिरति वन्य नार्स्योनगेन्द्र॥[2]

यद्यपि दीप्ति-रसों वाले व्यायोग में कविता का रमणीय रूप दिखाने का कवियों को बहुत कम अवसर मिलता है तथापि प्रस्तावना में ही देवी-देवताओं की स्तुति के व्याज से वे अपनी कविता का मनोरम चित्र प्रस्तुत कर ही देते हैं। अस्तु –

रमणीयप्रभात का शोभनीय रूप काञ्चनाचार्य की इन पंक्तियों में अङ्कित है –

> दाराणा मुरवैरिणो रतिपतेर्मातुस्त्रिलोकीजित
> स्फारस्पद्भज-कोटरोदरजुपा निद्राविरामे श्रिय।
> प्रत्युद्बुद्धमरालक — पटहध्वानप्रबन्धानुग
> भृङ्गीमङ्गलगायिकेव सतत प्रोत्कूजति प्राङ्गणे॥[3]

मुर के शत्रु त्रिलोकीनाथ विष्णु भगवान् की नींद पूरी हो जाने पर कामदेव की माता लक्ष्मी जाग उठती है। कमल के भीतर बन्द भ्रमरी प्रभात-काल में कमल के खिलते ही पंख फड़फड़ाती हुई मानो तुरन्त जागे हुए पटहादि बजाने वाले लोगों के तालबन्ध (तबले व ताल के पीछे)पीछे चलती हुई मंगल-गान गाने वाली नायिका के समान आँगन में निरन्तर कूज रही है।

शरत्काल में प्रकृति का अनुपम रूप दर्शक का मन मोह लेता है। *शरत्कालीन प्राकृतिक छटा देखने के लिये स्वयं विष्णु भगवान् अपनी योगनिद्रा*

१– . प्रह्लादनदेव कविता वर्णति. प्रमने पार्थपराक्रम ४

२– पार्थपराक्रम, २.

३– धनञ्जय विजय ४.

को शिथिल कर देते हैं तो साधारण लोगों का क्या कहना ?

निष्कम्पा पृथिवी, मशाद्वललना, निर्दुदिन चाम्बर,
मुव्यक्तनामततारकेन्दुमरित काशप्रसूनाङ्किता ।
नोय वीत-विष सरामि विकसत्पद्मानि शुभ्रा दिशो ।
द्रष्टु मप्रनिशारदी श्रियमिमा मन्ये प्रवुद्धो हरि ॥[1]

"चाद तारों से जड़े आकाश निमल नदनदी, खिले हुए काश, एव निर्मल सरोवरों मे विकसित कमलों से सुशोभित दिशाओं वाली शान्त (निष्कम्प) पृथिवी का शरत्कालीन लावण्य देखने के लिये ही मानो विष्णु भगवान् जाग उठे हैं। -

यह अश उत्प्रेक्षालङ्कार का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसी सुन्दर तथा सरस भूमिका के उपरान्त कवि काञ्चनाचार्य अज्ञातवास की अवधि के पूर्ण होने का आभास कराते हुए अपनी रचना का बीजन्यास बड़े कलात्मक ढंग से करते हैं।

सूत्रधार - विरमत्यत समयवशात्कोऽपि तेजसा निचय ।
प्रकटी भवति विवस्वानेष किरीटीव समयमुत्तीर्ण ॥
(तत प्रविशति विराटामात्येन सहार्जुन)

अर्जुन -(सोत्साहम्) अनुकूल दैव लक्ष्यते । यत -
या लतान्विष्यते सैव लग्ना सम्प्रति पादयो ।
कुरुराजोऽभियानव्य स्वयमेव समागत ॥[2]

पार्थपराक्रमकार ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। -
(तत प्रविशति यथा निर्दिष्टोऽर्जुन)

अर्जुन - अहो समुचित खल्वेष विधिरस्मासम् । यत -
पाञ्चाली - चिकुराम्बराकर्षं दृष्टैवमेव स्थिता
सम्भूता अपि भूभुजामपि जने कर्माणिकुर्मोऽन्यत ।
तामद्याप्यरिमन्दिरे हृतपदा लक्ष्मीमुपेक्षामहे
तत्पुरुत्व परिहृत्य हन्त चरता मुक्तैव च क्लीवता ॥[3]

१- धनञ्जय विजय ६,
२- धनञ्जय विजय १४ १५
३- पार्थपराक्रम १०.

अर्जुन – (सानन्दमात्मगतम्)
हन्त पल्लवितमथवा फलितमेव मे च मनोरथपादपेन ।
यदय कालपाशाकृष्ट इव धृतराष्ट्रसूनु मम दृष्टिपथमवतरति ।[1]

अर्जुन गोरक्षा के बहाने बडी सुगमता से द्रौपदी के अपमान का बदला लेने का अवसर प्राप्त हुआ जानकर प्रसन्न होता है। अब तक बृहन्नला के रूप मे अपनी क्लीवता को देख कर उसे ग्लानि होती थी। इसी प्रकार इन कवियो ने महाभारत की कथा को नाटकीय रूप प्रदान कर व्यायोग-साहित्य की सेवा की।

धनञ्जय विजय मे दुर्योधन और अर्जुन के बीच के सवाद मे एक दूसरे को ललकारने की बाते पढ कर पाठक के हृदय मे ओजपूर्ण भाव उत्पन्न होते हैं। कई एक स्थलों पर भास जैसे कवियो का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

नायक – अपसर कुरुनाथ द्यूतमन्यादृश तद् –
द्रुपदनृपति-पुत्री यत्र दासीकृतासीत् ।
इह हि शरशलाकापातपूर्व सगर्व
प्रति – नृपतिशिराक्षै क्षत्रियद्यूतकेलि ॥[2]

तुलना कीजिये–

घटोत्कच — अक्षाविमुञ्च शकुने । कुरुबाणयोग्य
मष्टापद समरकर्मणि युक्तरूपम् ।
न ह्यत्र दारहरण नच राज्यतन्त्र
प्राणा पणोऽत्र रतिरूप्रवलैश्चबाणै ॥[3]

धनञ्जयविजय की टीका

शाण्डिल्य गोत्रोद्भव स्वामी सूरि के पुत्र लक्ष्मीकान्त ने वसन्तराजीय

१– पार्थपराक्रम पृ० ५
२– धनञ्जयविजय ४७,
३– दूतघटोत्कच ४६.

नाट्यशास्त्र, भारतीय नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक का अध्ययन करके काञ्चनाचार्य ने धनञ्जयविजय व्यायोग पर टीका लिखी जो "लक्ष्मीकान्तीयम्" कहलाती है।[1] इसका ज्ञान हमें तमिल एवं संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों की तालिका को देखने पर होता है। इस टीका में सकलकलाप्रवीण काञ्चन-पण्डित की रचना का ग्रंथ समझना सुकर हो सकता है। कनकाचार्य के धनञ्जयविजय का वर्ण्य-विषय भी गोरक्षण कार्य है।

सौगन्धिकाहरण

प्राप्त व्यायोग ग्रन्थावलि में कवि विश्वनाथ के सौगन्धिकाहरण का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ और सौगन्धिकाहरण के रचयिता विश्वनाथ के नामाक्षरों में साम्य देखकर संस्कृत प्रेमी विद्यार्थियों के समक्ष यह प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है कि क्या ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं? उक्त रूपक के अन्य परीक्षण से पहले इस विवादमूलक प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु–

वाचस्पति गैरोला ने लिखा है कि "राजा प्रताप सहदेव के आश्रित कवि विश्वनाथ ने सौगन्धिकाहरण जैसे नाटकों की रचना करके अपने विद्वद्वर्ग का परिचय दिया"। इसी प्रकार वे अलंकार-शास्त्री विश्वनाथ को भी विद्वद्वर्ग सम्मत बतलाते हैं। वस्तुतः यह बात अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य से नहीं सिद्ध हो पाई है कि रूपककार विश्वनाथ राजा प्रताप सहदेव के दरबार में आश्रय पाते थे। गैरोलाजी तथा डॉ कीथ कवि का समय १७७३ वि० संवत् अर्थात् १३१६ ई० मानते हैं। आलंकारिक विश्वनाथ तथा सौगन्धिकाहरण के कर्ता का समय बलदेव उपाध्याय १३०० से १३५० ई० के बीच का निर्धारित करते हैं। इससे भी उक्त प्रश्न हल नहीं होता। राजा प्रताप सहदेव की चर्चा का सौगन्धिकाहरण में सर्वथा अभाव है। दर्पणकार विश्वनाथ का समय चौदहवीं

१– दृष्ट्वा वरान्तराणीय भारत दशरूपकम् ।
व्यायोग काञ्चनप्रोक्तम् व्याकुर्वे स्फुटभाषितै
शाण्डिल्य-गोत्र-सद्रत्न-स्वामि-सुनोत्तर. ।
लक्ष्मीकान्तोऽभवते टीकालक्ष्मीकान्तीय-सञ्ज्ञिताम् ॥

(१४ वीं) शताब्दी है। दोनों विद्वानों ने जो अपने कुल का स्वयं परिचय दिया है वह एक दूसरे के विवरण से सर्वथा भिन्न है। साहित्याचार्य विश्वनाथ ने अपना परिचय साहित्यदर्पण[1] के अन्त मे दिया है। उसके अनुसार यह चन्द्रशेखर कवि के पुत्र तथा नारायणदास के पौत्र थे। यह संभवत उडीसा(उत्कल-देशीय) के थे। इसके विपरीत सौगन्धिकाहरण के लेखक अपना परिचय देते हुए अपना सम्बन्ध राजा प्रतापरुद्र[2] के दरबार से जोडते हैं तथा अपने कुल का वर्णन करते समय अपने मामा अगस्त्य का नाम आदर के साथ लेते हैं जिससे व्यञ्जित होता है कि कवि ने अपने मामा से ही शिक्षा-दीक्षाग्रहण की होगी।

राजा प्रतापरुद्र (द्वितीय) त्रिलिंग देश का शासक था। वारंगल के काकतीय वंश में सबसे प्रभावशाली राजा गणपति हुआ। गणपति ने ११९९ ई. मे साम्राज्य का शासन सूत्र अपने हाथ मे लिया और १२६१ ई. तक राज्य किया। उसके मरने के उपरान्त उसकी इकलौती बेटी रुद्राम्बा राज्य की उत्तराधिकारिणी बनी। इसी का उपनाम रुद्रदेव महाराज जगत् मे प्रसिद्ध हुआ। इसके भी कोई पुत्र न होने के कारण उसका दौहित्र राजा प्रतापरुद्र राज्य का उत्तराधिकारी बना। कालान्तर मे यही काकतीय वीरभद्रराजा प्रतापरुद्र (द्वितीय) के नाम से विख्यात हुआ। इसके ही शासन काल में आलंकारिक विद्यानाथ हुआ जो अगस्त्य भी कहलाता था। संभवत ये अगस्त्य उपनाम-धारी विद्यानाथ ही सौगन्धिकाहरणकार विश्वनाथ के मामा रहे हों।

१- चन्द्रशेखर महाकवि चन्द्रसूनु - श्रीविश्वनाथ कविराजकृत प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममु सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त॥
यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीनारायणस्याङ्गमलङ्करोति।
तावन्मनः सम्मदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके॥ सा द १९-१००

२- सूत्रधार राजाप्रतापरुद्रेण . सबहुमानमादिष्टोऽस्मि -
विश्वनाथ इति विश्रुतः कविरस्ति यदुत्तरः । प्रकाशनमरत्नं च विदुषां कर्णभूषणम्॥ →
वाचस्तस्य च वैदग्धारमधुरा इत्यत्र चित्रं किमु -
यस्यासौ सकलासु शिक्षु गुणिनां श्रेयानगस्त्यः सुधीः।
वेदश्च द्रमुखीकराङ्कुनिदतासङ्कर्षणाद्वालकौ -
वाचोऽशुक्तिमहोक्ति दर्शित गुणाः जगाः सपर्यामातुल।
सौगन्धिकाहरण, ४४ पृ० २

इसके अतिरिक्त अन्य कारण हैं जो दोनो विद्वानो को एक दूसरे से भिन्न सिद्ध करते है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अपने ग्रन्थ मे जहाँ कहीं भी उदाहरण देते हैं वहाँ यह स्पष्ट लिख देते हैं कि अमुक अंश यहाँ से लिया गया? यदि वे अपनी कृति मे से ही कुछ उद्धृत करते हैं तो गर्व का अनुभव करते हुए उल्लास के साथ लिखते हैं– यथा मम नरसिंहविजये।' इसी प्रकार साहित्य-दर्पण के षष्ठ परिच्छेद मे सन्ध्यङ्गो का वर्णन करते समय प्रतिबन्ध के उदाहरण मे अपनी रचना प्रभावती का स्मरण करते हैं – यथा मम प्रभावत्या विदूषक प्रति प्रद्युम्न – सखे कथमिह एकाकी वतस ? इत्यादि।

अपने पिता की कृति का उल्लेख करते हुए भी गर्व के साथ कहते हैं– "यथा मम तातपादानाम् इत्यादि। परन्तु व्यायोग के लक्षण करने के बाद उदाहरण प्रस्तुत करते समय वह कहते है यथा – सौगन्धिकाहरणम्।" यदि यह साहित्याचार्य की ही स्वकीय कृति होती तो यहाँ भी वे स्पष्ट लिख देते जैसा अन्यत्र किया है। फिर मनुष्य का स्वभाव है कि जब अपनी कृति विद्यमान हो तो वह परकीय रचना से लेकर दृष्टान्त रखना पसन्द नहीं करेगा। इतना ही नहीं, दर्पणकार विश्वनाथ षोडश भाषा वारविलासिनी भुजङ्ग हैं। इसके अतिरिक्त साहित्याचार्य द्वारा निर्मित प्रबन्धो की तालिका पर दृष्टिपात करने से भी दोना विद्वानो के व्यक्तित्व मे भिन्नता स्वत सिद्ध हो जाती है। गैरोलाजी ने भी आलकारिक विश्वनाथ के जिन ६ ग्रन्थो का उल्लेख किया है, उनमे सौगन्धिकाहरण का नाम नहीं लिया है।[1] यह ग्रन्थ-पटल इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है जब कि रूपककार का एक अकेला सौगन्धिकाहरण ही उपाख्य है। दर्पणकार के इन नौ ग्रन्थो मे भी इसका उल्लेख नहीं है। श्री पी वी काणे ने भी दर्पणकार की कृतियो मे इसे स्थान नहीं दिया है। इन दोनो की शैली भी भिन्न है। जहाँ साहित्याचार्य विश्वनाथ की भाषा माधुर्य तथा प्रसाद गुणो से मण्डित है वहा नाटककार की भाषा अभिनव-शब्द-विन्यास तथा जटिल-समस्त-पदो से युक्त एव व्याकरण के अनुशासन मे पूर्णतया जकडी हुई है। इस प्रकार दोनो पण्डितो के व्यक्तित्व मे भेद

१- देखए – लक्ष्मीटीकासहित साहित्यदर्पण की भूमिका और संस्कृत साहित्य का इतिहास (द्वितीय संस्करण) गैरोला –पृ० ६६२

स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में कालिदासों एवं विक्रमादित्यों की कमी नहीं है उसी प्रकार विश्वनाथों का अभाव भी नहीं है। इन दो विश्वनाथों के अतिरिक्त संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध अन्य विश्वनाथों की सूचना भी मिलती है जो निम्नाङ्कित सूची में निर्दिष्ट है। सौगन्धिकाहरण के रचयिता इन सबसे भिन्न व्यक्ति है।

कवि	रचना	प्रकार
१ विश्वनाथ	मृगाङ्कलेखा	नाटिका
२ विश्वनाथभट्ट	शृङ्गार वाटिका या शृङ्गार वापिका	
३ तर्कपञ्चानन विश्वनाथ		
४ विश्वनाथ(टीकाकार)	राघवपाण्डवीय पर टीका	टीका

लक्षणकार एवं रूपककार विश्वनाथ के व्यक्तित्व में ही अन्तर नहीं है, उनके कथन में भी भेद है। साहित्याचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में सौगन्धिकाहरण का नाम व्यायोग के लक्षण करते समय उदाहरण - स्वरूप लिया है[1]। परन्तु इस रूपक के रचयिता ने इसकी प्रस्तावना और अन्त में इसे प्रेक्षणक की संज्ञा दी है।[2] अतः "सौगन्धिकाहरण" व्यायोग है या प्रेक्षणक? यह प्रश्न भी संस्कृत साहित्य की विवादग्रस्त समस्याओं में से एक बन गया है। इस प्रश्न पर विचार करने से पहले व्यायोग और प्रेक्षणक के लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन करना अनुचित न होगा।

१– ख्यातवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।

. ..

यथा सौगन्धिकाहरणम् सा द परि ६

२– तत् कविना प्रणीतमभिनवं सौगन्धिकाहरणं नाम प्रेक्षणकमस्माभिर्नाटयितुमारब्धम्।
समाप्तमिदं सौगन्धिकाहरणं नाम प्रेक्षणकम्। सौगन्धिकाहरण पृ० २.

व्यायोग और प्रेक्षणक का तुलनात्मक विवेचन

व्यायोग मे कथा-वस्तु पुराण-प्रसिद्ध या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष रहता है। इसमे पात्रो का बाहुल्य तो होता है परन्तु स्त्री-पात्रो का अभाव सा रहता है, युद्ध होता है किन्तु स्त्री के कारण नही। इसका विस्तृत लक्षण आरम्भ मे ही दिया गया है। प्रेङ्खण प्रेक्षणक का पर्याय प्रतीत होता है। इसका लक्षण साहित्य दर्पण मे दृष्टिगत होता है। प्रेक्षणिक, प्रेक्षणीयक आदि पद अभिधानकोशो एव विभिन्न साहित्याचार्यों के लक्षण-ग्रन्थो मे रूपक के एक भेद के अर्थ मे प्राप्त होते है।[1] इनके अनुसन्धान से प्रेङ्खण प्रेक्षणक का ही स्थानापन्न प्रतीत होता है। शारदातनय, भोज एव सागरनन्दी इसे नृत्तरूपक मानते हैं—"प्रेक्षणिकं नृत्तरूपकम्।......'

व्यायोग एव प्रेङ्खण के लक्षणों को ध्यान मे रख कर जब हम सौगन्धिकाहरण का अध्ययन करते हैं तो इसके व्यायोग होने मे कोई सन्देह नही रह जाता। कारण, इसकी कथा वस्तु का आधार, वन-पर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा के समय की कथा का वह भाग है जहाँ स्नान करती हुई द्रौपदी को गन्धमादन पर्वत की ओर से उड़ कर आया हुआ "सौगन्धिक" नाम का कमल मिलता है। इस प्रकार के और भी, फूल लाने का आग्रह द्रौपदी धीरोद्धत नायक भीमसेन से करती है।

भीमसेन -

सौगन्धिक किमपि गन्धवहोपनीत मालोक्य कौतुकवताहृदयेन कृष्णा।
गन्धानि याचितवती किल तादृशानि सज्जस्तदाहृति-विधौ मम बाहुरेष ॥[2]

इसके सहायक पुरुष पात्रो मे हनुमान, कुबेर कञ्चुकी, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव आदि हैं। स्त्रियो मे केवल द्रौपदी के ही दर्शन होते हैं। इसमे कुबेर के साथ युद्ध स्त्री-निमित्तक नही हैं, प्रत्युत सौगन्धिकपुष्प के कारण हुआ है।

१- देखिए - भरतकोष मे प्रेक्षणक का अर्थ एव विवरण।

२- सौगन्धिकाहरण ८, पृ० ३

इसमे शृगार रस से सम्बन्ध रखने वाली कैशिकी वृत्ति का आश्रय न लेकर आरभटी का प्रयोग किया गया है। वीर एव अद्भुत रस मुख्य-रस के रूप मे विद्यमान हैं। इस प्रकार दर्पणकार द्वारा लक्षित व्यायोग के सब लक्षण इस मे वर्तमान हैं।

फिर भी रूपककार विश्वनाथ के उपर्युक्त वाक्यों ने सबको भ्रम में डाल दिया है। डॉ दशरथ ओझा ने अपनी एक पुस्तक म सस्कृत मे एकाकी विषय पर चर्चा करते हुय सौगन्धिकाहरण की गणना प्रेङ्खण-कोटि के रूपको के साथ की है[1] जबकि प्रेङ्खण का एक भी लक्षण इसमे लक्षित नही होता। कारण, इसमे नायक नीच होता है, गर्भ तथा विमर्श सन्धियो का अभाव होता है, प्रवेशक और सूत्रधार को भी इसमे स्थान नही दिया जाता। नियुद्ध (बाहुयुद्ध), सम्फेट (सरोषभाषण) आदि के चित्र इसमे मिलते हैं तथा सब वृत्तियाँ होती हैं। प्ररोचना तथा नान्दीपाठ नेपथ्य से प्रसारित होते है। इस लक्षण को ध्यान मे रखते हुए प्रेङ्खण के उदाहरणस्वरूप वालिवध को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। डॉ ओझा प्रेक्षणक के लक्षण करते हुए आगे एक बडे नाटक के अन्तर्गत आने वाले दूसरे नाटको को भी प्रङ्खण की सज्ञा देते है।[2] इस प्रसग मे उन्होने राजशेखर को याद किया है। सौगन्धिकाहरण किसी बडे नाटक के बीच मे भी नही खेला गया है। यह तो एक स्वतन्त्र लघु नाटक है। अत इसे कर्टेनरेजर मानकर भी

१- भास्करकवि का 'उन्मत राघव', लोकनाथ भट्ट का 'कृष्णाभ्युदय', विश्वनाथ का सौगधिकाहरण प्रेङ्खण की कोटि मे आते हैं – हिंदी नाटक उद्भव और विकास पृ० ३२६

२- जब एक नाटक के अतगत दूसरा नाटक आ जाता है तो वह प्रेङ्खण कहलाता है। राजशेखर के बालरामायण नाटक के अतगत एक प्रेक्षणक पाया जाता है। . .
सौगधिकाहरण प्रेङ्खण की कोटि म आते हैं। यह एकाङ्की संस्कृत का एक प्रकार से कर्टेनरेजर कहा जा सकता है – हिंदी नाटक उद्भव और विकास पृ० ३२५.
अग्रेजी म बडे नाटकों के साथ साथ जिन नाटको का अभिनय होता था, वे कर्टेनरेजर कहलाते थे। उन्हीं का विकसित रूप आधुनिक एकाङ्की है। प्रेक्षणक सस्कृत वृहद्नाटकों के मध्य म अभिनीत होते थे। सभव है इनका विकास वही से हुआ हो। हिंदी नाटक उद्भव और विकास पृ० ३२६

प्रेक्षणक (प्रेङ्खण) की कोटि में रखने में सकोच होता है। डॉ कीथ एव कृष्णमाचारी जैसे इतिहासकारों एव साहित्य के समीक्षकों ने भी इस व्यायोग के नाम से ही अलकृत किया है। श्रीकृष्णमाचारी जी ने इस पुस्तक का नामान्तर 'परिणय व्यायोग' भी बतलाया है। उन्होंने अन्य उपरूपकों की पट्टिका प्रस्तुत करते समय प्रेङ्खण के दृष्टान्त स्वरूप सौगन्धिकाहरण का नाम न लेकर शारदातनय एव सागरनन्दी जैसे प्रामाणिक लक्षणकारों का अनुसरण करते हुए त्रिपुरमदन, नृसिंह विजय और वालिवध का ही नाम लिया है। अब विचारणीय प्रश्न यह रह जाता है कि जब सौगन्धिकाहरण व्यायोग है तो इसके रचयिता ने इसके लिए प्रेक्षणक नामक भ्रामक शब्द क्यों चुना जिससे लक्षणकार तथा रूपककार के कथन में भेद प्रकट होता है।

विविध ग्रन्थों के रचयिता होने के कारण सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्याचार्य विश्वनाथ का सौगन्धिकाहरण को व्यायोग कहना उनका प्रमाद था, ऐसा कहने का दुस्साहस बिना विचारे नहीं किया जा सकता। अतएव यदि हम एक मात्र सौगन्धिकाहरण के कर्ता विश्वनाथ की कृति में प्रतिलिपिकारों के प्रमाद से प्रेक्षणक पद आ पड़ा होगा–ऐसा कहें तो दोनों विद्वानों को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचती। प्राचीन भारत में मुद्रण की प्रथा नहीं थी। उस युग के कवियों की स्वहस्तलिखित प्रतियाँ अब नहीं मिलती हैं। जो देखने में भी आती हैं वे परहस्तलिखित होती हैं। अत सभव है, यह प्रतिलिपिकारों की उपेक्षा का ही प्रमाद हो।

अभिधान कोशकारों ने भी प्रेक्षणक शब्द के विभिन्न अर्थ बतलाए हैं। उनमें से इसका एक अर्थ सामान्य रूपक भी मिलता है। परन्तु यहाँ सौगन्धिकाहरण में उल्लिखित प्रेक्षणक के आधार पर इसे सामान्यरूपक मान लेने पर अतिव्याप्ति दोष की सभावना है। अत इसे पाठान्तर मानने में कोई हानि प्रतीत नहीं होती।

काव्य सौष्ठव

इस विवादमूलक प्रश्न के समाधान के पश्चात् सौगन्धिकाहरण में प्रदर्शित कवि के कवित्व पर सक्षेप में विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

महाभारत की जिस कथा का संकेत ऊपर दिया जा चुका है, उसमें कवि विश्वनाथ ने अपनी कल्पनाप्रसूत प्रतिभा द्वारा आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर दिया है जिससे उसकी चारुता एवं रोचकता में वृद्धि हो गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही प्रस्तावना में विषय प्रवेश की सुन्दर-पद्धति को देखकर कवि की निपुणता का परिचय मिलता है।

इनकी पंक्तियां को पढ़ कर कालिदास के पात्र प्रवेश द्वारा बीजन्यास[1] की पद्धति का स्मरण हो आता है।

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारंगेणातिरंहसा ॥

जिस प्रकार कालिदास के शाकुन्तल में देर होने का कारण नटी के मधुर गीत को बतलाया गया है उसी प्रकार विश्वनाथ ने भी फूलों के लाने में विलम्ब होने का ही अभिनय में देर होने का कारण बतलाया है।

कृत्यं कियन्मात्रमिदं भवत्या मया प्रसूनान्यहमाहरामि ।
देव्या कृतज्ञो द्रुपदात्मजाया सौगन्धिकानीव समीरसूनु ॥

'जिस प्रकार पवनतनय भीम द्रौपदी के लिये सौगन्धिक पुष्प ला देता है ठीक उसी प्रकार मैं आपके लिए फूल ला देता हूं।" यहां भीम की उत्पत्ति वायु से हुई थी, इसका संकेत है। महाभारत में भी उसे पवनात्मज कहा गया है।[2]

कवि ने महाभारत की कथा में परिवर्तन कर, उसे नाटकीय रूप देकर सौगन्धिकाहरण की श्रीवृद्धि की है। महाभारत में भीमसेन युधिष्ठिर के पीछे जाकर सरोवर से फूल बलपूर्वक लेते हैं किन्तु यहां भीम धर्मराज द्वारा रोके जाने के भय से इस कार्य के सम्पादनार्थ चुपचाप निकल पड़ते हैं, जिससे गुरुजनों की आज्ञा का उल्लङ्घन होने से मर्यादा का भंग भी नहीं होता और प्रिया की इच्छा की पूर्ति भी निर्विघ्न हो जाती है।

१- अभिज्ञान शाकुन्तल
२- महाभारत –अरण्यपर्व तीर्थयात्रा –१२१ –अध्याय ३.

'ध्रुव प्रियाया प्रणय क्षति व्रजेद् विपर्यये स्याद् गुरुवागतिक्रम ॥'

नायक भीम को अपने प्रति द्रौपदी के अखण्ड प्रेम को देखकर गर्व और उल्लास का अनुभव होता है, कारण द्रौपदी प्रेम के वश से उसकी भुजाओ के बल की परीक्षा भी करना चाहती है। वीरविलासिनी पत्नी पति को काम सौंप कर तत्क्षण प्रचण्ड विरह वेदना मे पीडित हो डबडबाई आँखो से भीम को विदा करती है। शुभ घडी म अश्रुदान स अनिष्ट होने की सभावना रहती है, इसे ध्यान मे रख कर मानव जगत् के सूक्ष्मनिरीक्षक कवि ने भीम द्वारा क्षत्रियाणी को कातर न बनने का आदेश दिया है। भीम को अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये प्रस्थान करता है। सुगन्धयुक्त वायु जिस ओर बह रही थी, उसका अनुसरण करते हुए भीम को वनश्री देखने का अवसर मिलता है। यहाँ कवि का वर्णन महाभारत के प्रकृति चित्रण से उच्चकोटि का प्रतीत होता है।

दर्पोद्रिक्त मरारपानमुलभानङ्कुरवदङ्कुव
पाकोदगन्धिकपित्थघस्मरकपिक्रीडासहिष्णुद्रुमा ।
दृश्यन्ते च रतोत्सुकाकुलशुकव्यापार –वीक्षादर–
स्मेरान्योन्य विषक्तदृष्टिशबरस्त्रैणा वनक्षोणय ॥[1]

तुलना कीजिये—

पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाभिरुतेषु च
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षु जगामामितविक्रम ॥
जिघ्रमाणो महातेजास् सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ।
गन्धमुद्दामकामोऽसौ वने मत्त इव द्विप ॥[2]

इसी प्रसग मे उत्प्रेक्षा द्वारा कवि बाँस के अन्दर मे निकलने वाले पदार्थ वशलोचन का उल्लेख करते हुए वन की शोभा अङ्कित करते हैं। ये बाँस के पेड काँटो के अग्रभाग मे लगे हुए चमर मृगो के मुलायम बालो से ऐसे

१– सौगन्धिकाहरण १४

२– महाभारत –अरण्यपर्वणि तीर्थयात्रा २१-३६

सुशोभित हो रहे हैं मानो पक जाने के कारण फटी गाँठ के भीतर से निकला मोती की किरणों का व्यतिकर हो। चमरनामक जंगली पशु विशेष का उल्लेख कालिदास के मेघदूत में भी मिलता है। इस प्रकार कवि द्वारा प्रकृति के सूक्ष्मनिरीक्षण का परिचय उपलब्ध होता है।

गन्धमादन पर्वत के समीप आते हो भीम को अपने भाई पवन-तनय हनुमान् की याद आ जाती है। वहाँ हनुमान् के दर्शन भी होते हैं। महाभारत में हनुमान् भीम को चारो युगो का महत्व अलग अलग समझाते हुए भक्त-वत्सल राम के जीवन का वृत्तान्त सुनाते हैं। विश्वनाथ कवि ने यह प्रसग सौगन्धिकाहरण में छोड दिया है। वन में भीम को आया देख हनुमान् उसके हित में रास्ता रोक कर लेट जाते हैं और कौतूहलवश अपना परिचय गुप्त रख कर भीम से विवाद करते हैं। यहा कवि की उच्च कोटि की भावाभिव्यञ्जना का दृष्टान्त मिलता है। इस अश को पढते समय भास कृत मध्यम व्यायोग में घटोत्कच और भीम के बीच हुए सवाद का स्मरण आ जाता है।[1] जब हनुमान् भीम की परीक्षा लेने के लिए पवनतनय की बुराई करते है तब कुमार-सम्भव के शिवजी का स्मरण हो आता है जिनकी बनावटी निन्दा सुनकर देख पार्वती का चेहरा क्रोध से तमतमा उठता है। रहस्योद्घाटन होने पर दो भाइयो के मिलन का चित्र मध्यम व्यायोग के पिता पुत्र के मिलन से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

भीमसेन – आयतोर्के – सुभग भीमसेनाभिवादयते
हनुमान्-वत्स चिरनिबद्धाश्य परिरम्भणमनारय प्यतामस्य जनस्य।
तुलना कीजिये—
भीमसेन – एह्येहि पुत्र (परिष्वज्य) पुत्रस्पर्शोहि नाम
पितृ हृदयानि। पुत्र ! अनियतपराक्रमा।[2]

यह कवि की मौलिक उद्भावना है। इसके अतिरिक्त कुबेर के साथ भीम के युद्ध का दृश्य पाठको के हृदय में आनन्दता के भावो का सचार

१– मध्यम व्यायोग ४३ तुलना कीजिए –सौगन्धिकाहरण –७ पृ० १६।
२– मध्यम व्यायोग।

करता है। कुछ एक सुन्दर वाक्यों में कवि का भाषा पर प्रभुत्व दृष्टिगत होता है।

हनूमान् (सस्नेह भूयः समालिङ्ग्य पार्श्वे उपवेशयन्)
अहो, सौभ्रात्र नाम सर्वातिशायिनिश्चित्त-निर्वृत्तिनिधि प्रणयप्रकर्षस्य पराकाष्ठा। किंच। य कश्चिदपि भावमात्मनिवेशादेव लोके प्रमाणयति
— + ÷
कुबेर — भो किमेतावताप्यपराद्ध।
ननु मानरूचेरय गुण सहतेऽस्मौ परर्जितं न यत्।
निशमय्य घनाघनध्वनि निभृतस्तिष्ठति किं नु केसरी॥[1]

इस प्रकार सौगन्धिकाहरण में एक सफल नाटक के गुण वर्तमान हैं। नीलकण्ठ कवि ने भी महाभारत की इस कथा पर आधारित "कल्याण-सौगन्धिक" नामक व्यायोग रचा था। ये सभवत केरल के कुलशेखरवर्मन् के समकालीन थे।

नरकासुर-विजय व्यायोग

विश्वनाथ के सौगन्धिकाहरण के बाद १५ वीं शताब्दी (ईसोत्तर) के धर्मसूरि-रचित नरकासुर वध(नरकासुरविजय) नामक एकाङ्की व्यायोग भी महत्व-पूर्ण है। इनके रचयिता को धर्मसुरी और धर्मभट्ट भी कहा जाता है। कृष्णा-नदी के तट पर अवस्थित "पेडपल्लिनाडू" नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। कुछ एक सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि वह तेनाली के पास मद्रास राज्य के गुन्तुर जिले के कडेवेरा नामक स्थान के निवासी थे। वह हरित-गोत्रोद्भव तैलंग ब्राह्मण पर्वतनाथ और येलम्बा के पुत्र थे। एक लम्बी अवधि तक बनारस में रहने के कारण इनके अनुवंशज वाराणसी परिवार के नाम से विख्यात हैं।[2]

१- सौगन्धिकाहरण ११३ पृ० ३६.

२- नरकासुर विजय पृ० ५.

राम के अनन्य उपासक होने के फलस्वरूप इनके दार्शनिक ग्रन्थों में राम प्रमुख देवता के रूप में चित्रित हैं। इनकी दार्शनिकता इनके काव्य तथा अलङ्कार के मार्ग में बाधक नहीं थी। नरकासुर–विजय व्यायोग में इन्होंने प्रसङ्गानुसार दर्शन शास्त्र के अगाध-ज्ञान के साथ साथ अपने मानस-स्तर में हिलोरें लेने वाले साहित्यानुराग की लहरों को भी बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में तपाने वाला सूर्य ही वर्षाकाल में अपनी किरणों द्वारा अमृत क्षरण करने वाला सिद्ध होता है,[1] उसी प्रकार धर्मसूरि की 'निरन्तर तर्कश कर्कश' वाग्वैखरी काव्य–प्रणयन–काल में माधुर्य की वर्षा करती है।

हो गया। उसके दिन प्रति दिन बढ़ते हुए अत्याचारों से भूतल काँप उठा। कृष्णावतार में नारायण ने उसका वध किया था।

वसमूरि के नरकासुर-विजय व्यायोग में इस इतिहास-प्रसिद्ध कथा का सफल नाट्यीकरण किया गया है। तदनुसार वराह के रूप में विष्णु भगवान् ने जब पृथ्वी को लीलावश अपने दाँतों पर उठाया था उस समय धरा से सम्पर्क होने के कारण कृष्ण के नरक नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। सन्ध्या समय तक उत्पन्न इस पुत्र नरक ने राक्षसी तन धारण करके स्वर्ग तथा इह-लोक के लोगों को सताना आरम्भ कर दिया। इन्द्र एवं नारद के मुख से यह वृत्तान्त सुन कर सामने उपस्थित हुए दारुक से नरक के दुराचारों की वार्ता सुनने के उपरान्त केशव ने अपने पुत्र का भी परवाह न करके उसे मारकर लोक रक्षण करने की प्रतिज्ञा घोषित की[1]। प्रस्तुत एकाङ्की के इसी स्थल पर श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा के नरक नामक दारुण राक्षस का परिचय जानने की इच्छा प्रकट करने पर भगवान् कृष्ण के सारथि दारुक ने इस दैत्य के जन्म का रहस्योद्घाटन किया।[2]

साहित्यिक समीक्षा

प्रस्तुत एकाङ्की व्यायोग में शास्त्रीय नियमों का सम्यक् पालन करते हुए श्रीकृष्ण द्वारा अपने ही पुत्र नरक के वध का वर्णन किया गया है। इसमें पिता पुत्र के युद्ध का हेतु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में स्त्री नहीं है। यहाँ तो श्रीकृष्ण-नरकासुर संग्राम का कारण विशुद्धरूपेण लोक-रक्षण ही है। जब कि भास के मध्यम-व्यायोग तथा विश्वनाथ के सौगन्धिकाहरण जैसे व्यायोगों में प्रत्यक्ष रूप से युद्ध का हेतु स्त्री की प्राप्ति न होने पर भी

१- कृष्ण – मत्पेक्ष्यापि भक्ता ये रक्षणीया विपद्गत ।
मद्रक्षणानपेक्षापि भक्तास्तु तदा मम ॥२४॥
नरकासुर-विजय व्यायोग – पृष्ठ १६

२- दारुक – पुरा खलु सकल-चराचर-मूलदिता धरिता महावराहरूपमवलम्ब्य समुद्धरता भगवता तस्या नितान्तसङ्गतायामेकतर यदुत्पादितम्, तत् सन्ध्यासमयसमुपपन्नतया तादृशीम् आसुरी तनुमभिगतम् । नरकासुर-विजय पृष्ठ १५

क्रमश माता के लिए माम लाना एवं अपनी भार्या के लिये सौगन्धिक पुष्प लाना है। शास्त्र के नियम-पालन के समय सचेत रहने पर भी कवि वृद्धएवं विचारशील आलोचकों को खटकने वाली बात लिख ही गया है। सर्व प्रथम विष्णु भगवान् की शृङ्गार-मय लीलाओं से रञ्जित नान्दी-पाठ की पंक्तियां ही वीररस प्रधान-व्यायोग के अनुकूल नहीं प्रतीत होती हैं।

> कस्तूरी परिदिग्धमुग्धकमलावक्षोजमुद्र्या ध्रुव
> नीलाद्रेः शिखरप्र नित्यकृतकी दैत्याग्निव्याजम न ।
> प्रत्यङ्गाभरणेषु दीप्तवपुष मवामु दत्त स्फुट
> भासामावगुरात्मना विदधत चन्द्राय-चन्द्रोदय ॥[1]

इसी सूर्योदय का वर्णन करते समय कवि पुन अपने आदर्श को भूल कर अपने काव्य का लालित्य दिखलाने के लिये भगवान् भास्कर की कामुकता का चित्रण करने को मचल उठते हैं-इत्थिय-(पुनर्निरीक्ष्य साश्चर्यम्)

> उदित ननु भगवान् भवन-श्रेयस्करो भास्कर । नूतनमयमधुना कामपि
> ...मा परिणामीमालीकत । यदिदानीम् -
> नीतभय नवानदय कृतजीवनाया
> रागान्वितस्तुहिन वाष्पमुखी नलिन्या ।
> नीतश्रियो विगलितालिगिरो विवस्वान्
> पुष्पाणि पादपतनेन पुर प्रहर्षम् ।[2]

अर्थात्—घर के बाहर कहीं दूसरे स्थान पर रात बिताने के कारण भयभीत नत-मस्तक रवि तुहिनाम्बी (ओसकण) अश्रु (वाष्प) त्याग करती हुई अनुराग भरी नलिनी को उसके चरण पकड़ कर (क्षमा याचना करके) प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा है।

ऐसे स्थलों की काव्य छटा मनोहर होने पर भी मान्य नहीं मालूम

१- नरकासुर विजय पृ० १
२- नरकासुर विजय, ५

देती। यह शृङ्गार-प्रकरण भाग तथा प्रहसन के लिये अधिक उपयुक्त लगता है। इसके बचाव में यही कहा जा सकता है कि इसकी सूचना प्रस्तावना में सकेत द्वारा दी गई है।

प्रकृति चित्रण

इसके अतिरिक्त शशिनिशा-वनलक्ष्मी की छवि भी प्रथम दृष्टि में तो बड़ी भली लगती है परन्तु विचार-तुला पर तौलने पर उपमा एवं उपमेय में सादृश्य स्थापना का अभाव यहाँ रसिक-हृदय को खल सकता है। यहाँ निशा को कवि धूपछाँही वस्त्राच्छिता बतलाना चाहते हैं। किन्तु शशिनिशयोरिव ताम्बूलयोरिव इत्यादि स्थलों पर द्विवचन का प्रयोग भावाभिव्यञ्जना में कवि की असमर्थता को प्रकट करता है यथा-

सूत्रधार (सकौतुक सर्वतोऽवलोक्य) अहो प्रमदयति मम हृदय शशिनिशी वनलक्ष्मी।

नयुताम्बरं शशिनिशयोरिव भाति लाक्षा
ताम्बूलयोरिव रसैररुणाश्रयैः।
हारैः प्रसूननिकरैरिव तारकैश्च
चूर्णैः पटीरनिवहैरिव चन्द्रिकाशैः॥

नयुताम्बर अर्थात् नीलाकाश लाक्षा एवं ताम्बूल के रस से लाल तथा तारारूपी फूलों के गुच्छों, हारों और चन्दन के चूर्ण की तरह चन्द्रिका के अंश समूह से युक्त होने के कारण शशि एवं निशा के समान शोभित है।

लगता है, यहाँ हमारा दार्शनिक कवि दर्शन एवं काव्य के क्षेत्र में समान योग्यता के प्रदर्शन के लिये दार्शनिक विचारों में मग्न है। ध्यान टूटने पर वह वीररस के अनुकूल समस्त लोक को आलोकित करने वाले तेजोमय भानु की स्तुति में रचे गये कतिपय श्लोकों में अपनी कविता की महिमा एवं मधुरिमा की झाँकी प्रस्तुत करता है। इनमें अतिशय पद्यात्मक एवं गद्यात्मक पंक्तियों की भाषा नानालङ्कार-मण्डिता होने के कारण अति रुचिर प्रतीत होती है। इस एकाङ्की में अधिकतर उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और उपमा का प्रयोग किया गया है। जैसे-

श्यामीभूता सुरपथवनी वासरेप्वानपेन
सृष्ट्वा धात्रा निशि विरचितंदोंहदैर्ध्वान्तधूपै ।
सद्यस्ताराकुसुमरुचिरा मण्डनेनास्य भानो
सप्रत्येषा भवति फलिता पल्लविन्यंशुभिश्च ॥[1]

यहाँ उषा–काल मे भूतल पर फैलती हुई सूर्य की किरणो की शोभा का सुन्दर चित्रण है। रात्रि मे विधाता द्वारा निर्मित अन्धकाररूपी दोहद के फलस्वरूप उषाकाल में तारकरूपी पुष्पो से भरी हुई यह सुरपथ की वनमाला मानो फलवती होती दिखाई दे रही है।

जिस प्रकार दाडिम के वृक्षो के नीचे धूपादि द्वारा दोहद कर्म करने पर फल लग जाते हैं उसी प्रकार यहाँ वनमाला ध्वान्तरूपी दोहद से पुष्पित एव पल्लवित होती वर्णित है।

कवि ने भगवान् विष्णु के सम्मान मे मनाये जाने वाले शरत्कालीन उत्सव मे पधारे हुए अतिथियो के मनोरञ्जनार्थ अभिनीत[2] व्यायोग का इस प्रकार बीजन्यास किया है।

भीतिं विपक्षजनताजनितां जहीहि
देवद्रा मुञ्च नगरी न गरीयसी स्वाम् ।
रक्षोवलेन सहसा सह साहसाग्नौ
हव्य करोति नरक नरकण्टक तम् ।[3]

अर्थात् हे इन्द्र! अपनी गौरवान्विता नगरी को मत छोडो। अपने विपक्ष की जनता से जनित भीति का सर्वथा त्याग कर दो। सम्पूर्ण राक्षस सेना के साथ मनुष्यो के मार्ग के कण्टक स्वरूप नरकासुर को मैं अपने बाणो की अग्नि से भस्म कर दूँगा।

धर्मसूरि पर माघ का प्रभाव

इन पङ्क्तियो के पश्चात दारुक द्वारा श्रीकृष्ण को सुनाए गए नरकासुर

१– नरकासुरविजय–६
२– नरकासुरविजय पृ० ३.
३– नरकासुरविजय, १८.

के कुकर्मों से माघकाव्य के प्रथम सर्ग का ध्यान हो आता है, जहाँ महर्षि नारद देवकीनन्दन को शिशुपाल के दुष्टाचरण का हाल सुनाते हैं जिसको सुन कर श्रीकृष्ण शिशुपाल का वध करने का निश्चय घोषित करते हुए अपना पाञ्च-जन्य फूंकते हैं।[1]

"ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्यवाचो
नभनभस्तस्मिन्नुत्पतित पुर सुरमुनाविन्दो श्रिय बिभ्रति ।
शत्रूणामनिश विनाशपिशुन क्रुद्धस्य चैद्य प्रति
व्योम्निव भृकुटिच्छलेन वदन केतुश्चकारास्पदम् ।।

श्रीकृष्ण के छिपे हुए क्रोध को भड़काने के लिए दारुक के मुख से त्रिलोक के देवताओं एव ग्रह नक्षत्रों के समाचार सुनवाने के व्याज से भी कवि ने अपने कौशल का प्रदर्शन किया है जिस पर माघ एव भारवि के महा-काव्यों की प्रतिच्छाया स्पष्ट लक्षित होती है। जिस प्रकार माघ काव्य के शिशुपाल दैत्य से हम सूर्य, चन्द्र और अन्य देवताओं को त्रस्त पाते हैं ठीक उसी के समान "नरकासुर-विजय के प्रतिनायक भौमासुर से सुरगण को दुःख पाता देखते हैं। नारद के मुख से सुने हुए नरक के दुर्वृत्त से इसकी पुष्टि हो जाती है। यथा-

अव्याज मुहुरावृणोति नगरीमश्वाहनो वासवी
दिव्यानि प्रसभ वनानि हरते भव्यानि कल्पद्रुमै ।
हव्यानि ज्वलने हुतानि मुनिभि कव्यानि चात्ति स्वय
क्रव्याद कनकाद्रिकूटकटकात् स व्याप्य सक्रीडते ।।[2]

बड़ी सरलता से बार बार इन्द्रपुरी को घेर कर भव्य कल्प-वृक्ष मय उपवनो से सुन्दर वस्तुओ का हरण करता हुआ अद्रिकूट पर्वत पर मुनियों द्वारा यज्ञाग्नि मे समर्पित हव्य पदार्थों और मुनिजनो के शरीरो के कच्चे मांस का भक्षण करता हुआ अपने सहचरो के साथ क्रीडाएं करता है।

तुलना कीजिये--

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दन मुषाण रत्नानि हरामराङ्गना ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्यमस्वास्थ्यमहर्दिव दिवः ।।

१- शिशुपाल वध प्रथम सर्ग पृ० २३६.

२- नरकासुरविजय २०

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुका ।
स्वरूप शोभैक फलानि नाकिना गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥[1]

नरक से आतंकित सूर्य और चन्द्रमा की दशा भी दयनीय है

तद्धाटीवल्म - धूलिसूसरतनुरास्य प्रतापाग्निना
सन्तप्तस्तद सिशतारिनिकरै निर्भिन्न बिम्बो मुहु ।
वाराशौ विनिमज्जनन रजनीष्वारमाध्माश्वामयन्
कान यापयति त्विषामधिपति कृच्छ्रेण भाक ग्रहे ॥
चन्द्रमास्तु त निग्रहानुग्रहाभ्यामुत्क्षयापचयौ मुहु प्रतिपद्यन

अर्थात् पराक्रमी नरक द्वारा किए गए आक्रमणो (धाटी) म तलवारा के तेज प्रहारो एव उसके तेज स सतप्त सूर्य रात भर ठण्डी आहे भरता हुआ किसी प्रकार अपना समय व्यतीत कर रहा है। चन्द्रमा तो पूर्णरूपेण उसकी कृपा का पात्र हो चुका है ।

तुलना कीजिये

स्पृशन् सशङ्क समये शुचावपि स्थित कराग्रैरसमग्रपातिभि
अघमघर्मोदिकबिन्दुमौक्तिकैरलचकाराम्य वधूरहस्कर ॥
कलारभरण महानमुश्चता मनस्विनीरुत्कमित पदीयसा
विलासिनस्तस्य वितन्वता रति न नर्मसाचिव्यमकारि नदुना ॥[2]

धर्मसूरि के नीलसुन्दरगिरि के वर्णन के प्रसग म पर्वत को गरुड मानने की कल्पना माघ कवि के चित्रण की या, दिलाती है जिसके कारण वह कवि समुदाय मे घण्टा माघ के नाम म सम्मानित हुए थे। भारवि के किरातार्जुनीय मे भी ऐसे दृष्टान्तो का प्राचुर्य है ।

उदयति विततोर्ध्व रश्मि रज्जावहिमरुचौ हिम धाम्नि याति चास्तम्
वहति गिरिरय विलम्बिघण्टाद्वय-परिवारित-वारणेन्द्रलीलाम् ।[3]

---

१ शिशुपाल वध सग १ ५१ ४५ प० १५५
२ शिशुपाल वध प्रथम सग ५८ ५६
३ शिशुपाल वध चतुथ सग

चाम्पेयमान्द्रवनराजिविराजमान-पार्श्वद्वयस्तुहिनपाण्डुर-तुङ्ग-भृङ्ग ।
निष्पन्दमान विततायत-हेमपक्ष भ्राजद्द्वलक्ष-मुक्ताश्यंविय ननोति ।।[१]

चम्पा पुष्प के वन स युक्त एव बफ से ढंके होने के कारण पीले एव सफेद भृङ्ग वाले पवत के दोनो पार्श्व मानो गरुड के फैले हुए निष्कम्प (स्थिर) सुनहले पख ही है। तात्पर्य यह कि यह पर्वत गरुड की शोभा पा रहा है।

इस रूपक के गद्यात्मक सवाद भी वीररसोचित तथा प्रभावोत्पादक एव कवि के भाषागत अधिकार को पुष्ट करने मे समर्थ है। इन एकाङ्कियो की भाषा पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालने से संस्कृत के एकाङ्की साहित्य पर हीनता का आरोप लगाने वाले मीमासको का आरोप निर्मूल सिद्ध होता है। योद्धाओं के बल को देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए इन्द्रसुत जयन्त के भाषण को इसके प्रमाण-स्वरूप यहाँ उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

जयन्त - (रक्षो-बलमवलोक्य) अहो सर्वोत्कृष्ट खल्विदमस्य सैन्यम्। तथाहि-सर्वेऽपि सिन्धुरा कुलगिरिबन्धुरा, पद्मवसभिन्ना, प्रभिन्नाश्च निखिलाश्च गन्धर्वा सगर्वा आजानेया विनियाश्च।

एकाङ्कियो मे रस

कुछ लोग कहते हैं कि मुक्तक जैसे छिटपुट काव्यखण्डो की तरह एकाङ्की कृतियो मे भी रस का परिपाक सम्भव नही हो सकता। तब इनका परिगणन रूपको के अन्तर्गत कैसे किया जा सकता है ? यह समस्या समीक्षको के समक्ष उपस्थित होती है। भरतमुनि एव उनसे अनुप्राणित साहित्याचार्यो द्वारा प्रस्तुत विशद रसमीमासा पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर इस समस्या का समाधान स्वयमेव हो जाता है। सस्कृत नाटको म रसनिष्पत्ति और भावुकता को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। रसविहीन काव्य का उनकी दृष्टि मे कोई मूल्य नही। दशरूपको म से नाटक के प्रत्येक रूप मे किसी न किसी रस अगी होने की बात देखने मे आती है। यहाँ तक कि लब्धप्रतिष्ठ ध्वनिशास्त्रवेत्ता

१ - नरकासुर विजय, पृ० ८

ध्वानदवद्धनाचाय क ध्व यालोक मे मुक्तक खण्ड काव्य आख्यायिका जैसे श्रव्य काव्य एव एकाङ्की जैस दृश्य काव्य के लघु रूपो मे भी रस का स्वाद प्राप्त कर सकने के प्रमाण विद्यमान है[1]। व्यायोग तथा अङ्क-साहित्य म कवि वीर और करुण रस का आभास प्रस्तुत करत हैं।

वीर रस का शास्त्रीय विवेचन

शृङ्गार की तरह हमारे यहा वीर रस का भी विशेष महत्व रहा है। ऋग्वद से इसकी उत्पत्ति होने के कारण इसका प्राचीनता भी स्पष्ट है।[2] इस रस मे डूबे हुए व्यायोग साहित्य मे जो ग्राम्य शब्द प्रयुक्त दिखाई देते है वे दोष नही माने जा सकते। कारण अपने विपक्षियों के प्रति मानव की प्रवृत्ति जैसे को तैसा उत्तर देने की होती है। क्रोधान्ध के मुख से निकले शब्द अपशब्द होने पर भी एक सहृदय की दृष्टि म अभद्र नहीं होत। अत व्यायोग में रसाभास के दशन का अवसर भाणो तथा प्रहसनों की अपेक्षा कम मिलता है। शृगार रस के रतिभाव की तरह वीररस का उत्साह भी सवत्र व्यापक दिखाई देता है। जहां शृगार रस हृदय की कोमल भावनाओं का तृप्त करता है वहां वीर रस हृदयस्थ भावनाओ की तृप्ति के साथ कमनिष्ठता भी जाग रित करता है। शृगार केवल सहृदय के आभ्यन्तर पक्ष को तुष्ट करके छोड देता है। वीरता का प्रदशन कैवल समरभूमि में ही नही किया जाता, आदश समाज की स्थापना भी धीरे धीर पुरुष ही कर सकते हैं। यह ओछे दिल वाले और दुबल व्यक्तियो के बस का काम नहीं है।

साहित्य शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थो के अध्ययन एव मनन म वीररस के साथ सब रसों की अच्छी तरह व्यञ्जना हो सकने का ज्ञान भी हम होता है।

---

१ तत्र मुक्तकषु रसबन्धाभि निवेशिन कवस्तदाश्रयमौचित्यम् यथा ह्यमरुकस्य कवेमुक्तका शृङ्गाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव। …सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमास दीर्घसमासे एव भङ्घटने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्, ॥ ध्वन्यालोक —तृतीय उद्योत, पृ० २६८-६९

२– शृङ्गार उद्भृत्सामभ्यो वीरोऽभृद्दितनो ऋच।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुष क्रमात्॥ भावप्रकाश तृतीय अधिकार पृ० ५४

आलम्बन मे क्वचित् समानता के कारण वीररस से साम्य रखने वाले रौद्र तथा अद्भुत रस तो दिखाई देते ही हैं, अभिनव भारती में वीर-रस से शृंगार रस की सिद्धि भी बतलाई गई है।[1] वीर की विजय से जो प्रसन्नता होती है उसमें दर्शकों को सात्विक हास के दर्शन हो सकते हैं और प्रतिपक्षी के लड़ने के अनुचित ढंग को देखकर प्रेक्षक के मन में उसका उपहास करने की इच्छा भी प्रकट हो सकती है।

रसों के वर्ण और देवताओं का उल्लेख करके भरत मुनि ने भाव के मूर्तरूप और उसके प्रभाव आदि का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से करने का प्रयत्न किया है। वीररस का वर्ण गौर और देवता महेन्द्र बतलाए गए हैं।[2] इसमें वीररस की प्रवृत्ति और गुण को सुगमता से समझा जा सकता है। जिस प्रकार सोना शुद्धता, चमक एवं गुरुत्व (भार) के कारण धातुओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है उसी प्रकार वीर भी हृदय की शुद्धता, तेजस्विता और गुरुता के कारण सर्वोत्तम एवं सब कार्यों की सिद्धि करने वाले माने जाते हैं। त्रिलोक के स्वामी इन्द्र नीति, शक्ति, प्रताप, यश, गर्व आदि गुणों से सम्पन्न होने के कारण वीररस के देवता ठीक ही माने गए हैं। इस प्रकार भरताचार्य ने इस रस के अमूर्त भाव को मूर्त रूप दिया है। व्यायोगकारों ने इसका साक्षात् चित्र ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

धर्मसूरि के नरकासुर विजय में भी कहीं कहीं वीररस मूर्तिमान् खड़ा दिखाई देता है। नरक की दर्पोक्तियों के उत्तर में श्रीकृष्ण द्वारा उच्चरित वीरोचित वाक्यावलि को सुनकर श्रोता के मन में वीर-रस प्रवाहित होने लगता है। यहाँ वीर एवं वीभत्स का व्यतिकर भी देखने को मिलता है यथा-

त्वन्मांसाशनलोलुपा ध्वजशिखापर्यन्त – सचारिण.
कङ्काद्यास्तव सूचयन्ति विहगा दुष्टापसर्गान् बहून्।
मत्काण्डैर्दलितोऽत्र कण्ठविलुठत्प्राणो रसात्प्राङ्गणे
मज्जासृक्-पिशितास्थिभाजि नरकत्व साम्प्रत द्रक्ष्यसे॥[3]

१- अभिनव भारती अध्याय ६·
२- गौरो वीरस्तु विज्ञेय ......
वीरो महेन्द्रदेव· स्यात् ना शा अध्याय ६, ४३-४५
३- नरकासुरविजय ७२, पृ० ३२

हे नरक ! तुम्हारे मांस के लोभी ध्वजा की शिखा तक उड़ते हुए गिद्धादि को अपने (भावी नाश की सूचना देने वाले) अपशकुन समझो, निकट भविष्य में मेरे बाणों से दलित तथा पिष्ट अपने मांस एवं हड्डियों को तुम इस रणक्षेत्र में गिरता देखोगे।

पिता पुत्र की लड़ाई में नरकासुर द्वारा छोड़े गए बाणों के स्पर्श से श्रीकृष्ण अपनी ही किरणों की छाया पड़ने से जलते हुए भास्कर के समान भासित हो रहे हैं। वीर कृष्ण की यह शोभा इन पङ्क्तियों में देखी जा सकती है।

आत्मीया त्विषा मुरारिणोज्झितेन
स्पष्टोऽप्ययं भाति नारायणोऽयम् ।
प्रारम्भेङ्गेन पत्रक तोऽज्झितेन
स्वीयेनैव ज्योतिषा तिग्मभानुः ॥[1]

प्रस्तुत व्यायोग में अनेक स्थलों पर 'घाटी' शब्द के प्रयोग को देखकर इस शब्द-विशेष पर कवि का अधिक अनुराग स्पष्ट लक्षित होता है। ऊपर वरुण की दुर्दशा का चित्रण करते हुए घाटी शब्द हमें मिल ही चुका है। सुरसेना की प्रशंसा करते समय भी कवि इसका मोह नहीं त्याग सका है[2]।

यथा—आक्रमणों के समय पटुता दर्शाने वाली - घोटियों के तीक्ष्ण खुरों से कठोर परिपाटी का निर्माण करने वाली तथा रण में धूल उड़ाती हुई युद्ध-क्रीडा करने वाली घोड़ों की ये पङ्क्तियाँ सजी खड़ी हैं।

व्यायोग में सेना की शोभावृद्धि करने के अतिरिक्त घोड़ों को हम रथ खींचते हुए भी देखते हैं। पुरातनकाल में भारत में द्रुतगामी वाहन के रूप में रथ का प्रयोग होता रहा है। वैदिकसाहित्य में आत्मा को रथी बतलाकर आत्म

१- नरकासुरविजय ८८ पृ० २७.
२- नरकासुरविजय ५३, पृ० २३.

मन्त्रद्रष्टाओं ने भी इसमे अपना परिचय बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके खींचने वाले घोडों का स्वाभाविक चित्रण भी वेदों मे देखा जा सकता है। लौकिक साहित्य मे भास एवं कालिदास की नाट्यकृतियों मे नायक तथा उसके सहायक उच्चवर्ग के पात्रों को हम आखेट के लिये वन जाते अथवा रणभूमि के लिये प्रस्थान करते या वनिताहरण के समय अभिनेताओं को रथ का उपयोग करते देखते है। इस प्रसग मे हवा से बाते करने वाले धूल उडाकर अपने सामने की चेतन-अचेतन, सुन्दर-असुन्दर वस्तुओं को पीछे छोड कर दौडने वाले स्वस्थ घोडों से युक्त रथ-वेग का स्वाभाविक चित्रण करके इन कवियो ने कुशलता प्रदर्शित की है। धनञ्जय-विजय, नरकासुर-विजय आदि एकाङ्की व्यायोगो मे भी हम नाट्यकारो को रथवेग का चित्रण करते देखते हैं जिसके तुलनात्मक वाचन से विदित होगा कि इन कवियो ने एक ही भाव को भिन्न-भिन्न ढँग से चित्रित किया है। रथवेग का वर्णन भी कवि जगत् मे नगर-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि की भाँति रूढ हो गया था, ऐसा भासित होता है।

भरत – (रथवेग निरूप्य) अहो नु खलु रथवेग। एते ते
द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया
नदीवोद्वृत्ताम्बु निपतति महीनेमिविवरे।
वनव्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाच्चक्रवलय
रजश्चाश्वोद्धूत पतति पुरतो नानुपतति ॥[1]

माधव-भट्ट विरचित 'सुभद्राहरण' नामक श्रीगदित मे रथवेग का ऐसा वर्णन तो नही मिलता परन्तु उसके कतिपय वाक्यो मे रथ की तीव्र-गति का सहज अनुमान किया जा सकता है।[2]

---

१ प्रतिमा –अङ्क ३, २, पृष्ठ ७१. इसके तुलनात्मक अध्ययन के लिए मिलाइए – अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क १, ८, विक्रमोर्वशीय, प्रथम अङ्क ३, ३७ धनञ्जय विजय (व्यायोग) –२३, ४, नरकासुर-विजय - पृ० १६, वही श्लोक ३६-३७, पृ० १७.

२- सुभद्राहरण –पृ० ३२.

वत्सराज

भाणों तथा प्रहसनों पर विचार करते समय कालिंजर नरेश परमर्दिदेव के अमात्य महाकवि वत्सराज तथा इनकी कृतियों से हमारा परिचय हो चुका है। इस महाकवि का महीधर के पुत्र तथा राजा कीर्तिदेव के मन्त्री अथवा संवत् १२५२ में विष्णु भगवान् के किसी मन्दिर के निर्माता परमर्दिदेव के मन्त्री सल्लक्षण के पितामह वत्सराज से भिन्न व्यक्ति समझना चाहिये। अन्य कवियों की सूक्तियों की तरह कवि वत्सराज का भी एक श्लोक जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में मिलता है।[1] परन्तु गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ के अन्तर्गत 'रूपकषट्क' के नाम से प्रकाशित छः वत्सराजीय रूपकों में से किसी भी नाटक में यह श्लोक प्राप्त नहीं होता। इनके छः रूपकों में एक व्यायोग भी है। रूपकषट्क में सङ्कलित किरातार्जुनीय व्यायोग त्रैलोक्यवर्मदेव तथा शेष पांच नाटक उनके पिता परमर्दिदेव की आज्ञा से खेले गये थे।[2]

इन कृतियों में उल्लिखित राजा परमर्दिदेव का शासनकाल सन् ११६३ ईसोत्तर से लेकर १२०३ ईसोत्तर तक माना जाता है जबकि इनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव का राज्यकाल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था।

वत्सराज के आश्रयदाता परमर्दिदेव सिद्धराज द्वारा पराजित गुर्जर-नरेश मदनवर्मा के उत्तराधिकारी थे। परमर्दिदेव 'परमाल' और 'दशार्ण-दावानल' उपाधियों से भी विभूषित किए गए थे।[3] प्रबन्ध चिन्तामणि और चन्दबरदाई के रासो (महोबा समय) में इनके पृथ्वीराज द्वारा पराजित होने की घटना का वर्णन मिलता है। पृथ्वीराज की आज्ञा से उनकी पराजय का विवरण छोटे छोटे शिलालेखों में सुरक्षित रक्खा गया था।[4] इनके दरबारी कवि वत्सराज की कृतियों से इनकी विलासप्रियता, उदारता तथा विद्या-

---

१- वारम्वैकवासनावासिताय कालञ्जराधिपतिश्रीत्रैलोक्यवर्मदेव कवि.वत्सराजरचित किरातार्जुनम् नाम व्यायोगमभिनेतुमादिशत। किरातार्जुनीय पृ० १.

२- हास्यचूडामणि पृष्ठ ११८, कर्पूरचरितं भाण पृ० २३.

३- अथ परमर्दिनामा नृपः . . . . दशार्णदावानल इति विरुद बभार।

४- प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० २३८-३०

विलासिता की सूचना भी मिलती है ।[1]

इन सूत्रों से व्यक्त होता है कि हमारे कवि का समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा १३वीं शती का पूर्वार्द्ध रहा होगा । अपने नाटकों के लिये कवि ने पुराण एवं लोक-जीवन से विषय का चयन किया है। भाण एवं प्रहसन का विषय लौकिक है और व्यायोग, डिम, या ईहामृग की कथाएं नियमानुसार पुराण-प्रसिद्ध ही हैं ।

भारविकृत किरातार्जुनीय के त्रयोदश सर्ग से लेकर अष्टादश सर्ग तक की वर्ण्यवस्तु ही वत्सराज के किरातार्जुनीय का विषयाधार है ।

इसके प्रारम्भ में शक्तिदायिनी अम्बिका की स्तुति के साथ अन्य कतिपय वीररसानुविद्धपदों का पाठ किया गया है जिनमें कवि की रसिकता प्रतिबिम्बित है ।

सा पातु वस्त्र्यम्बकचुम्बिताया
कपोल-पाली चिरमम्बिकाया ।
प्रगल्भ – रोमाञ्चभरेण यस्या
पुणा युगोऽभ्युक्षणा – मङ्कुरान्त ॥[2]

इनकी कृतियों में महादेव के स्तुति-परक श्लोकों के प्राचुर्य को देख कर इनकी अटूट शिव-भक्ति का सहज अनुमान किया जा सकता है ।[3] कवि का परिचय देते समय इनके आश्रयदाताओं के जीवनवृत्त पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है, प्रस्तुत व्यायोग की कतिपय पङ्क्तियों से त्रैलोक्यवर्मनृपति के प्रति इनकी श्रद्धा का भी आभास मिलता है ।[4]

१- अनारतादानपरम्पराभिर्निर्वेदमायाति कदाचिदुर्वी ।
बिभर्ति तत्पूर्वमिव प्रहर्षं मुहुः प्रदाने, परमर्दिराज ।   त्रिपुरदाह अङ्क १.४
तुलना कीजिए-समुद्रमथन पृ० १५० हास्यचूडामणि - १४,
२- किरातार्जुनीय १
३- किरातार्जुनीय ६, पृ० १
४- किरातार्जुनीय ३ पृ० २

औपचारिक कवि-कम के उपरान्त पाशुपत अस्त्र-प्राप्ति के हेतु इन्द्र-कीलपर्वत पर घोर तपस्या में लीन अर्जुन के प्रवेश के साथ इस व्यायोग की मुख्य कथा का श्रीगणेश होता है।[१]

व्यायोगों में मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व

मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व के दर्शन भी व्यायोगों तथा अन्य एकाङ्कियों में किए जा सकते हैं। इनके विशद चित्रण का अवसर संस्कृत के नाटक, प्रकरण, सट्टक अथवा नाटिका में मिल सकता है। भाण, प्रहसन एवं अन्य एकाङ्की रूपकों में आकार-संकोच के कारण तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिये विशेष अवकाश नहीं होता। इन सीमाओं में बँधे हुए अन्य भाषाओं के एकाङ्कियों में भी, जिन्हें हम पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित भारतीय प्रादेशिक भाषा के एकाङ्की कहते हैं, बड़े नाटकों की अपेक्षा मनोविज्ञान एवं अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता आसानी से नहीं दिखाई जा सकती। आज वे एकाङ्की केवल मनोरञ्जन एवं शिक्षण के लिये ही नहीं रचे जाते। अब उनकी रचना बड़े नाटकों के स्थानापन्न के रूप में होने लगी है। कारण, आज के नाटककार का उद्देश्य स्वल्पकाल में जनता को प्रसन्न करना है। आज के शिष्ट नागरिक मनोरञ्जन में अधिक समय नष्ट नहीं कर सकते।

संस्कृत नाटकों में रसनिष्पत्ति एवं भावुकता की विशेष महत्ता होती है। अतः भिन्न भिन्न रसों के प्रकरण के अनुसार उनके चित्र बदलते रहते हैं। ईर्ष्या, हर्ष, क्रोध आदि जिन मानवीय संवेदनाओं की चर्चा आधुनिक साहित्य में आती है वे संस्कृत साहित्य शास्त्र में अङ्कित 'भावों' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। रस-विवेचन का आधार मनोविज्ञान ही है। वीर-रस से मिश्र व्यायोगों में युद्ध नियुद्ध का वर्णन हुआ करता है। दर्शकों के हृदय में मानसिक संघर्ष तथा विस्मय के प्रदर्शन के लिये नायक और उनके प्रतिद्वन्द्वी छद्मवेश में प्रदर्शित किए जाते हैं। दोनों एक दूसरे को न पहचान सकने के फलस्वरूप कभी-कभी क्रोधावेश में किसी सम्मानित पात्र के साथ अनुचित होड़ करते

१- किरातार्जुनीय ४-५

भी देखे जाते हैं।[1] पुन रहस्योद्घाटन होने पर सहृदय पात्र अपने किए पर पश्चात्ताप भी करते हैं और दर्शक आनन्दमग्न होते हैं।

अर्जुन – (सहसोत्थाय शिरसि बद्धाञ्जलि ।) भगवन् पीयूष-मयूखशेखर !
नमस्ते, नमस्ते–,
भवसि मुकृतपाकं स्तेनकस्यापि साक्षात्
नहि नहि तव रूपाख्यानमीशोऽस्ति कश्चित्।
किमिति निकृतिमेना नाथ ! कृत्वा विचित्रा
क्षणमनुचितकार सेवको वञ्चितोऽहम् ॥

युद्ध के प्रसग मे क्रोध एव ईर्ष्याग्नि म जलते हुए योद्धाओं की गर्वोक्तियाँ जहाँ वीर रस की सरिता बहाती है, वहा बदले हुए वेष मे भक्तवत्सल भगवान् द्वारा प्रकट एव अप्रकट रूप से कठोर तप मे लीन भक्तो की की गई रक्षा आनन्द की वर्षा करने वाली भी होती है । तप की इस अवधि मे आशा और निराशा के सागर मे गोते लगाते हुए तपस्वी के प्रति प्रेक्षको की सहानुभूति भी उमड पडती है । पुराण, तथा रामायण एव महाभारत पर आधारित वीर-रसान्वित व्यायोग-साहित्य मे प्राय ऐसा ही चित्र मिलेगा । तेरहवी शताब्दी के हरिहर कवि का शङ्खपराभव नामक व्यायोग अवश्य अपवाद है ।

बालवीर पूज्य जनों के प्रति अपना पराक्रम दिखाने मे प्राय सङ्कोच करते हैं और उत्साह-प्रेमी वृद्धजनो का वर्ग उनका बल देखने का आग्रह करता है । इसकी पूर्ति के लिये वे शिशुओं के सुषुप्त-उत्साह को नाना प्रकार से उभाडने का यत्न करते हैं ।

हरकिरात – (स्वगतम्) कथ सावज्ञ पार्थो न प्रकाशयति मयि पौरुषम् । न चाविज्ञात पौरुषनिकषाय देयमिद महास्त्रम् वत्स । दुर्योधनरूपमास्थाय परीक्षे पौरुषमस्य । (इति दुर्योधन-रूप नाट्यति)

× × × × ×

1- किरातार्जुनीय ५६-६०

अर्जुन – (स्वगतम् सक्रोधम्) आः कथमयं दुरात्मा कुरुवंश-पामन !
किं कुतोऽपि राक्षसादेः शिक्षितमायाक्रमः किरातवेषच्छन्ना
दुर्योधनो मां द्रष्टुमायातः ? तत्किमत्रोचितम् । (प्रकाश सोपहासम्)
रे रे कुरु कुलकलङ्क !
दुर्योधन ! भवानेव जानात्युचितमात्मनः ।
यत्पातकमयं रूपं कैरातमुररीकृतम् ॥[१]

कभी कभी पापियों के अत्याचार से पीड़ित जनता के रक्षणार्थ भगवान् के प्रति रो पगान का प्रयत्न किया जाता है, जिसका उल्लेख धर्मसूरि के नरकासुर विजय में किया गया है। शत्रु हो या मित्र, सच्चे वीर सदा वीराकृति के दर्शनमात्र से प्रसन्न होते हैं।[२]

"हरकिरात – (स्थानं निरूप्य) अहो माहात्म्यं क्षात्रस्य तेजसः । तथाहि
एक कर कलयति स्फटिकाक्षमालाम् . ..."

संस्कृत नाट्य साहित्य में ऐसे वर्णनों का बाहुल्य है। भास के सौगन्धिकाहरणादि में इसकी सार्थकता हम देख ही चुके है। वत्सराजीय व्यायोग में भी इस कोटि के चित्र दुष्प्राप्य नहीं हैं।

शङ्खपराभव व्यायोग

मन्दिर निर्माण और मूर्ति स्थापन, जैन धर्म का एक मुख्य अंग समझा जाता रहा है। इन मन्दिरों में (विशेष कर गिरनार पर्वत पर निर्मित) बड़े बड़े लेखों के साथ प्रशस्तियाँ भी खुदवा दी गई थी, जो इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। ऐसे ही मन्दिरों में स्थित किसी शिलालेख से विक्रम संवत् की तेरहवी शताब्दी के गुजरात के अणहिलपुर (वर्तमान पाटण) नगर के चालुक्यवंशीय राजा वीरधवल के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ एक लेखकों द्वारा इसकी कृतियों के उल्लेख से उसके सुकवि एवं पण्डित होने का भी पता चलता है।

१– किरातार्जुनीय ४७ पृ० १६

२– किरातार्जुनीय ३६ पृ० १४.

विक्रम सवत् १२८२ के एक शिलालेख मे वस्तुपाल की दानशीलता का उल्लेख मिलता है।[1]

शार्ङ्गधर-पद्धति मे भी वस्तुपाल के नाम से कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं।

सप्रति न कल्पतरवो न सिद्धयो नापि देवता वरदा।
जलदत्वयि विश्राम्यति मूर्छिरिय भुवनलोकस्य॥[2]
(वस्तुपालस्य)

इसके अतिरिक्त हरिहर द्वारा नैषधीयचरित की एक प्रति के वीरधवल के दरबार मे लाए जाने पर धवल के महामन्त्री वस्तुपाल की ही सहायता से इस महाकाव्य का गुजरात मे प्रचार हुआ और वही इस पर विद्याधर द्वारा 'साहित्यविद्याधरी' तथा चण्डु पण्डित (धोलका के एक विख्यात नागर ब्राह्मण विद्वान्) द्वारा टीकाएँ लिखी गई। अध्ययन के प्रति वस्तुपाल के गाढानुराग का यह भी एकप्रमाण है।

धवल का प्रधान मन्त्री वस्तुपाल दानी और ज्ञानी कवि था। खिस्ताब्द १३०६ के मेरुतुग के प्रबन्ध चिन्तामणि एव राजेन्द्र सूरि के प्रबन्ध कोश के कतिपय प्रबन्धो मे गुजरात के राजालवणप्रसाद तथा वीरधवल के तेजपाल और वस्तुपाल नामक मन्त्रियो का विवरण प्राप्त होता है। राजेन्द्र सूरि के प्रबन्ध मे विद्यानुरागी वस्तुपाल के सहवासी कवियो मे जैन आचार्य हेमचन्द्र एव श्रीहर्ष आदि के साथ हरिहर कवि का नाम भी उल्लिखित है। उसी विवरण से यह भी ध्वनित होता है कि गौडदेशीय हरिहर श्रीहर्ष के ही वशज थे।[3] शङ्खपराभव व्यायोग से भी उनके गौडदेशीय होने की बात प्रमा-

---

१- भित्वा मालु भोजराजे प्रयाते श्रीमुञ्जेऽपि स्वर्गसाम्राज्यभाजि।
एक. सम्प्रत्यर्थिनां वस्तुपालस्त्रिष्टत्यमुस्पन्दनिष्कदनाय॥४॥
पुण्यपादेन दैत्यारेर्भुवनोपरिवर्त्तिना
अधुना वस्तुपालस्य हस्तेनाद्य कृतो बलि॥८॥

२- श्लोक सख्या १०७६ पृ० १९८

३- "श्रीहर्षवशे हरिहरो गौडदेश्य:।"
नैषधीयस्य प्रथमं पुस्तक हरिहरो गुजरातेतिख्यातदेशं वीरधवलनामनि राजनि वसुमतीं शासत्यानयत्। तत्पुस्तकञ्च वीरधवल प्रधानामात्यो वस्तुपालो नामाऽन्यदेक पुस्तकमवतारयामास।" इति प्रबन्धकोश (हरिहर प्रबध)

निश्चित होती है।[1]

उपर्युक्त प्रबन्धकोश से ही यह भी ज्ञात होता है कि हरिहर कवि का गुजरात में पहुँचने पर वीरधवल तथा उनके मन्त्री वस्तुपाल द्वारा धोलका (अहमदाबाद) में उचित स्वागत किया गया। चालुक्य वंश के परम्परागत राजपुरोहित सोमेश्वर का उनके साथ अच्छा बर्ताव नहीं रहा, परन्तु पीछे दोनों के मित्र बन जाने की बात भी कवि सोमेश्वर की उक्तियों से ही मालूम होती है। अपने ऐतिहासिक काव्य कीर्ति–कौमुदी के प्रथम सर्ग में उन्होंने इस कवि को 'कवीनां पञ्चानन" कहा है और सुरथोत्सव नामक महाकाव्य में दूतांगद नामक छाया–नाटक के निर्माता सुभट एवं हरिहर को कविप्रवर कह कर सम्मानित किया है। शार्ङ्गधर–पद्धति में हरिहर के नाम से बिखरे हुए श्लोकों में तथा प्रबन्ध कोश[2] में हरिहर के काव्य के प्रसंग में भी मधुर कहे जाने से तत्कालीन काव्यसंसार में इनके फैले हुए कीर्तिप्रताप का सहज अनुमान किया जा सकता है। पुरातन प्रबन्ध–संग्रह के दर्शन से मदन कवि के साथ उनकी प्रतिद्वन्द्विता की कथा भी ज्ञात होती है।

डा० बी० जे० सडेसरा द्वारा सम्पादित तथा ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा से सद्यः प्रकाशित हरिहर के "शङ्खपराभव व्यायोग" को देख कर गुजरात के इस ख्यातिप्राप्त कवि की स्मृति पुनः ताजी हो गई है। कवि की मौलिकता तथा कवित्व–शक्ति इसमें स्पष्ट झलकती है।

एकेनैव दिनेन यः स्वकवितां यत्र प्रबन्धेषु च –
द्वाव कवनक–शाणनिशितादिन्दर्भि दैवज्ञिकान् ।
यत्नानेक नरेन्द्रवन्दितपद – द्वन्द्वेन बन्दीकृता
विद्याश, गुर्जरैकमाननममानस्मिन् प्रबन्धे कवि ॥[3]

---

१ – शङ्खपराभव पृ० ३
२ – दूता मधु सुधा [illegible] सुधा कान्ति सुधारस ।
सम्पादित [illegible] यदि हरिहर वच ॥ प्रबन्धकोश पृ० ५८
वस्तुपाल की प्रशस्ति – सुकृतकीर्ति में भी [illegible] कहे जाते हैं जिनसे के "वस्तुपाल–चरित" में भी हरिहर कवि की उक्तियाँ हैं।
३ – शङ्खपराभव ६, पृष्ठ ३।

शङ्खपराभव का ऐतिहासिक महत्व

तेरहवीं शती की यह रचना प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों से युक्त होने पर भी इस कोटि की अन्य रचनाओं से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। इसकी कथा-वस्तु एस ही प्राचीन व्यायोगों की तरह पुराण या महाभारत से नहीं ली गयी है। यह गुजरात की एक विख्यात ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। इसमें लाट देश (गुजरात) के राजा सिंधुराज के पुत्र शङ्ख और वस्तुपाल (वीरधवल के मन्त्री) के बीच हुए युद्ध में शङ्ख का पराजय वर्णित है। इसके शीर्षक का शाब्दिक अर्थ भी यही है।

स्तम्भतीर्थ नामक बन्दरगाह पर लाटनरेश का बहुत पहले से अधिकार था परन्तु जब शङ्ख देवगिरि के यादवराव सिंहण से लड़ने में व्यस्त था तब वीरधवल द्वारा यह अपहृत कर लिया गया। अतः जिस समय उस पर वस्तुपाल का अधिकार था (राज्यपाल के रूप में) उसी क्षण गुजरराज पर उक्त आरोप करते हुए शङ्ख ने स्तम्भतीर्थ (बन्दर) को घेर लिया।

कम्बे के पास स्थित वटकूप अथवा वडवा नामक स्थान पर दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ। अन्त में शङ्ख की हार हुई और उसे लाट की राजधानी भड़ोंच की ओर भागना पड़ा। प्रस्तुत व्यायोग की प्रस्तावना सूचित करती है कि इसी विजय समारोह के उपलक्ष में वस्तुपाल की आज्ञा से इसका अभिनय किया गया था। सर्वशक्तिमान् शिव की स्तुति तथा नान्दी पाठ के अनन्तर वीर-रस एवं विजयसमारोह के समयानुकूल गद्यपद्यमय वर्णन से इसका प्रारम्भ होता है।[१]

इसी प्रसङ्ग में कवि ने अनुप्रास की छटा दिखलाते हुए यह बतला दिया है कि जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्ड तपन के बाद ही अमृत-सा वर्षण होता है, उसी प्रकार युद्ध की भयकरता के दमन और उससे उत्पन्न कठिनाइयों को सहन करने के बाद ही विजयी जनता को महोत्सव मनाने का अवसर मिल पाता है।

१- शङ्खपराभव १, २ पृ० १, शङ्खपराभव ३, पृष्ठ १.

द्वार तोरणमालिकातरलित, तद्भित्तयश्चित्रिता.,
सम्मूच्छन्त्यजिरेषु शालिदलने वामभ्रुवा गीतय ।
धूमैराज्यविपाकसौरभयुमै प्रत्यालय दीव्यते,
तत्कि नाम महोत्सवोऽयमभितो येनैष शङ्खध्वनि ॥[1]

हरिहर काव्य (व्यायोग) का विशेषता यह है कि इसमे कवि ने प्राचीन कवियो की भाँति कविता का शृगारमय मनोहर रूप देवताओ की स्तुति या और किसी व्याज से प्रारम्भ मे ही न करके युद्धविराम के बाद गीननर्तनादि मे मग्न जनता का चित्रण करते हुए उपस्थित किया है जो विचारशील रसिक को प्रसङ्गानुकूल होने के कारण बड़ा भला लगता है।

इसके अतिरिक्त ग्रामममनोरथ नागरिक एरल्लवीरा नामक पुरदेवता की पूजा के प्रसङ्ग मे भी सगीत-नृत्यादि का आयोजन करते दिखलाए गए हैं। इस महोत्सव की रमणीयता के चित्रण भी बडे काव्यमय एव सालङ्कार हैं। यहाँ विजयोपक्ष का हर्षोन्माद देखते ही बनता है।[2]

श्रेष्ठि (सानन्दम्) दिष्ट्या वर्धामहे। प्रसन्ना भगवतीयमस्माद क्षेत्रदेवत दुर्गा, यदय गूर्जराधीश्वरस्य वीरधवलस्य सचिवशेखरेण वसन्तपालेन शङ्खपराभवो निर्वाहित । तदेनामर्चयितुमुपस्थितोऽय मानन्दपरवशो नृत्यन्नुन्मदिष्णुरिव पौरलोक ।
पौरलोक - (निरूप्य) अहो। महोत्सवस्य रामणीयकम्?

आनन्द विभोर जन-समुदाय के बीच कुलटाओं का नर्तन भी लोगो को देखने को मिल जाता है। उनकी क्रीडाओ की ओर जनता आकृष्ट तो होती है परन्तु समाज मे उनका पद माननीय न होने की बात के ध्यान में आते ही वह शास्त्रीय नृत्यगीतादि मे पारङ्गत नर्तकियो की ओर बरबस खिंची चली आती है।
इस वर्णन म कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण एव वर्णन की शक्ति छिपी है।

-१- शङ्खपराभव, ४
२- शङ्खपराभव पृ० २०-२१, वही ७१-७५, पृ० २१-२२

यहाँ कैशिकी वृत्ति को स्थान देकर कवि ने व्यायोग के नियमों का उल्लंघन अवश्य किया है, परन्तु उनके समर्थन मे यही कहा जा सकता है कि इसकी सूचनामात्र दी गयी है और वह भी युद्ध-समाप्ति के बाद विजयोत्सव के प्रसङ्ग में। अतः यहाँ केवल 'सात्वत्यारभटी' वृत्ति से युक्त रहने वाले व्यायोग में कैशिकी की छाया मात्र दिखला देना अस्थाने न होने के कारण आपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता। दुर्गा के मन्दिर के निकट पहुँचते ही सब लोग भगवती की नानाविधोपचार पूजा मे लग जाते हैं, जिसकी कृपा से गुर्जराधिप श्रीवीरधवल अपने वस्तुपाल एवं तेजपाल नामक मन्त्रियों के साथ राज्य करते हैं। जीर्णोद्धार किए गए जैन मन्दिरस्थ शिलालेखों मे उल्लिखित ऐतिहासिक पात्रों के नाम इस व्यायोग म भी यत्र-तत्र मिलते हैं। यथा-

माद्य जैतल्लदव्या सकलमपि कलाकोशमुल्लासयन्त्या
राज्यं निष्कण्टकोर्वीभरमुपनतया वस्तुपालेन साकम्।
तेजपालेन च श्रीकरण - परिणतप्राति - भेनानुयातो
धत्ता श्रीवीरधात्र क्षितितलयमय यादवाम्भोजभानु ॥[1]
(इति सर्वे नानाविधोपचारैः प्रविश्य भगवतीपूजां नाटयन्ति।)

कुछ शङ्खव्यायोगतर व्यायोगों मे पौरुषप्रदर्शन के फलस्वरूप नाटक के अन्त में विजयीकुल को कोई कन्यारत्न पुरस्कार के रूप मे देने के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं,[2] परन्तु यहाँ भगवती के प्रसाद को ही पारितोषिक समझ लिया गया है, जिसमे निर्वहण सन्धि का भी सुन्दर निर्वाह हो गया है।[3] धूप-दीप फूल-फल तथा मोदकों से भरी पूजा के प्रसाद की थाली देखकर एक बार दर्शकों का मन ललचा उठता है और युद्ध का गम्भीर वातावरण सरस हो जाता है।

इस स्थल को देखकर कालिदास की यह पङ्क्ति 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' कानों मे गूँजने लगती है। फल पाकर भक्तवत्सला देवी के चरणों में भाव-भक्ति के फूल चढाने वाली भक्त-मण्डली के दर्शन कराकर कवि ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है जो भारतीय संस्कृति के सर्वथा

१- मल्लपराभव, ७६, पृ० २२
२- धनञ्जयविजय ८२, पृ० ६७,
३- मल्लपराभव पृ० २१

अनुकूल है। शेष बातों में इस व्यायोग की रचना शैली परम्परागत व्यायोगों के समान ही है : प्रस्तावना के अन्त में, बन्दिराज नामक प्रधान नायक वस्तुपाल के सेवक मागध-वृन्द के साथ प्रवेश करता है। उसकी बातों से ज्ञात विदित होता है कि शत्रु द्वारा आक्रमण की तैयारी की बात सुन कर वस्तुपाल ने उस युद्ध के लिये ललकार दिया है।

+ + +

बन्दिराज - रे रे नन्नमागधा मदनुयायिनः। सत्वरं परिकम्प्यताम् यदस्मत्स्वामी महाराजश्रीवीरधवलसचिवो वसन्तपाल –

पृष्ठे कृत्वा स्तम्भतीर्थं, विदित्वा चारद्वारा शङ्खवीराभियोगम्।
आह्वातुं तान् सत्वरं सगरोत्कान् शत्रूनस्मान् प्रेषयामास भट्टान्॥[1]

इनके ही उद्गारों से वस्तुपाल तथा वीरधवल की इतिहास-प्रसिद्ध वीरता तथा दानशीलता की बात भी पुष्ट होती है।

नेपथ्य से शोर-गुल के बीच से सुनाई देने वाले योद्धा शङ्खल का स्वर शत्रुओं के प्रति उसकी प्रलेप भावना को प्रकट करता है। शङ्ख का संदेश बन्दिराज स्वामी वस्तुपाल (वसन्तपाल काव्यगत नाम) को सुना दिया जाता है। इस प्रकार दोनों पक्षों में युद्ध आरम्भ हो जाता है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रगत नियमों के अनुसार युद्ध के दृश्य मञ्च पर प्रदर्शित करना वर्जित है, अतः इस रूपक के पात्रों के द्वारा युद्ध भूमि का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसका सजीव चित्र प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।[2]

इस प्रसङ्ग में कवि ने ओजकान्तिमयी गौडीया रीति का प्रयोग किया है। मध्याह्न में सूर्य का चित्रण करने के बहाने कवि ने दोनों सैन्य-दलों द्वारा निर्मित क्रोध के वातावरण का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।[3]

भुवनपाल और शङ्ख के बीच हुए ओजपूर्ण संवाद से भी वीररस की बूँदें टपकती हैं।[4] मर्गदित शत्रुओं की हत्या के उपरान्त भुवनपाल के सा

१- शङ्खपराभव श्लोक ६, १०, ११, १४ -पृष्ठ ४६
२- शङ्खपराभव १६-२० पृ० ७
३- शङ्खपराभव २६-३० पृ० १०
४- शङ्खपराभव ४०-४२, पृ० १४

जाने के समाचार के श्रवण और शङ्ख द्वारा प्रेषित भुवनपाल के हस्तखण्ड के दर्शन से शोकविह्वल वस्तुपाल की हृदयद्रावक मनोदशा देखकर प्रेक्षकों को नायक के प्रति सहानुभूति उमड पडती है। यहाँ करुण रस की धारा में डूबा हुआ भी वस्तुपाल मृतवीर की वीरता को भूल नहीं पाता।[१] उसकी वीरता की अमिट कहानी उसके हृदय-पटल पर स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। शोक-विह्वल वस्तुपाल के मन में शत्रु के प्रति उद्दाम क्रोध भडक उठने के कारण शङ्ख की पराजय के आसार स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। कुछ ही क्षणों के युद्ध के उपरान्त शङ्ख (संग्रामसिंह) के रणभूमि से भाग खडे होने के समाचार भी प्राप्त हो जाते हैं।

इसी प्रसंग में देवगिरि के यादवराज सिंहण पर वीरधवल की विजय का द्योतक श्लोक भी सुनाई देता है।[२] तदनन्तर श्रेष्ठि एवं अन्य नागरिक उत्सव की तैयारी का वर्णन करते सुनाई देते हैं। इसका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है।

जिस प्रकार पार्थपराक्रम व्यायोग में भरत-वाक्य का प्रयोग नायक अर्जुन से न करवा कर नाट्य के अन्त में मञ्च पर प्रविष्ट होने वाले वासव (इन्द्र) से करवाया गया है उसी प्रकार शङ्खपराभवकार ने भी अपने व्यायोग का भरतवाक्य नायक वस्तुपाल के मुख से उच्चरित न करवा कर श्रेष्ठि से करवाया है, जो नाटक के अन्त में दर्शकों के सामने उपस्थित हुआ है।[३]

श्री चिमनलाल डी. दलाल द्वारा सम्पादित पार्थ-पराक्रम-व्यायोग की भूमिका से हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत में लगभग छः सौ नाटक लिखे गये थे। इस नाट्यकोश को पूर्ण करने में गुजरात के नाट्यकारों का भी योगदान रहा है। इन कृतियों में व्यायोगों की संख्या गुजराती नाटककारों की लेखनी से

१– शङ्खपराभव ३६-३८ पृ० १७-१८
२– शङ्खपराभव ६३-६४, पृ० १६.
३– शङ्खपराभव ८१ पृ० २३.
तुलना कीजिए –
पार्थपराक्रम ६१ पृ० २४.

निःसृत अन्य नाट्यभेदों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। इसके प्रमाणस्वरूप यथेष्ट उदाहरण दिये जा सकते हैं, इनमें प्रह्लादनदेव के 'पार्थपराक्रम' तथा हेमचन्द्राचार्य के परमप्रिय शिष्य रामचन्द्र के 'निर्भय भीम' के नाम प्रमुख हैं। गुर्जर-भूमि के कवियों के परिश्रम से प्रसूत व्यायोगों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन गुजरात में दीप्तरसान्वित व्यायोग साहित्य का अच्छा प्रचार था।

भीमविक्रम

तेरहवीं शताब्दी में मोक्षादित्य ने भीम-विक्रम नाम वीररसरञ्जित एकाङ्की की रचना की। इनके स्थिति काल एवं निवास-स्थानादि के विषय में इस एकाङ्की नाटक की प्रस्तावना से जितना कुछ परिचय प्राप्त होता है उसमें अधिक प्रामाणिक सामग्री अद्यावधि और कहीं से उपलब्ध नहीं हो सकी है। तदनुसार भीमविक्रम के रचयिता भीम के पुत्र तथा कवियों में ख्याति-प्राप्त हरिहर कवि के शिष्य थे। उनके पिता श्री भीम का परिचय भी अज्ञात है। ईसोत्तर १५ वीं शती में रचित वल्लभदेव की सूक्तिमुक्तावलि में भीम के नाम से कतिपय श्लोक अवश्य मिलते हैं परन्तु उन्हें बिना किसी छानबीन के निश्चयपूर्वक मोक्षादित्य के पिता भीम की पङ्क्तियाँ मान लेना युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है कि क्या मोक्षादित्य के गुरु हरिहर और शङ्खपराभव-व्यायोग के प्रणेता अभिन्न व्यक्ति हैं?

सौराष्ट्र के प्राचीन पोरबन्दर राज्य में स्थित विक्रम संवत् १३२० के किसी शिलालेख में अङ्कित महाकालेश्वर प्रशस्ति के अनुसार वस्तुपाल तथा उल्लाघराघव कीर्ति - कौमुदी आदि कृतियों के कर्ता गुजराती कवि हरिहर के पिता का नाम भी मोक्षादित्य व्यास था किन्तु डॉ बी. जे सदेसरा के अनुसार यह गौडदेशीय एवं नैषधकार श्रीहर्ष के ही अनुवंशज थे। गुजरातियों का व्यास उपनाम अति परिचित है। उक्त महाकालेश्वर-प्रशस्ति में मोक्षादित्य के साथ भी व्यास उनके कुलनाम के रूप में युक्त है। दूसरे, भीमविक्रम व्यायोग के सम्पादक श्री उमाकान्त प्रेमानन्दशाह डेप्युटी डायरेक्टर, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, एम एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा को इस रचना की दोनों पाण्डुलिपियाँ (Manuscripts) गुजरात से ही उपलब्ध हो सकी हैं जिनमें से एक ओरि--

यन्टल इन्स्टीट्यूट से और दूसरी प्रति विक्रम सवत् १४७२ (सन् १४१६ ईसोत्तर मे तैयार की गई थी) दक्षिणी गुजरात के वलसाड[1] से मिल पाई है। इन बातो के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि भीमविक्रमकार गुजरात के निवासी रहे होंगे। यह भी सभव है कि वस्तुपाल के समकालीन कवि हरिहर सन् १२७५ (ईसोत्तर) मे जीवित रहे हो और तरुण मोक्षादित्य हरिहर की वृद्धावस्था मे उनके शिष्य बन गये हो। ऐसी अवस्था मे शङ्खपराभवकार हरिहर और कवि मोक्षादित्य के गुरदेव का एक ही व्यक्तित्व प्रमाणित हो जाता है। इसी प्रकरण में इस बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि मोक्षादित्य ने हरिहर को "कवि-निवह-धुरन्धर" और हरिहर के समसामयिक कवि सोमेश्वर ने उन्हे "कीर्ति-कौमुदी" मे "कवीना धारशासन" कह कर सम्मानित किया है।

श्री दलाल ने मोक्षादित्य के व्यायोग का शीर्षक "भीमपराक्रम बतलाया है, परन्तु इस नाटक की प्रकाशित प्रति मे यह भीमविक्रम' नाम से अभिहित है। इसी नाम का वीररसप्रधान एकाङ्की शतानन्द सूनु ने भी लिखा था जो त्रिवेन्द्रम-सस्कृत ग्रन्थ-माला (स. १७२) के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुका है। यह अब अनुपलब्ध है। दोनो रचनाओं का वर्ण्य-विषय (भीम द्वारा जरा-सन्धका वध) एक होने पर भी वस्तु विधान (प्लाट) की दृष्टि से इन दोनो रूपको मे महदन्तर है। महाभारत के सभा पर्व के १५ से २४ अध्यायो मे वर्णित विषय का सहारा मोक्षादित्य ने प्रस्तुत व्यायोग मे लिया है। नाटककार ने व्यायोग के लक्षणो के अनुसार महाभारत मे वर्णित लम्बी कथा को संक्षि-

---

१– सम्वत् १४७२ वर्षे शाके १३४७ प्रवर्तमाने भाद्रवा शुद्ध १० दशम्या तिथौ सोमदिन मूलनक्षत्रे धनस्थे चन्द्रे अद्य (दे) ह वलसाडा (ड्या) महाराजधिकार श्री जाईदेव-विजयराज्येप्रमाण श्री वारडजैसाराचकुलप्रतिष्ठितो कायस्थना (ज्ञा) तीय भट्टबुनामुत भाहकालेषा अध्यनार्थं पुस्तिका भीमविक्रम महानाटकस्य व्यायोगो लिखित ।. .
ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट से प्राप्त पाण्डुलिपि में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है।
इतिरिय व्यास श्रीमोक्षादित्यस्य ॥ १ ८ ३ ५
शराष्टरामगौडाक्षौ विक्रमस्यिवत्सरे ।
व्यासेन मोक्षादित्येन व्यायोगोऽयं विनिर्मित ॥

२– भीमविक्रम पृ० ३

कश्चिचत्कृच्छ्रानिकृच्छ्रव्रतकरणकृश शुक्लचैल दधान
स्नानाविक्लिन्नकेश करयुग - विलसद्दर्भकोऽजर्मको्ऽयम् ।
धौतैर्मन्त्रैश्च जुह्वन् ज्वलति हुतवहे हव्यमव्याहतेच्छ
स्त्वम्बोऽय क्षत्रपुत्रा यजति गतसुखस्त्र्यम्बक साम्बुनेत्र ।।[1]

यहा कवि की वर्णन शक्ति भी देखने को मिलती है। जरासन्ध ने उसे पुरुषमेध मे बलिदान के हेतु बन्दीगृह मे बन्द कर रक्खा था। इस राजकुमार की माता और पत्नी मञ्च पर आकर भीम से क्रमश अपने पुत्र तथा पति को आत्महत्या करने मे रोकने के लिये विनय करती हैं। भीम एसा ही करते है और राजकुमार को अन्य बन्दियो को मुक्त करवानेका वचन भी देते हैं। इस स्थल पर भीम का उदात्तचरित निखर उठा है।[2] मरने को तैयार राजकुमार के रक्षणार्थ उद्यत भीम को देखकर भास के मध्यम-व्यायोग के ब्राह्मण कुल के उद्धारक मध्यम-पाण्डव भीम की याद आ जाती है। थोडी देर के लिए करुण रस का आनन्द लेने का अवसर भी सहृदयो को मिल जाता है।

(प्रविश्य सवधूका)
जयश्री - (उपसृत्य पुत्र करेधृत्वा) ताद ।
वीर (अम्ब !) मयेह बहु तपस्तप्त तन्मोक्षणाय ।
जयश्री - ता कहिं भताणय वादा (द) यसि ?
वीर निष्फलतपस्त्वात् । किंच । प्रात किल
निखिलनियतनरपतीना हरतोषाय होमो भविता ।
जयश्री - (साश्रम्) हा वज्झराय कुलणदन । हा सत्व (त्त)
गुणरयण भण्डार ! हा महाराय जयवम्भ । हा अज्जउत्त ।
कहिंसि देवु मे किंकरीए पडिवयण ।
(इति मूर्च्छा नाटयति)[3]

पुत्र-प्रेम-विह्वला माता पहले अपनी मौत चाहती है और पतिव्रता भार्या पति से पहले स्वय मरना चाहती है। इस दृश्य को देख कर भी दर्शको का हृदय

१- भीमविक्रम २१, पृ॰ ६
२- भीमविक्रम २१, पृ॰ ७
३- भीमविक्रम पृ॰ ८

द्रवित हो जाता है। इनके वार्तालाप के प्रसंग में कवि ने प्राकृत पर भी अपने अधिकार का प्रदर्शन किया है।[1]

नान्दी-श्लोक में ही पुराणप्रसिद्ध भक्त प्रह्लाद और भीमाकृति वाले नरसिंह के रूप में अवतीर्ण भगवान् विष्णु की लीलाओं के वर्णन के व्याज से कुशल कवि ने इस व्यायोग में जरासन्ध के अत्याचारों से पीड़ितों की रक्षा करने वाले धीरोद्धत नायक भीमसेन का गुणगान भी किया है।

देवस्याऽनुचरो विरञ्चिजरुषा भूमावभूद् दानवः
पट्पुत्रैः सह पूर्वदे (दे) वतवृतो यो विष्णुना वैरकृत्
तम (मो) विश्वविपु हिरण्यकशिपु हन्ति स्मदोर्लीलया
भूयाद्वो नरकेसरी भवभवध्वंसी स भीमाकृतिः॥[2]

इसके अतिरिक्त कवि के कवित्व के दर्शन, भीम और जरासन्ध के संवाद तथा एक ओर से जरासन्ध की एवं दूसरी ओर से श्रीकृष्ण तथा भीम की सम्मिलित वार्ता में किए जा सकते हैं।[3]

कवि ने वहाँ भी एक नया चमत्कार दिखलाने का यत्न किया है, जहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन और भीम सहित गिरिव्रज में प्रविष्ट होकर हैडम्बेय (घटोत्कच) की सहायता से नगर की रक्षिका, जरा राक्षसी का हरण करने का विचार करते हैं। इस स्थल पर अद्‌भुत और बीभत्स का व्यतिकर भी देखा जा सकता है।[4] जरासंध की राजधानी गिरिव्रज में पहुँच कर श्रीकृष्ण के मुख से जो उस नगरी की शोभा का वर्णन कराया गया है वह भी मोक्षादित्य की काव्य-कला का परिचायक है।[5]

भीमार्जुनौ - कृष्ण ! पश्यपश्य, निजरिपुनगरम्।

१- भीमविक्रम २८-२९ पृ० ८-६.
२- भीमविक्रम, पृ० १.
३- भीमविक्रम ९३-६२, पृ० १९-२०:
४- भीमविक्रम, पृ० १० (जी. ओ. एम.)
५- भीमविक्रम, १४-३१ पृ० ११-१२. (जी. ओ. एम)

कृष्ण - तदिद समकलघवलगृहव्रज गिरिव्रजम् । पश्य
शुक्लाग्रा कलघौतैर्निर्मित-महा-प्रासादपङ्क्तिम्

पितृभक्त घटोत्कच के प्रताप से जरा जैसी भयंकराकृति वाली राक्षसी क्षण भर मे दूसरे दूरवर्ती पर्वत पर पहुँचा दी जाती है।[1] उस वीर के वाक्यो मे वीरता टपकती है। इस नाट्य मे प्राचीन-पद्धति का अनुसरण करते हुए कतिपय विस्मयोत्पादक स्थल भी दिखलाये हैं जिससे इसकी शोभा बढ गई है। यथा -

राजशेखर - चक्रधरधवलौपश्यतम्
रम्याद्वयवयो दुकूलसकलो मुक्ताफलैरुज्ज्वलै-
र्हीरैरव्रिसम सुगन्धिकुसुम श्रीखण्डकस्तूरिक ।
सच्चस्त्राणि निदाणयन् क्रयिकुलार्थिभ्यश्च काम ददत्
धीरो वीर इवापण कलकलध्युन्मत्तलोकैर्वृत ॥

गिरिव्रज पहुँचकर भीम आचार्य राजशेखर के वेश मे मगध की समृद्धि का वर्णन करते हैं। वहाँ के बाजार की किसी वीर से तुलना की गई है।[2]

श्रीकृष्ण और अर्जुन भी चक्रघर और धवल का नाम धर कर नगर मे प्रवेश करते हैं। वे तीनो ब्राह्मण के रूप मे मार्ग मे आने वाली दूकानो को लूटते भी जाते हैं। इस प्रकरण मे उनके मुख से 'सर्वस्व ब्राह्मणस्येदम्' इत्यादि कहलवाकर मोक्षादित्य ने हास्य की सृष्टि करके काव्य के गाम्भीर्य को कुछ हल्का करने का यत्न भी किया है।[3] ब्राह्मण वेशधारी अपने शत्रु-पक्ष के तीन सदस्यो को भूल से अतिथि समझ कर जरासन्ध उनका खूब सत्कार करता है।[4] परन्तु उसका यह भ्रम बहुत समय तक स्थिर नहीं रहता। उनकी पहचान करते समय उसकी तर्क वितर्क पूर्ण मनोदशा का भी कवि ने स्वाभाविक चित्रण किया है।

१- भीमविक्रम, ३१-३२ पृ० १०
२- भीमविक्रम, ३६, पृ० १२
३- भीमविक्रम, ३७, पृ० १२
४- भीमविक्रम ४५-४६ पृ० १५

जरासन्ध - (सखेदम्) तत्रभवन्त के यूयम् ?
राजशेखर - द्विजातयो वयम् ।
जरासन्ध - (सर्वान् सम्यङ् निरूप्य स्वगतम्) नूनममी न
(न) ब्राह्मणा मयि विषयदृष्टयश्च। (प्रकाशम्) भो ! द्विजातय ।
के यूय सत्यमेव प्रवदत न मृषावादिन क्षत्रिया हि ॥[1]

रहस्योद्घाटन के पश्चात् तनातनी के साथ द्वन्द्वयुद्ध आरम्भ हो जाता है । संस्कृत - नाटय के नियमो के अनुसार यहाँ भी यह युद्ध मञ्च पर नहीं दिखलाया गया है । नपथ्य मे युद्ध चलता है और दर्शकों को श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के मुख से इसका विवरण सुनवा दिया जाता है । प्रस्तुत व्यायोगकार ने द्वन्द्व-युद्ध का इतना सूक्ष्म चित्रण किया है कि उससे उनका इस कला में पाण्डित्य स्पष्ट भासित होता है। इस प्रसग मे ओज गुण से युक्त गौडी शैली अपनाई गई है ।[2]

इन स्थल पर दृष्टि पडते ही भास के प्रसिद्ध उत्सृष्टिकाङ्क "उरुभग" की याद आ जाती है । इस अङ्क मे जैसे गदायुद्ध के समय श्रीकृष्ण ने अपनी जघा को हाथ से थपथपाते हुए भीम को सकेत दे दिया था वैसे ही इस रूपक मे भी द्वन्द्व-युद्ध के प्रसग मे केशव ने योद्धानायक को सकेतात्मक वचनो द्वारा जरासन्ध को मारने की चाल बतला दी है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि महाभारत के सभापर्व मे इस घटना के समय श्रीकृष्ण ने सयत एव गुप्त-भाषा मे इस काम को सम्पादित किया जबकि भीमविक्रम-व्यायोग में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट-भाषण हुआ है ।

तुलना कीजिये -

तं राजान तथा क्लान्त दृष्ट्वा राजञ्जनार्दन ।
उवाच भीमकर्माण भीम सम्बोधयन्निव ॥
क्लान्त शत्रुर्हि कौन्तेय लभ्या पीडयितु रणे[3]
पीड्यमानोहि कार्त्स्न्येन जह्यात्जीवितमात्मन ॥

---

१ भीमविक्रम ४०, पृ १६

२- भीमविक्रम ७२ ७५. पृ० २२

३ महाभारत, सभापर्व अध्याय २१ १६-२१ अध्याय २२, ११६-२०

तृतीयः- एष महता समाश्वासितो मारुतिः।[१]

कुम्भौ पारिणतै निपत्य तरसा बाहू समुन्नामित
कन्दर्पोत्थपुरेन विक्रमवशात् क्रौञ्चान्तिके त्वरया।
हत्वैव घनमूर्च्छा विहाय सदय वक्षःस्थ समागत
गान्धारीतनयस्य पाण्डुतनयो नोऽभिमुखो गदा॥

तुलना कीजिये -

कृष्णा-(निःश्वस्य प्रति) पाण्डुनन्दन। किमद्युत्तत इव चेष्टसे।
नाज्ञमतिर्दर्शितोऽपि मतभेदमृते जीवितं मुञ्चति।[२]

प्राचीन युद्ध-पद्धति में ऐसी चालों का सहारा लिया जाता रहा है। इनके यथेष्ट उदाहरण भारतीय साहित्य की वीररस प्रधान रचनाओं में प्राप्त होते हैं। भट्टनारायण के वेणीसंहार में भी ऐसे दृश्य देखने को मिलते हैं।

राक्षसः - (सानन्दमात्मगतम्) कृतं मे यत्नः। (प्रकाशम्) यदि त्वमस्य कथनीयं तदा संक्षेपतः कथयामि। न युक्तं बन्धुजनस्य विस्तरेणावेदयितुम्।

+ + +

राक्षसः - श्रूयताम्।
अस्मिन् कौरवभीमयोर्गुरुगदा - घोरध्वनौ संयुगे
सीरी सत्वर मागतःशिवपुरा - द्वारान्तिके संगरे।
आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना सद्यः समुत्साहिता
मामालोक्य कुरूत्तमः प्रतिकृतिं दुःशासनारिः कृतः॥
युधिष्ठिरः - हा वत्स वृकोदर! (इति मोहमुपगतः)[३]

उन्होंने पाण्डव-पक्ष को अपने पथ से विचलित करवाने के लिये कौरव-पक्ष की ओर से एक राक्षस को भेजकर भीमसेन के मर जाने का झूठा समाचार सुनवाया जिससे वह बन्धुवर्ग थोड़ी देर के लिये शोक सागर में डूब जाता है।

१- उन्मत्ते २४, पृ० ५३-५६
२- सौगन्धिक, पृ० २२
३- वेणीसंहार अङ्क ६, २६, पृ० १४४.

वेणी-संहार में भीमसेन की मृत्यु के झूठे समाचार से राक्षस द्वारा वञ्चिता द्रौपदी अपने पति के पराक्रमों को याद करके रोती है। यहाँ भीमसेन ने जितने भी वीरतापूर्ण कार्य किये थे उनका सङ्कलित-रूप भट्टनारायण ने द्रौपदी के मुख से प्रस्तुत करवा दिया है।

इन व्यायोगों में लड़ने वालों की पारस्परिक दर्पोक्तियाँ भास की कृतियों तथा वेणी-संहार के योद्धाओं द्वारा प्रयुक्त रोषमयी-वाणी से मिलती जुलती है।

भीम - अरे रे भरतकुलकलङ्क ......[1]
दुर्योधन - दुरात्मन् भरतकुलापसद द्यूतदासपाण्डवपशो[1]
नाहं भवानिव विकत्थना प्रगल्भः। किन्तु—
पश्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे
मद्गदाभिन्न-वक्षोऽस्थिवेणिका-भीमभूषणम्।[1]
भास के व्यायोगों से हमारा परिचय हो ही चुका है।

तुलना कीजिये -

जरासन्ध - रे भीम! (स्मृत्वा प्रति) भो यादवकुलशासन!
अतो विजितोऽसि मथुरां सह पुत्रैः सह सीमन्तिनीः।
प्रविश्य पुरीं द्वारिकां दग्धोऽसि पयस्तु वारिधेः॥[2]

इन अंशों को देखने से ऐसा भासित होता है कि परवर्ती व्यायोगकारों ने महाभारत के विशिष्ट पात्रों का चरित्रचित्रण करने वाले भास एवं भट्ट-नारायण जैसे नाटककारों की कृतियों से प्रेरणा लेकर अपनी कृतियों में इनके कार्यकलापों का विशदीकरण करने का प्रयत्न किया है। इसके प्रमाणस्वरूप उपर्युल्लिखित सौगन्धिकाहरण, भीमविक्रम इत्यादि व्यायोगों के पात्रों का सम्भाषण पर्याप्त होगा।[3]

श्रीकृष्ण की गुप्त सहायता से "भीम-विक्रम" व्यायोग के नायक भीम-

---

१- वेणीसंहार अङ्क ५ श्लो २४, पृ० १२७ (राम प्रताप वाले द्वारा सम्पादित)
२- भीमविक्रम ५९-६० पृ० १८
३- वेणीसंहार अङ्क ५, पृ० १४४

युद्ध मे विजयी होते हैं और पराजित जरासन्ध का सम्पूर्ण राज्य उनके हाथ मे सहदेव द्वारा सौंप दिया जाता है। साथ ही सहदेव की अनुजा भी उन्हें सौंप दी जाती है। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुकूल मङ्गल-गीत-वाद्य ध्वनि से गुञ्जित वातावरण मे श्रीकृष्ण के आशीर्वचनों एव कल्याणकारी भावनाओ मे ओतप्रोत भरत-वाक्य के साथ एकाङ्की का अन्त होता है जो कवि के भाषा-सौन्दर्य का सुन्दर नमूना है।[1]

एरलाताय के पुत्र कृष्ण कवि ने विक्रान्त राघव (जिसमे सस्कृत छाया के साथ प्राकृत का प्रयोग है), नैयायिक सदाशिव ने प्रचण्ड भैरव व्यायोग (जिसमे हिरण्यगर्भ और पुण्डरीक का श्मशान मे युद्ध वर्णित है, इसी में भैरव के मञ्च पर आ जाने से यह युद्ध भयकर रूप धारण कर लेता है) और महाभारत का आश्रय लेकर गोदावरी नदी के तट पर स्थित नन्दपुर मे उत्पन्न गोविन्द कवि ने विनतानन्द व्यायोग (जो प्रचण्ड गरुड भी कहलाता है) लिख कर इस परम्परा को आगे बढाया। श्री दलाल ने पार्थपराक्रम की भूमिका मे गोविन्द कवि के विनतानन्द तथा प्रचण्डगरुड को पृथक् पृथक् कृतियाँ माना है परन्तु श्रीयुत कृष्णमाचार्य ने अपने लौकिक (सस्कृत) साहित्य के इतिहास मे दोनो रचनाओ को एक ही समझा है। गोविन्द कवि के पिता शेषदत्तेश्वर थे जो अनन्तसुत नाम से विख्यात थे। गोविन्द ने इस व्यायोग मे गरुड द्वारा अपनी माता विनता के लिये अमृत का लाना वर्णित है। यह कृति अभी प्रकाशित नहीं हो पाई है। इसके उपरान्त कौण्डिन्य गोत्र के आर्य - सूर्य के विजयविक्रम व्यायोग का नाम भी सुना जाता है। इसमे अर्जुन द्वारा जयद्रथ के वध का वर्णन है। भारद्वाज गोत्रोद्भव वामशास्त्री पद्मनाभ के पुत्र कवि पद्मनाभ के त्रिपुरविजय का उल्लेख प्राप्य है। इनमे शिव और त्रिपुर का युद्ध अङ्कित था।

प्राचीन एव मध्ययुगीन कवियो की कृतियो के पर्यवेक्षण से मालूम होता है कि प्राचीन कविवृन्द कविता के बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य के चित्रण मे दक्ष हैं किन्तु उत्तरकाल के रसिक कवियों की कृतियो

१- सौगन्धिका० ८८ ई० पृ० २६ २७

में कला एवं विद्वता अधिक प्रदर्शित की गई है। उनकी काव्यकृतियाँ चाहे वे श्रव्य हो या दृश्य, अलंकारों, छन्दों तथा वाग्जाल मे जकड़ी सी दिखाई देती हैं। उनकी नाट्यकृति भाण हो या प्रहसन, अथवा व्यायोग, भाषा प्राकृत हो या संस्कृत, सबमे कवि की पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है।

प्राकृत भाषाओं का नाटकीय प्रयोग संस्कृत के अभिनेय वाक्यों में उपलब्ध होता है भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में धीरोद्धत एवं धीर प्रशान्त नायक, राजा रानी, गणिका, श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि के लिये संस्कृत तथा श्रमण, तपस्वी, भिक्षु चक्रधर भागवत, तापस, उन्मत्त, बाल, नपुंसक तथा नीच जाति के लोगों के लिये प्राकृत बोलने का निर्देश किया है। एकाङ्की रूपकों में भी भाण, वीथी, प्रहसन आदि मे प्राकृत बोलने वाले पात्रों का बाहुल्य होता है। परन्तु व्यायोगों में स्त्री पात्रों की तरह ही प्राकृत भाषियों का भी प्राय (लगभग) अभाव-सा रहता है। अत यहाँ प्राकृत साहित्य के रसास्वाद लेने का पाठकों को बहुत कम अवसर मिलता है। फिर भी प्राचीन और पश्चाद्वर्ती कवियों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि वे अपने बौद्धिक-प्रदर्शन से ही प्रेक्षकों अथवा पाठकों को मुग्ध करने का यत्न करते हैं। अत ऐसे कवियों के रूप-काव्य अधिकाधिक कृत्रिम, कठिन एवं जटिल बन गए हैं। समाज में ऐसी कृत्रिम वस्तुएँ आज की भाँति पहले भी हास्य की सृष्टि करने मे समर्थ थीं। कठिन एवं समस्त वाक्यों के उच्चारण में वक्ताओं की असफलता देख श्रोता को हँसी आए बिना नहीं रहती। धर्मसूरि ने नटी के मुख से यह तथ्य निकलवाया है।[1] इसका खण्डन करते हुए कवि ने चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया है।[2] वास्तव में इनकी भाषा जटिल होने पर भी इसके कतिपय अंश बड़े ही प्रभावोत्पादक हो गए हैं। इनकी भावाभिव्यञ्जना की पद्धति स्तुत्य है।

हम पहले ही कह आए हैं कि ११ वीं शती के अन्तिम तथा १२ वीं

१- नटी - कथमस्माकमनतिमात्ररमणीयो रूपकाभिनय एतेषां महात्मनां श्लाघास्पदं भविष्यति। नरकासुरविजय

२- नरकासुरविजय (प्रस्तावना)

शताब्दी के आरंभ में विदेशियों (मुसलमानों) के आक्रमणों से त्रस्त एवं पतनोन्मुख भारतीय जनता को पुनरुत्साहित करने तथा समाज का सुधार करने के लिये ही व्यायोगों तथा अन्य सामाजिक रूपकों (एकाङ्कों) की रचना का प्रारम्भ किया गया था। प्रस्तुत प्रबंध के अंतिम अध्याय के अवलोकन से विदित होगा कि आज भी पत्र पत्रिकाओं में इस प्रकार के एकाङ्क रूपक प्रकाशित होते रहते हैं। यथा श्री कैलासनाथ विजय व्यायोग।

उत्सृष्टिकाङ्क तथा वीथी

उत्सृष्टिकाङ्क

रूप निर्देश

भरत तथा उनके अनुगामी नाट्यालोचकों के अनुसार उत्सृष्टिकाङ्क करुणरस प्रधान एकाङ्की रूपक होता है।[1] इसके अपवादस्वरूप शारदातनय द्वारा उल्लिखित कोहलाचार्य तथा आञ्जनेयाचार्य[2] जैसे कुछ साहित्याचार्यों के अनुसार इसमें क्रमशः दो और तीन अङ्क होते हैं। मुख्य रस तथा इसकी कथा वस्तु के विषय में नाट्यालोचकों में मतैक्य है। शास्त्र-सम्मत लक्षण के अनुसार अङ्क का इतिवृत्त प्रख्यात भी हो सकता है और उत्पाद्य भी। इसमें दिव्य पुरुष नहीं होते। भरत के पश्चाद्वर्ती नाट्यमीमांसकों ने भी अपने लक्षण ग्रन्थों में 'पुरुषाणी' 'पुंभि" आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा इसमें देव व्यतिरिक्त

1- ना. शा. अध्याय १८, ९४-९६, पृ० ४४२-४४३.

2- एकाङ्कोऽत्र भवेद् द्वाङ्कावित्येकोहल: ।
व्यायोगवदेवकुर्वन् प्राहुरङ्कत्रयं यथा ॥
भा० प्र० अष्टम अधिकार – पृ० २५१-५२.

मानव के नायक होने का विधान किया है।[1]

विभिन्न आचार्यों के मत

वृत्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विचारकों में थोड़ा मतान्तर दृष्टिगत होता है। भरत एवं सागरनन्दी के अनुसार इसमें भारती ही प्रयुक्त होनी चाहिये शेष वृत्तियाँ वर्जित होती हैं - "नाना व्याकुलचेष्ट सात्वत्यार-भटी कैशिकीहीन । भावप्रकाश को देखने से पता चलता है कि अङ्क रूपक में कैशिकी वृत्ति निषिद्ध है और सात्वती एवं आरभटी प्रयुक्त होती है। शारदा-तनय के अनुसार कभी कभी इसमें भयानक रस भी रहता है।[2]

अङ्क में भाण के समान ही मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और दस लास्याङ्ग भी होते हैं[3], परन्तु इसमें भाण, प्रहसन एवं वीथी में उपलब्ध शृंगारमय जीवन का चित्र दुष्प्राप्य ही रहता है। यहाँ तो संसार का अनित्य और दुःखाक्रान्त रूप ही चित्रित होता है। मानवजीवन के यथार्थ दर्शन यहीं होते हैं। युद्धोपरान्त स्त्रियों के मुख से वैराग्योन्मेषिणी वाणी सुनने को मिलती है। दैव को उपालम्भ, आत्म-निन्दा, अनुशोचन रूप, स्त्रियों के विलाप आदि का इसमें आधिक्य मिलता है।

महान् विपत्तियों में पड़ जाने पर भी उत्तम तथा मध्यम लोगों की पुन

१- प्रख्यात-वस्तु विषयोऽप्रख्यातविषयः कदाचिदेव ।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः शेषैरन्यैर्भवेत्पुंभिः ॥
करुणरसप्राय, प्रवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च स्त्रीपरिदेवनाबहुल
नानाव्याकुलचेष्टः भारती कैशिकीहीनोऽङ्कः ॥
ना द ८२ ८५ पृ० २३६ सागरनन्दी। (भरतकोश से)

२- कैशिकी वृत्तिहीनश्च स्यात्सात्वत्यारभटीयुत ।
क्वचिद्भयानकरसः .. भा० प्र० अष्टम अधिकार - पृ० २५१-५३

३- उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यात वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ।
रसस्तु करुण स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ।
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ॥ दशरूपक, प्रकाश ३, ७० ७१ पृ० ७६.

उन्नति हो सकती है। इसलिये मानव को हर परिस्थिति में धैर्य एवं चित्त की स्थिरता का परित्याग नहीं करना चाहिये। उत्सृष्टिकाङ्क में उपर्युक्त विलापादि से परिपूर्ण कथा विषादग्रस्त लोगों को उत्साह प्रदान करने के लिये ही प्रस्तुत की जाती है। युद्ध भी वचनों द्वारा ही होता है। यहाँ रूपककारों को कल्पना के बल से प्रख्यात इतिवृत्त का विस्तार करने की छूट है। विश्वनाथ भी इसमें जयपराजय, वाक्कलह तथा निर्वेदवचनों का प्राधान्य स्वीकार करते हैं।[1]

अङ्क रूपक के अवान्तर विभागों का द्योतक भी होता है। रूपकाङ्ग के पर्यायवाची और रूपक विशेष के द्योतक शब्द में वर्णसाम्य से संभावित भ्रान्ति के निवारणार्थ दशरूपक के टीकाकार धनिक[2] तथा विश्वनाथ ने इसे अङ्क के स्थान पर उत्सृष्टिकाङ्क कहा है। शोक-ग्रस्त उत्सृष्टिकाङ्क नारियों के उत्क्रम-णोन्मुख जीवन का चित्रण होने के कारण हेमचन्द्र[3] तथा रामचन्द्र[4] ने अपने नाट्यशास्त्रीयग्रंथों में दस रूपक को उत्सृष्टिकाङ्क ही कहा है और आचार्य विश्वनाथ ने भी प्रकारान्तर से इसकी पुनरावृत्ति की है।[5] साहित्य दर्पणकार के मतानुसार इसमें सृष्टि उत्क्रान्त अथवा विपरीत रहती है। इस प्रसङ्ग में उनके द्वारा प्रयुक्त 'विपरीत' शब्द से यह व्यंजित होता है कि संस्कृत साहित्य में प्रचलित नाट्य सिद्धान्तों के अपवादस्वरूप उत्सृष्टिकाङ्क का अन्त दुःखमय भी हो सकता है। भारतीय एवं पाश्चात्य रूपक-साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि प्राच्य काव्य-लोक में पश्चिमी दुःखान्त नाटक का स्थानापन्न विप्रलम्भ-शृंगार प्रधान प्रेक्ष्यश्राव्य माना जाता है, संभोग शृंगार के विपरीत विप्रलम्भ शृंगार में नायक नायिका से मिलने में असफल रहता

१– भाणवत्संधि-वृत्त्यङ्गान्यस्मिन् जयपराजयौ।
युद्धं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु॥ सा द ६, २५०–५२ पृ० ४४०.

२– उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम्।
दशरूपक, तृतीय प्रकाश, धनिकावलोक –पृ० ७६

३– उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्य स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्त। हेमचन्द्र काव्यानुशासन (टीका) अध्याय, ८, पृ० ३८८

४– उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्य स्त्रियः ताभिरङ्कितत्वाद् उत्सृष्टिकाङ्कः। ना द पृ० २३७

५– .. उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः। सा द ६ पृ० ४४०.

अब तक के शोध के अनुसार जिन उत्सृष्टिकाङ्कों का पता चल सका है उनका उल्लेख प्रथम अध्याय में हो चुका है।

उनमें से प्रथम तीन (उरुभङ्ग, कर्णभार एवं दूतघटोत्कच) तो आदि-नाटककार भास कवि की रचनाएँ हैं और शेष के प्रणेताओं के नाम अज्ञात हैं। इनके प्रणयन का भी निश्चित ज्ञान अब तक नहीं हो पाया है। शर्मिष्ठा-ययाति को आचार्य विश्वनाथ ने अङ्क के उदाहरणस्वरूप साहित्य-दर्पण में तथा 'करुण कुरंगा' को शिङ्गभूपाल ने रसार्णव सुधाकर में उद्धृत किया है। दर्पणकार का समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है और शिङ्गभूपाल भी इनके ही समकालिक बतलाए जाते हैं। अतः अनुमानतः ये इन आचार्यों से पूर्व की कृतियाँ रही होंगी। अतः उनका मध्ययुगीन होना स्पष्ट है।

महाभारत की उरुभङ्ग, कर्णभार और दूतघटोत्कच इन तीन एकांकियों का उपजीव्य है। इन रूपकों का वर्गीकरण भी संस्कृत साहित्य की एक विवादमूलक समस्या रही है। श्री वाचस्पति जी गैरोला इन तीनों ग्रन्थों को व्यायोग की कोटि में रखते हैं। कारण इनमें अङ्क के भी लक्षण घटित होते हैं और व्यायोग अथवा व्यायाम के भी। इन रूपकों की व्यायोग की चर्चा करते समय सांशयिक (संदिग्ध) रूपकों की कोटि में रखने का सुझाव दिया गया है। अङ्क एवं व्यायोग के लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उप-र्युल्लिखित रचनाओं के सम्यगवलोकन से ज्ञात होगा कि नाट्य रचना विधान की दृष्टि से ये ग्रन्थ उत्सृष्टिकाङ्क के अधिक निकट प्रतीत होते हैं।[1] श्री पुसालकर जैसे बहुत से अन्य विद्वानों ने भी इन संशयप्रद रूपकों को व्यायोग न मानकर अङ्क ही माना है।[2]

१– ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।
हीनोगर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः ॥　सा द ६ २३१ २३, पृ० ३५५

२– उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ।

... च वाचा ... निर्वेदवचनैः वह ॥　सा द ६, २५०-५२ पृ० ३५८

व्यायामस्तु नियुद्धं च ... शरीर

काव्यानुशासन, अध्याय ८ पृ० ३८६ (हेमचन्द्र)

उरुभङ्ग

भास का ऊरुभग उत्सृष्टिकाङ्क का सर्वोत्तम दृष्टान्त माना जा सकता है। इसकी कथा महाभारत के शल्य पर्व के अन्तर्गत गदायुद्ध पर्व से ली गई है। इस रूपक मे अर्जुनतनय अभिमन्यु के वध के प्रतिशोधस्वरूप की गई प्रतिज्ञा के अनुसार महाभारत युद्ध मे भीम द्वारा गदा प्रहार मे दुर्योधन की जङ्घा को चकनाचूर कर देने की घटना प्रदर्शित की गई है। इसका आरम्भ सूत्रधार के क्षत्रियशरीरसकुल रणभूमि के वर्णन मे होता है[1] और यही दुर्योधन-भीम के गदायुद्ध का सकेत भी मिल जाता है। उक्त गदायुद्ध का वर्णन तीन सैनिको द्वारा करवाया गया है जिसे हम विष्कम्भक[2] की सज्ञा दे सकते हैं। यही युद्ध-क्षेत्र तथा क्षत्रियो के विनाश का विस्तृत विवरण भी सुनने को मिलता है। यह घटना सामन्तक[3] पञ्चक नाम स्थान पर घटित है जिसका प्रमुख कारण दुर्योधन है।

सर्वे - अहो नुखलु निहत पतित-गज - तुरग - नर-रुधिर - कलिलभूमि-प्रदेशस्य विक्षिप्तवर्मचर्मातपत्र - चामर - तोमर - शरकुन्त कवचकबन्धादि-पर्याकुलस्य - शक्तिप्रासहाटकभिन्दिपाल शूलमुसलमुद्गरवराहकरण - कणप-कर्पण शङ्कुप्रासि गदादिभिरायुधैराकीर्णस्य समन्तपञ्चकस्य प्रतिभयता।

यहा तत्कालीन प्रतिद्वन्द्विता की चमत्कारपूर्ण बातो का चित्रण है, जिन्हे भीम अपने दाव-पेंचो द्वारा सफलतापूर्वक नष्ट कर देता हैं।

महाकवि भास ने अपने कवित्व के बल से महाभारत की गदायुद्ध की कथा को परिवर्तित कर दिया है। प्रस्तुत नाट्यात परिवर्तनो पर एक दृष्टि डाल लेना अप्रासङ्गिक न होगा। महाभारत मे सघर्ष के समय अर्जुन छल से भीम को उरुभङ्ग करने का सकेत देते हैं। वहा दुर्योधन[4] भगवान् कृष्ण को अर्जुन की इस चाल की सूचना देता सुना जाता है परन्तु एकाङ्की मे इस

१- उरुभङ्ग पृ० ४

२- उरुभङ्ग पृ० ८

३- उरुभङ्ग पृ० २४

४- प्रतिज्ञात हि द्यूतकाले धनञ्जय। ऊरू भेत्स्यामि ते युद्धे गदयेति सुयोधनम्॥
महाभारत –शल्यपर्वणि – गदायुद्ध पृ० ४०६

रहस्योद्घाटन का पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण पर छोड़ दिया गया है। इस महान् व्यक्ति को कोई कुछ कह नहीं सकता। श्री कृष्ण का संकेत पाकर भीम अपने मनोरथ की पूर्ति करता है।

> भूमौ पाणितलं निघृष्य तरसा बाहू प्रमृज्याधिकं
> मन्दष्टोष्ठपुटेन विक्रमबलात् क्रोधाधिकं गर्जता।
> त्यक्त्वा धर्मघृणां विहाय समयं कृष्णस्य संज्ञासमं
> गान्धारीतनयस्य पाण्डुतनयेनोर्वोर्विमुक्ता गदा ॥[1]

प्रस्तुत नाटक में हम द्वैपायन (व्यास) और विदुर को गदायुद्ध के दर्शक के रूप में पाते हैं। इन पात्रों को यहाँ रखने में कवि का मुख्य उद्देश्य था, इनके द्वारा भीम की निर्दोषता सिद्ध करवाना। ये गुरुजन इस सम्बन्ध में मौन रहते हैं। व्यास दुर्योधन के घायल होते ही घटनास्थल त्याग देते हैं। और विदुर लोहू-लुहान मस्तक वाले भीम को देख अपनी आँखों में आँसू भर कर उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं।

तृतीय — एष रुधिरपतनद्योतिताङ्ग निहतन्त कुरुराज दृष्ट्वा
समुत्पतितो भगवान् द्वैपायन ।[2]

महाभारत में इस प्रसङ्ग की कहीं चर्चा नहीं मिलती। युद्धोपरान्त रूपक में गान्धारी, धृतराष्ट्र और अन्तःपुर के अन्य सदस्य बालक दुर्जय के साथ सामन्तपञ्चक पहुँचते हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण के आदेशानुसार पाण्डव कौरवों के सन्तप्त परिवार के प्रति समवेदना प्रकट करने के लिये हस्तिनापुर जाते हैं।

इस उत्सृष्टिकाङ्क रूपक में शोकातुर कौरवों एवं पाण्डवों के गुरुजनों तथा स्त्रियों के घटनास्थल पर पहुँच जाने से कवि को उनकी स्वाभाविक मनोभावनाओं के अनुभव का अवसर मिल जाता है। स्त्रियों की स्वामिभक्ति, दुर्जय जैसे शिशुओं की मृत्यु-सी भयङ्कर वस्तु से अनभिज्ञता, पुत्र की मातृ-

---

१- उरुभङ्ग २४, पृ० ५६
२- उरुभङ्ग पृ० ५७.

पितृ भक्ति, धायल दुर्योधन की पुत्र को गोद म बैठाने मे करुणाजनक असमयता के वर्णन म कवि की प्रतिभा फूट पडी है। करुण प्रधान कृति होने के कारण यहाँ काव्य के मधुर रूप के दर्शन होते हैं। इस दृश्य मे दुर्योधन के प्रति प्रेक्षक की सहानुभूति उमड पडती है।

धृतराष्ट्र – भो कष्टम् ।
वञ्चना निहत श्रुत्वा सुतमद्याहवे मम ।
मुखमन्तर्गतस्वाक्षमन्धमन्धतर कृतम् ॥

+ +

राजा भो कष्टम् । कष्टम् । यन्ममापि स्त्रियो रुदन्ति ।
पूर्वं न जानामि गदाभिघात रुजामिदानीं तु समर्थयामि ।
यन्मे प्रकाशीकृत - मूर्धजानि रण प्रविष्टान्यवरोधनानि ॥

+ + +

बलदेव — अये इयमत्रभवती गान्धारी ।
या पुत्रपौत्र - वदनेष्वकुतूहलाक्षी
दुर्योधनास्तमित - शोकविपत्ति - धैर्या ।
अस्त्रैरजस्रमधुना पतिधर्म - चिह्न—
मार्द्रीकृत नयन - बन्धमिद दधाति ॥

+ + +

धृतराष्ट्र – एहि पुत्र । अभिवादयस्व माम् ।
दुर्योधन – अयमागच्छामि (उत्थान रूपयित्वा पतति)
हाधिक् । अय मे द्वितीय प्रहार । कष्ट भो ।
हृत मे भीमसेनेन गदापात - कचग्रहे
समुद्धयेनाद्य गुरो पादाभि - वन्दनम् ॥
दुर्जय ताद । अह गच्छामि (उपसृत्य) ताद । कहि सि ।
दुर्योधन अये अप्यत्यागत । सर्वावस्थाया हृदय सनिहित
पुत्र स्नेहो मा दहति । दुर्न
दुखानाम - नभिज्ञोयो ममाङ्क - शयनोचित ।
निर्जित दुर्जयो दृष्ट्वा किन्तु मामभिभाषिति ॥
दुर्जय अह पि दु दे अङ्क उववि सामि (अङ्कमारोहति)
दुर्योधन (निर्वाय) दुर्जय ! दुर्जय ! भो कष्टम् ।

हृदय – प्रीतिजननो यो मे नेत्रोत्सव स्वयम् ।
सोऽय काल - विपर्यच्चिन्द्रो वह्निरत्वमागत ॥[1]

महाभारतगत कथा के अनुसार युद्ध के प्रसङ्ग मे किये गये छल को याद करके दुर्योधन श्रीकृष्ण पर उबल पडता है । पर तु भास ने उसका चरित्र यहाँ बिल्कुल बदल दिया है । महाभारत मे अश्वत्थामा रात्रि म पाण्डवो का विनाश करने की घोषणा करता है तब दुर्योधन खूब प्रसन्न होता है। किन्तु नाटक मे वह उस इस दारुण कम से रोकता है। उक्त एतिहासिक महाकाव्य म दुर्योधन रात्रि युद्ध के परिणामस्वरूप द्रौपदी के पञ्चपुत्रो के वध का समाचार सुन कर मर जाता है। इस दृश्य काव्य मे रात्रि-युद्ध के लिये अश्वत्थामा के प्रस्थान करने से पूव ही वह अपने प्राण त्याग देता है।

दुर्योधन को हम उरुभङ्ग का नायक तो नही कह सकते, परन्तु यहाँ वह महाभारत एव भट्टनारायण के वेणीसहार के धीरोद्धत[2] नायक के रूप में अन्त तक नही रहता।

पहले हम दुर्योधन को प्रतिनायक के रूप म तन मन मे पाते हैं, परन्तु भीम द्वारा उरुभञ्जन के साथ साथ उसका मिथ्या दप भी चूर हो जाता है और महाभारत का शठ दुर्विनीत तथा अहङ्कारी दुर्योधन नाटककार की प्रतिभा के प्रताप मे निता त उदात्त एव शौय तथा पराक्रम के जीते जागते प्रतीक के रूप म उपस्थित होता है।[3]

मृत्यु से पूव वीरगति को प्राप्त करने वाले एक आदश योद्धा की तरह वह भाषण करता है।

राजा – मातर्व ! मातर्व ! त्वमपि शृणु ।
भिन्ना मे भृकुटी गदा निपतितैर्व्यायुद्ध - कालोदितै—
वक्षस्युत्पतितै प्रहाररुधिरैरर्घ्याभिकाशोद्धृत ।

---

१ उरुभङ्ग ७ ४३ पृ० ६०-६६
२– मायापर प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठ ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत कथित ॥ सा द तृतीय परिच्छेद पृ ३३
३– अविकत्थन क्षमावानतिगम्भीरो महासत्व ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रत कथित ॥ सा द तृतीय परिच्छेद पृ० ३२

परयमौ प्रणकाञ्चनाङ्गदवरौ पर्याप्त - शोभा - भुजौ
भर्ता ते न पराङ्मुखो युधि हृत किं क्षत्रिये । रोदिषि ॥[१]
राजा पौरवि ! त्वमपि शृणु
वेदोक्तैर्विविधै – र्मखैरभिमतैरिष्ट धृता बान्धवा
शत्रूणामुपरिस्थित प्रियशताश्नो सत्रय सश्रिता
युद्धे ऽष्टादश वाहिनी नृपतय सन्तापिता निग्रहे
मान मानिनि ! लीक्ष्य मे नहि रूदन्त्येवविधाना क्रिया: ।।

अपनी माता के प्रति उसकी भक्ति के उद्‌गार प्रशसनीय हैं। क्रोध मे पाण्डवो का नाश करने को उद्यत बलराम को शान्त करने के लिये उसके हृदय से निकले हुये भाव भी मार्मिक हैं। इस प्रकार दुष्ट दुर्योधन एक सज्जन का रूप धारण कर प्रेक्षकों के हृदय मे अपने लिये दया का भाव जागरित करने मे पूर्ण सफल होता है। उसका वैर भाव पश्चात्ताप म परिवर्तित हो जाता है।

बलदेव - अहो वैर पश्चात्ताप सवृत ।।[२]

दुर्योधन के अतिरिक्त धृतराष्ट्र गान्धारी, मालवी, पौरवी, दुजय आदि अन्य पात्रो के चरित्र विन्यास मे भी नाटककार ने पर्याप्त कौशल प्रदर्शित किया है। इन मुख्य पात्रों के सिवाय युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, द्वैपायन, विदुर आदि पुरुषो का स्थान-स्थान पर नामोल्लेख - मात्र आता है। हाँ, बलराम एव अश्वत्थामा का व्यक्तित्व भी आने मे महत्वपूर्ण दिखलाया गया है। अश्वत्थामा का चरित्र एकाङ्गी विदित होता है। उनमे केवल शौर्य प्रदीप्त है।

स्फुटित-कमल-पत्र-स्पष्ट विस्तीर्ण-दृष्टी
रुचिर-कनक-यूप - व्यायतालम्ब-बाहु
सरभस भगमुग्र कार्मुक कर्षमाण
सदहन इव मेरू: शृग-लग्नेन्द्र-चाप: ।।[३]

वैराग्नि अभी तक उसके हृदय से शान्त नही हो पाई है। वह महा-

१- उरुभङ्ग ५१-५२ १०७-११०.
२- उरुभङ्ग पृ० ११४
३- उरुभङ्ग ५६, पृ० ११८

भारत-युद्ध के यज्ञ में पाण्डवों की अन्तिम आहुति डाल कर इसकी इति करना चाहता है। उसकी बातों से अविनय टपकता है। दुर्योधन के विग्रह समाप्ति की राय देने पर भी वह अपने निश्चय को नहीं छोड़ता और उसकी भर्त्सना करता है।

राजा मा भवानेवम् ।
सयुगे पाण्डु-पुत्रेण गदा-पात कचग्रहे ।
समभूरुद्वयेनाऽऽस्दर्पोऽपि भवतो हत ॥[1]

बलराम का रूप अपेक्षाकृत अधिक प्रशान्त है। वे भी दयाहीन, क्रोधी बतलाए गए हैं परन्तु उनका क्रोध कपट-युद्ध के फलस्वरूप भड़का है। अत इससे उनकी न्यायप्रियता में कमी नहीं आती। उन्हें अपने शिष्य के युद्ध-कौशल पर अभिमान है। उनके क्रुद्ध रूप का कवि ने उपमालंकार की सहायता से निम्नाङ्कित पद्क्तियों में स्वाभाविक चित्र खींच कर रख दिया है।

प्रचलललितमौलि क्रोधताम्रायताक्षो
भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम् ।
असित – तनुविलम्बिस्रस्त-वस्त्रानुकर्षी
क्षितितलमवतीर्ण परिवेषीव चन्द्र ॥[2]

अर्थात् —

देखो ये बलराम चले आ रहे हैं। क्रोध के कारण इनकी लम्बी लम्बी आँखें लाल हो गई हैं, और सिर तेजी से हिल रहा है। इनके गले में पड़ी माला की सुगन्ध से भँवरे उसके आस पास मँडराकर उसे काट रहे हैं। भँवरों को हटाने के लिये माला को इन्होंने कुछ टेढा कर लिया है। ये अपने नील वस्त्र को जो जमीन पर लग रहा है समेटते हुए चले आ रहे हैं। ऐसा दिखाई देता है जैसे परिवेष (मण्डल) से युक्त चन्द्रमा ही पृथ्वी-तल पर उतर आया हो।

प्रस्तुत करुणाप्रवण एकाकी में कवि ने इन वीरों के मुख से दर्पोक्तियाँ निकलवाकर कारुण्य के साथ साथ वीररस की धारा भी प्रवाहित की है। इस

१- ऊरुभङ्ग ६१ ६२ पृ० १३२
२- ऊरुभङ्ग २६ पृ० ६०

नाट्य में आए हुए करुण दृश्यों का अवलोकन हम ऊपर कर चुके हैं। नाटक के आरम्भ में युद्ध-भूमि के चित्रण के समय भयानक एवं बीभत्स रस के भी यत्र-तत्र दर्शन होते हैं जिनका पढ़ कर, वेणीसंहार के कतिपय दृश्यों की याद आ जाती है।

> एते परस्पर – शरैर्हृतजीविताना
> देहैं रणाजिरमही समुपाश्रितानाम्।
> कुर्वन्ति चात्र पिशितार्द्रमुखा विहङ्गा
> राज्ञां शरीरमिथिलानि विभूषणानि ॥[1]

और भी —

> प्रथम – रुधिरसरितो निस्तीर्यन्ते हतद्विपसङ्क्रमान्
> नृपतिरहितं सस्तं सूतैर्वहन्ति रथान् हया।
> पतितशिरसः पूर्वाभ्यासाद् द्रवन्ति कबन्धका
> पुरुषसहिता मत्ता नागा भ्रमन्ति यतस्ततः ॥[2]

प्रस्तुत उत्सृष्टिकाङ्क का सारा कथा-सूत्र केवल एक ही घटना पर केन्द्रित है और वह है भीम द्वारा गदायुद्ध में दुर्योधन का उरुभञ्जन। उरुभग-क्रिया से पूर्व के सारे सवाद एवं क्रिया-कलाप इसी दृश्य की ओर बढ़ने में सहायक हैं। एक ही अङ्क में छियासठ श्लोकों तथा गद्यमय भाषा में कवि ने महाभारतीय कथा को परिवर्तित कर निजी कल्पना-शक्ति से प्रतिपाद्य विषय को चारुतर बना दिया है। डॉ सुशील कुमार दे के शब्दों में इसके एक ही अङ्क में श्लोकों का बाहुल्य भी इसका वैशिष्ट्य है।[3]

इसके अतिरिक्त भास ने ही "कर्ण-भार" नामक एक लालित्य-पूर्ण एकाङ्की की रचना करके संस्कृत में अङ्क-साहित्य को सम्पन्न किया है। इस

१– उरुभङ्ग २७, पृ० १६ वही–१० पृ० २६

२– उरुभङ्ग के इस प्रसंग के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखिये वेणीसंहार – अङ्क ४, १-३ पृ ८२-८३

३– and the play is also remarkable in having as many as six*ysix stanzas in one act alone

De and Das Gupta, History of Sanskrit Literature Vol I. [page. 113,

उत्सृष्टिकाङ्क में कर्ण-द्वारा ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र को कवचकुण्डल देना वर्णित है। यहाँ कर्ण के उज्ज्वलचरित्र एवं उसकी दानप्रियता का प्रभावोत्पादक निरूपण किया गया है। महाभारत के आदि पर्व में इन्द्र को कवच-कुण्डल काट कर देने का वृत्तान्त मिलता है जिसके कारण उसका नाम वैकर्तन पड गया।

> तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थं भूतभावन ।
> कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युति ॥
> उत्कृत्याविमनास्स्वाङ्गात् कवचं रुधिरस्रवम् ।
> कर्णस्तौ च द्वौ छित्वा प्रायच्छत्स कृताञ्जलि ॥[1]

इस कथा का संकेत वन-पर्व और शान्ति-पर्व के कुछ स्थलों में भी प्राप्त होता है। महाभारत के विभिन्न पर्वों में बिखरी हुई कथाओं को कवि ने इस नाटक में सङ्कलित करके मनोरम रूप दे दिया है। महाभारत के वन पर्व में इन्द्र द्वारा भिक्षुक के रूप में कवच कुण्डल की याचना का वर्णन है। इस समय पाण्डव वनवास की स्थिति में थे। सूर्यदेव यहाँ कर्ण को स्वप्न में कवच कुण्डल दान न करने का परामर्श देते है।

> सूर्य — यद्येव शृणु मे वीर वरं ते सोऽपि दास्यति ।
> शक्ति त्वमपि याचेथा सर्वशस्त्र-विबाधिनीम् ॥[2]

तदनुसार कर्ण ने शक्ति-लाभ के बिना कवच न देने का निश्चय कर लिया था। वह शक्ति की याचना स्वयं करता है। परन्तु नाटक में स्थिति सर्वथा भिन्न है। प्रथम तो वह घटना युद्ध-क्षेत्र में सघटित होती है वनवास में नही। युद्ध में ही इन वस्तुओं की आवश्यकता पडती है। ऐसे अवसर पर दानी सब कुछ दे सकता है किन्तु कवच कुण्डल को वह अलग नहीं कर सकता। महाकवि भास को इन्द्र द्वारा कर्ण की दानप्रियता की कठोर परीक्षा करवाने के लिए यही स्थल उचित लगा। द्वितीयतः जहाँ महाभारत में कर्ण शक्ति की याचना स्वयं करता है, वहाँ कर्णभार में वह कहने पर भी माँगना नही चाहता। इस प्रकार इस स्थल में कवि ने कर्ण के चरित्र को ऊँचा बना दिया है।

१– महाभारत आदिपर्व (सम्भव पर्व) अध्याय १०५ ३७, ३८, पृ० ६८५,
२ महाभारत आदि पर्व (सम्भव पर्व) अध्याय १०५, ३५, पृ० ६८५

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्ति शत्रुनिबर्हिणीम् ।।[1]

इसके अतिरिक्त महाभारत के शल्य एवं नाटकस्थ शल्य में भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है। दोनों ही काव्यों में शल्य, कर्ण के सारथि हैं, परन्तु इनका चरित्र एक-सा नहीं है। नाटक के शल्य, महाभारत की तरह कटुभाषी, उत्साह-विनाशक तथा वाचाल न होकर संयमी, उदार-हृदय तथा रथी के शुभचिन्तक के रूप में प्रेक्षकों के समक्ष प्रकट होते हैं। कवि ने अनेक नाटकीय तत्त्वों का सम्मिश्रण कर उसे 'कर्णभार' नाम देकर संस्कृत नाट्य-संसार की एक अनुपम कृति बना दिया।

इस एकाङ्कीरूपक के नामकरण पर भी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है। कर्णभार में प्रथम दृष्टि में 'कर्ण' और 'भार' ये दो पद प्राप्त होते हैं। अभिधान-कोशों में प्राप्त कर्ण-शब्द के विभिन्न अर्थों में से यहाँ इसका अर्थ कौरव-सेनापति कौन्तेय (राधेय) है। भारत के अनेक अर्थों का उपयोग विद्वानों ने अलग-अलग ढँग से किया है। डा० जी० भट्ट के अनुसार कर्ण की मानसिक चिन्ता ही उसे भारस्वरूप होकर कष्टदायिनी हो रही है। कौरवीय सेना के सञ्चालन के महान् उत्तरदायित्व के भार से कर्ण लदा हुआ था। कर्ण-भार का संकेत इसी 'भार' की ओर है। इसी बात को ध्यान में रख कर श्री गणपति शास्त्री ने यह मत व्यक्त किया कि इस लघु रूपक में सेनापति कर्ण का रूप पूर्णरूपेण निखर नहीं पाया है। वे इसमें एक अङ्क और बढाने की महती आवश्यकता बतलाते हैं। मेरे विचार से अपने वर्तमान रूप में भी इसमें साहित्यिक सुषमा तथा कथा-सूत्र का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

डॉ. पुसालकर, कर्णभार को इसी रूप में पूर्ण मान कर इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं —

> "कर्णयोः भारभूतानि कुण्डलानि दत्वा कर्णेनापूर्वा दानशूरता प्रकटी कृता। तामधिकृत्यकृतं नाटकम्।" इसके पुष्ट्यर्थ वह आगे कहते हैं कि वाचिक दान एवं क्रियात्मकदान के मध्य की अवधि में कर्ण के कानों को वे कुण्डल भारभूत प्रतीत होने लगे।

पुसालकर महोदय की व्याख्या में कवचों का उल्लेख न होने से प्रो० सी० आर० देवधर, नाटक की विषयवस्तु का पूर्ण उद्घाटन न हो पाने के

१– महाभारत आदि पर्व (सम्भव पर्व) अध्याय १०२, ३१, पृ० ६८६.

कारण उक्त वचन को अपूर्ण समझते हैं। सेनापति के रक्षणार्थ कुण्डलों की अपेक्षा कवच का महत्व वही अधिक होता है। डा. मैकमलिण्डेन्यू "भार" का अर्थ कवच करते हैं। एक महानुभाव इस नाटक का नामान्तर "कवचाङ्क" भी बतलाते है। किसी की यह स्वाभाविक उक्ति है। कवच के कारण ही यहाँ कर्ण के चरित्र मे अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देता है। अत यहाँ कवच प्राधान्येन प्रतिनिधित्व करता है।

डॉ विन्टरनित्ज ने कर्णभार की विवेचना मे कर्ण के कठिन कार्य की ओर ही संकेत किया है। "The difficult task of Karna" viz His vow that he would not refuse anything to a Brahmin." प्रो० जी० सी० झाला, "भार" का सम्बन्ध भास के ही पञ्चरात्र नाटक मे कर्ण द्वारा प्रयुक्त "भार" से जोडते हैं।

कर्ण – भारार्थं मृशमुपनतैरिह हयैर्युक्तो रथ स्थाप्यताम् ॥[1]

उनका कहना है कि पञ्चरात्र रचते समय कर्णभार की अनेकार्थता की बात भास के ध्यान मे थी। कतिपय विद्वान् मनीषियो के मत मे कर्ण का युद्ध-कौशल ही उसके लिये भारभूत हो गया था।

परशुराम के शाप, कुन्ती को अर्जुन के अतिरिक्त शेष पाण्डवो को न मारने के वचन-दान तथा इन्द्र को कवच कुण्डल के दान के कारण कर्ण की शस्त्रविद्या समय पर विफल सिद्ध हुई थी। उक्त कारणो मे इसका कोई भी कारण रहा हो, नाटक के शीर्षक की जटिलता प्रत्यक्ष है। दानवीरकर्ण ने विपरीत परिस्थितियों मे फँस जाने पर भी युद्ध के लिये अत्यावश्यक वस्तु कवच को रण-क्षेत्र मे ही ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र को प्रदान कर अपनी गुरुता (भार) को अक्षुण्ण बनाए रखा। भास ने कर्ण के चरित्र को ऊँचा उठा कर, उसके दानकर्म के गौरव को किसी प्रकार की आँच नही आने दी। कर्ण दान का प्रतिफल भी नहीं चाहता। यह बात इन्द्र द्वारा पीछे से भेजी गई शक्ति को लौटाने के वृत्तान्त से पुष्ट होती है। दानशीलता के अतिरिक्त कर्ण की एक और विशेषता इस रूपक मे निखरी है और वह है उसकी अपूर्व ब्राह्मण-निष्ठा। वह ब्राह्मण के लिये अपना सर्वस्व

1- पञ्चरात्र अङ्क 1.

दान करने को उद्यत रहता है। इन्द्र के गो, सुवर्ण आदि दान लेना अस्वीकार करने पर वह शिरश्छेद कर अपना मस्तक तक देने को तैयार हो जाता है। इस प्रसङ्ग में कर्ण एव कैतवी इन्द्र के संवाद को पढ कर कठोपनिषद् में स्थित यम एव नचिकेता के बीच के वार्तालाप का स्मरण हो आता है, जहाँ यम उसे वरदान के रूप मे बहुत सी कमनीय वस्तुएँ देने की बात कहता है और बालक नचिकेता उन सबको क्षणभङगुर समझकर अस्वीकार करता जाता है। *यथा* —

यम — ये ये कामादुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दत प्रार्थयस्व।
इमा रामा सरथा सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यै।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षी॥

नचिकेता —

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणांजरयन्ति तेज।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

कर्णभार के इन्द्र के चरित्र मे कोई विलक्षणता लक्षित नही होती। वह अपने स्वार्थ के प्रति एकनिष्ठ है। कर्ण द्वारा बहुमूल्य लुभावनी वस्तुओ के देने पर भी नचिकेता की तरह उनकी ओर आकृष्ट नही होता और जैसे ही कवच-कुण्डल का नाम सुनता है, उसे झट स्वीकार कर लेता है।

कर्ण — गुणवदमृतकल्प क्षीरधाराभिवर्षि,
द्विजवर! रचित ते तृप्तवत्सानुयात्रम्।
तरुणमविकमर्षि प्रार्थनीय पवित्र
विहितकनकशृङ्ग गोसहस्र ददामि॥

शक्र — गो सहस्रमिति मुहूर्त म खिर पिवामि। नेच्छामि कर्ण।

कर्ण — किं नेच्छति भवान्। इदमपि श्रूयताम्।
रवितुरग-समान साधन राजलक्ष्म्या,
सकलनृपतिमान्य मान्यकाम्बोजजातम्।
सुगुणमनिलवेग युद्ध-दृष्टापदान
सपदि बहुसहस्र वाजिना ते ददामि॥

\+ \+ \+

कर्णः – न भेतव्यं न भेतव्यम् । प्रसीदतु भवान् । अन्यदपि श्रूयताम्–

अङ्गैः सहैव जनितं मम देहरक्षा
देवासुरैरपि न भेद्यमिदं सहस्रैः ।
देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां
प्रीत्या मया भगवते रुचितं यदि स्यात् ॥[1]

इसके अनन्तर इनका उदात्त रूप सामने आता है। आत्मसमर्पण की अग्नि में तपने के बाद वह कर्ण के लिये देवदूत द्वारा विमला नामक एक अमोघ शक्ति को भेजकर प्राप्त किए हुए स्वार्थपरक अनैतिक कृत्य का परिमार्जन करता है।

कर्णभार में शल्य का चरित्र पूर्ण विकसित नहीं हो सका है। वे पाठकों के सामने संयमी, नम्र एवं अपने स्वामी के हितचिन्तक के रूप में आते हैं। शल्यराज कर्ण के चरित्र को उभारने के माध्यम हैं। वह अन्त तक कर्ण की सुख-सुविधा का चिन्तन करने वाले एक सहृदय सारथी बने रहते हैं। अङ्गेश्वर कौरव-सेनापति कर्ण, कर्णसूत शल्य एवं इन्द्र इन तीन मुख्य पात्रों के अतिरिक्त भट, सूतक आदि पात्रों के नाम भी इस एकांकी में आते हैं। उक्त मुख्य पात्रों का तो संवाद भी सुनने को मिलता है। अतः स्वर्गीय डा० सुशीलकुमार डे[2] का यह कथन कि "यह एकाङ्की ही नहीं, वास्तव में यह एकपात्रीय रूपक ही है" उचित नहीं प्रतीत होता। कर्णभार लघु-रूपक होता हुआ भी अपने विस्तार में पूर्ण है। जिस घटना को यहाँ लिया गया है उसका अन्त तक सफल निर्वाह किया गया है। बहुत से सूच्य विषय कथोपकथनों द्वारा ही सूचित कर दिये गये हैं जैसे–शापप्राप्ति का वृत्तान्त, कुन्ती को अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पाण्डव भाइयों को न मारने का आश्वासन आदि। इसकी घटनाओं के आरोहावरोह में भी शिथिलता नहीं आने पाई है।

काव्यरस के परिपाक एवं नाटकीय सिद्धान्तों के निर्वाह की दृष्टि से भी यह उत्तम कोटि की रचना है। इसका कथानक समर-भूमि होने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध तो वीररस से है, परन्तु इसमें प्रधानता करुण रस की ही है। ऊरुभङ्ग एवं कर्णभार में तथा भास के अन्य नाटकों में करुण रस की अभिव्यक्ति बड़ी सजीव दिखाई पड़ती है। भवभूति की भाँति "एको रसः

१– कर्णभार – १९–२१, पृ० २२

२– It is not only a One Act Play but really a one Character play
De and Das Gupta, History of Sanskrit Literature Vol.I Page 112.

करुण एव" के समर्थक न होते हुए भी अपनी रचनाओं में करुणा के हृदयग्राह्य चित्रण द्वारा भास ने इस रस विशेष के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित कर ही दिया है।

कारुण्यपूर्ण वातावरण के आधिक्य से संभावित नीरसता के निवारणार्थ कवि ने इसमें हास्य को स्थान देना आवश्यक समझ कर ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र के मुख से नाट्य सिद्धान्तों के विरुद्ध मागधी एवं अर्धमागधी प्राकृत का प्रयोग करवाया है।

श्री बुलनर महोदय के अनुसार कर्णभार एकदु खान्त रूपक है। परन्तु यहाँ मृत्यु मञ्च पर दिखलाई नहीं गई है और न ही कर्ण के मर जाने की सूचना दी गई है। शल्य से बार-बार अर्जुन के पास रथ ले जाने को कह कर कर्ण मृत्यु के पास जाना अवश्य चाहता है। परन्तु उसकी मौत हो गई – ऐसी सूचना दर्शकों को नहीं दी जाती। युद्धारम्भ होने का संकेत देकर भरतवाक्य द्वारा रूपक का उपसंहार किया गया है।

अलंकारों की योजना भी अतुलनीय है। प्रस्तुत अवतारितांश में कर्ण की अति सुन्दर उपमा निहित है —

एष हि –
अत्युग्रदीप्तिविशद समरेऽग्रगण्य
शौर्ये च संप्रति मशोक्मुपैति धीमान्।
प्राप्ते निदाघसमये घनराशिरुद्ध
सूर्य स्वाभावरुचिमानिव भाति कर्ण ॥[1]

कवि की वर्णन शक्ति भी सराहनीय है। परशुराम के दर्शन को पढ़ कर उनकी साक्षात् मूर्ति पाठकों के सामने आ जाती है।
कर्ण – तत
विद्युल्लता – कपिलतुङ्गजटा – कलाप –
मुद्यत्प्रभावलयिन परशु दधानम्।
क्षत्रान्तक मुनिवर भृगुवंशकेतु
गत्वा प्रणम्य निकटे निभृत स्थितोऽस्मि ॥[2]

१– कर्ण-भार ४, पृ० १.
२– कर्ण भार ६, पृ० ६.

कर्ण के माध्यम से चतुर कवि ने संसार की अनित्यता तथा धर्म एवं दान की महत्ता दर्शाई है।

> धर्मो हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वा-चपला नृपश्रियः।
> तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्ध्या हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते॥[1]
> शिक्षा क्षयं गच्छति काल-पर्ययात् सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
> जलं जलस्थानगतं च शुष्यति हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥[2]

नीति-युद्ध की मान्यता के सम्बन्ध में कर्णवीर कर्ण का कथन है कि इस संग्राम में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हो जाने में भी शरीरी की विजय ही है। इन वाक्यों में भगवद्गीता की छाया स्पष्ट है।

> हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः
> उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे॥[3]

तुलना कीजिए —

> हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
> तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥[4]

दूतघटोत्कच -

संस्कृत के उत्सृष्टिकाङ्कों में महाकवि भास के "कर्ण-भार" के अतिरिक्त इन्हीं के "दूतघटोत्कच" का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इसका कथानक भी 'ऊरुभङ्ग' की कथावस्तु की भाँति महाभारत में वर्णित अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के मरण के उपरान्त घटित घटनाओं से सम्बद्ध है। पुत्र के वध के पश्चात् अर्जुन द्वारा जयद्रथ के वध तथा कौरवों के नाश की प्रतिज्ञा करने पर श्रीकृष्ण द्वारा घटोत्कच को इसकी सूचना देने के लिये धृतराष्ट्र के पास भेजना और अन्त में दारुण युद्ध का वृत्तान्त ही इसका विषय है। उद्धत-वीर घटोत्कच के दुर्योधन तथा अपने साथियों के साथ हुए वार्तालाप में घटो-

---

१- कर्णभार, १७, पृ० १८.
२- वही-, २२, पृ० २२.
३- वही-, १२, पृ० १२.
४- गीता २-३७

रोना-गाना सुनाई देने लगता है। इस शोक-ग्रस्त वातावरण में श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित घटोत्कच उनके इस सन्देश के साथ दुर्योधन की सभा में पहुँचता है।

धृतराष्ट्र – कथ नु भो।
केनैतच्छ्रुतिपथदूषण कृत मे
कोऽद्य मे प्रियमिति विप्रिय ब्रवीति।
कोऽस्माक शिशुवधपातकाङ्कितानां
वशस्य क्षयमवघोषयत्यभीत।[1]

गान्धारी – महाराज! अत्थि उण जाणीअदि केवल तुमसमयवारयो कुलविग्गहो भविस्सदि त्ति।

\+ \+ \+

धृतराष्ट्र – गान्धारि शृणु–
अद्याभिमन्यु - निधनाऽजनित प्ररोह
सामर्षकृष्णधृतरश्मिधृतप्रतोद
पार्थ करिष्यति तद्वचनु सहाय
शान्ति गमिष्यति विनाशमवाप्य लोक॥

\+ \+ \+

धृतराष्ट्र – वत्से अल अल रुदितेन। पश्य,
भर्तुस्ते नूनमत्यन्तमवेत्य न रोचते।
येन गाण्डीवबाणानामात्मा लक्षीकृत स्वयम्॥[2]

दुःशला – अम्ब! कुदो मे एत्ति भाग्गि भाअहेआणि। जो जणद्दणसहाअस्स धणञ्जअस्स विप्पिअ करिअ कोहि णाम जीविस्सदि।

१– दूतघटोत्कच पृ० ४,
२– दूतघटोत्कच ५-७ पृ० ४-६

धृतराष्ट्र – सत्यमाह तपस्विनी दुश्शला । कुत
कृष्णस्याष्टभुजोपधानरचिते योऽङ्के विवृद्धश्चिर,
यो मत्तस्य हलायुधस्य भवति प्रीत्या द्वितीयो मद ।
पार्थानां मुरतुल्य विक्रमवता स्नेहस्य यो भाजन,
त हत्वा क इहोपलप्स्यति चिर स्वैर्दुष्कृतैर्जीवितम् ॥[1]

इस प्रकार कौरवकुल की शोकाकुल अवस्था के चित्रण के साथ दूत–घटोत्कच की कथा के पूर्वार्द्ध की समाप्ति के उपरान्त इसका उत्तरार्ध घटोत्कच तथा ज्येष्ठ - कौरव दुर्योधन की गर्वोक्तियों से पूर्ण वाद–विवाद से आरम्भ होता है। यहीं नाटक के नेता घटोत्कच के दर्शन होते हैं, जिसकी नस–नस में वीररस कूट-कूट कर भरा है। साहित्य-शास्त्र कोविदो ने वीरो के क्रम के अनुसार वीररस के तीन वर्ग निर्धारित किये हैं–युद्ध वीर, धर्म–वीर एव दयावीर। यहाँ पहले कृष्ण का भावी अनय की आशका से कौरवो को समझाने के लिये भेजा हुआ दूत दयावीर का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। परन्तु दुर्योधन के उन हितकारी वचनो को न मानने के कारण शत्रु की सभा मे प्रदर्शित घटोत्कच की वीरता युद्धवीर की कोटि की है। श्रीकृष्ण का दूत हैडिम्ब किसी भी अवस्था मे अवमानना सहन नहीं कर सकता। दुर्योधनादि को पाण्डवो का तिरस्कार करते देखकर, वह मुट्ठी बाँध कर क्रोध मे भरा हुआ युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाता है। यहाँ कवि की लेखनी से क्रोध का स्वाभाविक चित्राकन बन पड़ा है।

घटोत्कच – (सरोषम्) किं दूत इति मा प्रधर्षयसि । मा तावद् भो ! न
दूतोऽहम् !,
अल वो व्यवसायेन प्रहरध्व समाहृता ।
ज्यच्छेदाद् दुर्बलो नाहमभिमन्युरिहि स्थित ॥
महानेष कैशोरकोऽय मे मनोरथ

१– दूतघटोत्कच पृ० ८

अपि च –

दृष्टोऽद्य मुष्टिमुद्यम्य निष्कम्प घटोत्कच
उत्तिष्ठतु पुमान् कश्चिद्युगान्तमिच्छेद्यमालयम् ॥[1]

इस शूर वीर के पहुँचते ही उसके मुख से भगवान् कृष्ण के सन्देश को सुन क्षत्रिय के विनाश-काल को निकट आया देख धृतराष्ट्र दुःखी होते हैं।

घटोत्कच – पितामह ! श्रूयताम् । हा वत्स अभिमन्यो !
हा वत्स कुरुकुल प्रदीप ! हा वत्स यदुकुलप्रवाल ! तव जननीं मातुलं च मामपि परित्यज्य पितामहं द्रष्टुमागतः स्वर्गमभिगतोऽसि। पितामह ! एक-पुत्रविनाशादर्जुनस्य तावदीदृशी खल्ववस्था, का पुनर्भवतो भविष्यति । तत क्षिप्रमिदानीमात्मवशाधानं कुरुष्व। यथा ते पुत्रशोकसमुत्थितोऽग्निर्न दहेत्प्राणमय हविरिति ।[2]

इस वीर के दर्शन भास के मध्यम-व्यायोगादि अन्य रूपकों में भी होते हैं। यह भयंकर राक्षस होता हुआ भी शालीनता, वाक्पटुता, मर्यादा आदि मानवीय गुणों का प्रदर्शन करता ही पाया जाता है। सन्देश कहने से पूर्व वह धृतराष्ट्र को प्रणाम कर पाण्डवों का भी आदरपूर्वक स्मरण करना नहीं भूलता। दुर्योधन द्वारा जैसे अपशब्द से सम्बोधित घटोत्कच कौरवों को राक्षसों से भी निम्न कोटि के व्यक्ति सिद्ध करता हुआ विपक्षियों के प्रति व्यंग्य करता जाता है–

घटोत्कच – शान्तं शान्तं पापम्। राक्षसेभ्योऽपि भवन्त एव क्रूरतरा ।

कुतः –

न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचरा ।
शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचरा ।
न च सुतवधं सख्ये वर्षं स्मरन्ति निशाचरा
विहृत – वपुषोऽप्युग्राचारा घृणा न तु वर्जिता ॥[3]

१– दूतघटोत्कच ४६–५०, पृ० ४०
२– दूतघटोत्कच – पृ० ३२
३– दूतघटोत्कच ४०, पृ० ३८

दुर्योधन, शकुनि तथा दुःशासन आदि का चरित्र बहुत कुछ समान-कोटि का है। ये सब क्रूर अभिमानी तथा पामर के रूप में दर्शकों के सामने आए हैं। ये निर्दय बालक के वध से प्रसन्न होकर स्वयं अपनी क्षुद्रता का परिचय देते हैं। इसके विपरीत वृद्ध धृतराष्ट्र इस कलह से बड़े दुःखी हैं।[१] वे एक आदर्श गृहस्थ हैं अपने बच्चों को आपस में लड़ते कटते देख उनकी आत्मा रो उठती है।

शकुनि – शकुनिरहमभिवादये।
सर्वे – कथमाशीर्वचनं न प्रयुज्यते।
धृतराष्ट्र – पुत्र। कथमाशीर्वचनमिति।
सौभद्रेनिहते बाले हृदये कृष्णपार्थयोः।
जीविते निरपेक्षाणां कथमाशीः प्रयुज्यते॥[२]

× +

धृतराष्ट्र – तेन किल वरविदग्धेन रुद्धाः पाण्डवाः
दुर्योधन – आः, तेन रुद्धाः। बहुभिः खल्वन्यैः।
धृतराष्ट्र – भो कष्टम्।
बहूनां समवेतानामेकस्मिन्निर्घृणात्मनाम्।
बाले पुत्रे प्रहरतां कथं न पतिता भुजाः॥[३]

वह अपने प्रियजनों को आशीर्वचन भी नहीं कह सकते, कारण, अब उनका कोई अच्छा प्रभाव नहीं फल सकता। सौ अनार्यों के जनक के इस सौम्य रूप तथा इनकी गम्भीर आकृति को देख घटोत्कच को आश्चर्य होता है। अपने पौत्र हैडिम्ब को देख कर उनका वात्सल्य उमड़ पड़ता है —

धृतराष्ट्र – एह्येहि पुत्र।
न ते प्रियं दुःखमिदं ममापि यद् भ्रातृनाशाद्व्यथितस्तवात्मा।
इत्थं च ते नानुगतोऽस्म्यमर्षो मत्पुत्रदोषात्कृपणीकृतोऽस्मि॥[४]

१– दूतघटोत्कच ३४, पृ० ३०
२– दूतघटोत्कच १४, पृ० १६
३– दूतघटोत्कच १७, पृ० १७
४– दूतघटोत्कच पृ० ३६

उनके हृदय मे अपने पराए की भेद-भावना नही है। निन्द्य कर्म करने वाले पुत्रों की वे बारबार भर्त्सना करते हैं। वे शान्ति के पुजारी हैं। घटोत्कच के उत्तेजित होने पर उसे भी शान्त करते हैं।

धृतराष्ट्र – पौत्र घटोत्कच। मर्षयतु मर्षयतु भवान्। मद्वचनावगन्ता भव।

गान्धारी तथा कौरव-भगिनी दुःशला का चरित्र कोई विशेष महत्व नही रखता। वे आदर्श भारतीय नारियाँ हैं। अपने परिवार के भावी विनाश की आशङ्का से डरी हुई इन स्त्रियों का सर्वत्र करुण क्रन्दन ही सुनाई देता है। इस रूपक मे वीर तथा करुण रस का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक ओर अभिमन्यु की मृत्यु से चारो ओर शोक के बादल छाए हुए हैं तो दूसरी ओर घटोत्कच तथा दुर्योधनादि के वाक्यो मे वीरत्व भरा हुआ है। डॉ गणपति शास्त्री के वचनों मे यह न तो सुखान्त ही है और न दुःखान्त। डॉ कीथ, वा. गैरोला आदि इसे व्यायोग मानते हैं और पुसालकर महोदय इसे उत्सृष्टिकाङ्क कहते हैं। व्यायोगों की चर्चा करते समय पिछले पृष्ठों में हमने इसे अङ्क ही माना है क्योंकि इसमे दीप्तरसान्वित व्यायोग के लक्षण कम दिखाई पड़ते हैं और बुद्धि प्रपञ्चित प्रख्यातवृत्त करुण रस, वाक्कलह, जयपराजय, स्त्रियों से घिरा रहना इत्यादि उत्सृष्टिकाङ्क के शास्त्रसम्मत सब लक्षण इसमें घटित होते हैं। व्यायोग की तरह वीरता तो इसमे कूट कूट कर भरी है परन्तु स्त्रियों का अभाव नहीं है। ऐसी स्थिति मे इसे उत्सृष्टिकांक मानना ही ठीक होगा।

यह एकाकी श्रीकृष्ण के सन्देश के प्रत्युत्तर मे दुर्योधन के वाक्यों तथा घटोत्कच द्वारा उद्घृत जनार्दन के मङ्गलमय पश्चिम सन्देश के साथ समाप्त होता है।

दुर्योधन – आ कस्य विज्ञाप्यम्। मद्वचनादेव स वक्तव्यः।
कि व्यर्थं बहुभाषसे न खलु ते पारुष्यसाध्या वयं
कोपान्नार्हसि किञ्चिदेव वचनं युद्धयदा दास्यसि।
निर्याम्येष निरन्तरं नृपशतच्छत्रावलीभिर्वृतः –
स्तिष्ठ त्वं सहपाण्डव प्रतिवचो दास्यामि ते सायकैः॥

घटोत्कच – भो भो राजान । श्रूयतां जनार्दनस्य पश्चिमः सन्देशः ।

धर्मं समाचर कुरु स्वजनव्यपेक्षा
यत्काङ्क्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ ।
ज्ञात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी
सूर्यांशुभिः सममुपैष्यति वः कृतान्तः ॥[१]

इस प्रकार कवि ने दुख एवं सुख का सुन्दर समन्वय प्रदर्शित करते हुए यह बतलाया है कि दुख के बाद सुख आता है। कुकर्मों का फल पापियों को मिल कर रहता है अत: विपत्तियों से सज्जनों को घबराना नहीं चाहिये।

भरत वाक्य के बिना एकाएक इस रूपक की समाप्ति देख कतिपय आलोचक इसे अपूर्ण या आंशिक कृति मानते हैं। भरतवाक्य का अभाव तो भास की मौलिकता है, जो उनकी अन्य रचनाओं-मध्यम व्यायोग और उरु-भङ्ग में भी पाई जाती है। यह बात दूसरी है कि इनमें कुछ मङ्गलकारी वाक्य भरत-वाक्य का काम दे देते हैं। दूतघटोत्कच में कृष्ण का पश्चिम सन्देश ही इसका भरतवाक्य है। केवल इसी बात के कारण दूतघटोत्कच को अपूर्ण कृति समझना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसमें घटोत्कच का दौत्यचित्रण करना कवि का ध्येय है, इस कार्य में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। इस दृष्टि से यह रूपक पूर्ण सफल है।

प्रायः भास के सब एकाङ्की महाभारत की किसी न किसी कथा पर आधारित हैं। ये या तो व्यायोग वर्ग के हैं अथवा उत्सृष्टिकाङ्क के। मूर्त नाट्यसाहित्य के आद्य प्रवर्तक महाकवि भास की नाट्यकला एवं उनकी काव्य-गत विशेषताओं पर एक दृष्टि डालने का एक अवसर हमें व्यायोगों की चर्चा करते समय मिल चुका है। यहाँ भी हम इनके ही तीन उत्सृष्टिकाङ्कों का संक्षिप्त किन्तु सूक्ष्म अध्ययन कर चुके हैं। तदनुसार नाट्यकला के सब नाटकीय तत्वों के दर्शन इनके एकाङ्की-साहित्य में होते हैं।

इनके रूपकसमुदाय की कथावस्तु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, आख्यायिका एवं लोक-कथाओं का उपयोग भास ने अपने नाट्य-साहित्य में किया है। संस्कृत रूपक वाङ्मय में किसी

१– दूतघटोत्कच ५१, पृ० ४९. वही ५२, पृ० ५८.

दूसरे रूपककार ने इतने वृहद क्षेत्र मे सचरण नही किया है। इन ऐतिहासिक एव पौराणिक आधारो के साथ साथ कवि ने निजी कल्पनाओ की ग्रपूर्वता का भी पर्याप्त प्रदर्शन किया है। प्रतिमा, उरुभङ्ग मध्यम-व्यायोग, दूत-वाक्य, घटोत्कच कर्णभार आदि इसके पोषक है।

विस्तृत क्षेत्र से कथा-वस्तु के सकलन करने के परिणामस्वरूप निसगत पात्रा की सख्या एव इनके वर्गो मे विविधता दृष्टिगत होती है, किन्तु अधिक पात्र होने पर भी व सब मानव-लोक के जीते जागते प्राणी हैं चाहे वे देव-योनि के हो अथवा मर्त्य। दर्शक को यह कभी आभास न होगा कि ये काल्पनिक पात्र हैं या कृत्रिम अथवा यथार्थ ससारी। इन सबके चरित्राङ्कन म कवि ने सर्वत्र एक समान उदात्त आदर्श बनाये रक्खा है।

भास के रूपक जिस काल मे रचे गये थे उस समय तक नाट्यकला का पूर्ण विकास नही हो पाया था। इस कारण कुछ त्रुटियाँ भी इनके रूपकों मे आ गई हैं। कही कही शब्दो का परिमित प्रयोग दुर्बोधता उत्पन्न कर देता है। आकाशभाषितो के प्रयोग से 'निष्क्रम्य प्रविश्य' जैसे द्रुत नाटकीय निर्देशो से तथा असूचित पात्रों की उपस्थिति से दर्शको के मन मे कृत्रिमता का भान अवश्य होता है। यथा 'कर्णभार" के प्रारम्भ होने ही कर्ण, शल्य से अर्जुन के समीप ले चलने को कहता है। फिर कुछ काल तक कर्ण द्वारा अपनी शस्त्र शिक्षा की प्रासगिक कथा तथा छल से प्राप्त शस्त्र-विद्या की निष्फलता आदि घटनाएँ को कह चुकने के उपरान्त रथी एव सारथि रथारोहण करते हैं। ऐसा ही रङ्गमञ्चीय निर्देश इस नाटक मे कम से कम तीन बार किया गया है।

कर्ण .. शल्यराज। यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यता मम रथ

यह वाक्य इसी रूपक के पृष्ठ १५ एव २६ मे दोहराया गया है।

कर्ण – अहो नु खलु –

> अन्योन्यशस्त्र-विनिपात-निकृत्तगात्र –
> योधाश्व – वारणरथेषु महाहवेषु।
> क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणो ममापि
> वैधुर्यमापतति चेतसि युद्धकाले ॥'

१– कर्णभार ६, पृ० ७

भो कष्टम् !
पूर्व कुन्त्या समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुत ।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयाँसस्तु पाण्डवा ॥
अय स काल क्रमलब्धशोभनो गुणप्रवर्षो दिवसोऽयमागत ।
निरथमन्द च मयाहि शिक्षित पुनश्च मातुवचनेन वारित ॥[1]

यह नाटकीय निर्देश की एक ऐसी त्रुटि है जिससे ठीक पता ही नहीं चल पाता कि कर्ण कब रथ पर चढ़ता है और कब उतरता है। इसके अतिरिक्त अदृष्ट कालिय कात्यायनी देवी, कृष्ण तथा देवी के आयुधो का भास के नाटको मे मञ्च पर प्रकट होना एव शाप का मानवीय रूप मे आना भी कुछ आलोचको को अखर सकता है। इनकी सूचनामात्र देने से काम चल सकता था। इतना ही नहीं, दुर्योधन एव अन्य पात्रों का वध सभवत कतिपय भावुक समीक्षको एव दर्शको को बुरा लग सकता है परन्तु उनके नाटको मे ऐसे हृदयद्रावक दृश्यो के बाहुल्य एव पौनपुन्य को देख ऐसा लगता है कि प्रथितयशास् कवि भास की दृष्टि मे पापी, क्रूर एव खलजनो की मृत्यु को मञ्च पर प्रदर्शित करना बुरा नहीं था, क्योकि उससे सामाजिको पर बुरा प्रभाव नहीं पडता। उत्सृष्टिकाङ्क के लक्षणो पर विचार करते हुए हम देख चुके है कि नाट्यमीमासको ने भी दुष्टो के वध को दिखलाना हेय नहीं बतलाया है। अत इस त्रुटि के लिये भास को दोषी ठहराना न्यायसगत नहीं। इन त्रुटिपूर्ण दृश्यो मे भी उदार-हृदय आलोचक आवश्यक परिवर्तनो के उपरान्त इस महाकवि के रूपको को अभिनेय बना सकते हैं। मद्रास से प्रकाशित होने वाले "दी संस्कृत रङ्ग" नामक वार्षिक पत्र को देखने से विदित होगा कि इन का अभिनय आज किया भी जाता है।

भास के नाट्य-चक्र मे परिगणित रूपको की शैली की अपनी विशिष्ट महत्ता है। इनकी रचनाओ में भावाभिव्यञ्जनात्मकता एव प्रभावोत्पादकता पर्याप्त है। इनके लघु-अलकार-विहीन वाक्यो मे भाव-गाम्भीर्य एव सरसता आदि गुण पाये जाते है। इनकी भाषा मे प्रसाद-गुण के प्राचुर्य को देख कर विदित होता है कि संस्कृत इस काल म अवश्य ही लोक-भाषा रही होगी — अन्यथा उसमे इतना प्रवाह नहीं हो सकता था।

1- कर्णभार ७-८, पृ० ७ ८

भास अपने वर्ण्य विषयों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करते हैं। सांसारिक बातों का कवि को सम्यक् ज्ञान था। वे मानव जीवन तथा प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी कुशलता पूर्वक उपस्थित करते हैं।

> करिवरकरयूपो बाण — विन्यस्तदर्भो
> हतगजचयनोच्चो वैरवह्निः प्रदीप्तः ।
> ध्वजविततविमानः सिंहनादोच्चमन्त्रः
> पतित-पदुमनुष्य सम्यितो युद्धयज्ञः ॥[1]

और भी — द्वितीय — इदमपर पश्यन्तौ भवन्तौ। एते—

> गृध्रा मधूकमुकुलोज्ज्वल पिङ्गलाक्षा
> दरपेन्द्र — कुञ्जरनखाङ्कुशनीलतुण्डाः ।
> भान्त्यम्बरे विततलम्बविकीर्णपक्षा
> भागे प्रवालरचिता इव तालवृन्ताः ॥[2]

इनकी कृतियों में वन वर्णन, मध्याह्न एवं तारुण्य के वर्णन आदि में महाकवि की निपुणता लक्षित होती है। इनकी शैली में प्रसाद, ओज और माधुर्य की "गुणत्रयी" सदैव दिखाई पड़ती है। इनकी शैली का एक गुण मौन-भाषण भी है। अपने शब्दों के द्वारा अधिकाधिक भाव-व्यञ्जना के अतिरिक्त मौन आचरण में भी अर्थ-बोध कराया गया है। यह विशेषता सम्वर शब्दों के प्रयोग से भी अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है एवं रस तथा भावों की प्रतीति में सहायिका बनी है। अतः इन्हें "मौन आचार्य" कह कर भी बहुत से पण्डितों ने सम्मानित किया है। इनकी शैली का परवर्ती साहित्यकारों पर भी प्रभाव पड़ा है, फिर भी, भास की लेखन-रीति एवं भाव प्रकाशन शैली की अपनी अलग महत्ता है।

बहुत से लोगों ने भास पर बहु-विवाह-समर्थन, ब्राह्मणों की महत्ता का प्रतिपादन, वर्णाश्रमव्यवस्था का गुणगान आदि का दोषारोपण किया है। आदि नाटककार होने के कारण इन पर वैदिक संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। भास के युग पर विचार करते हुए इनकी कृतियों की आलोचना करने पर कवि की दोषहीनता स्वयमेव प्रमाणित हो जाती है।

१— उरुभङ्ग ६, पृ० १७
२— उरुभङ्ग ११, पृ० २६

इसके अतिरिक्त कहीं कहीं भास ने समस्तपद-युक्त दीर्घ-वाक्यों का प्रयोग किया है। कुछ लोगों के अनुसार यह भी उनका एक दोष है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन्होंने वहीं ऐसी शैली अपनाई है जहाँ युद्ध या उत्साह प्रदर्शन का प्रसंग होता है। इस दृष्टि से विचार करके इसे भी उनके गुणों में ही गिन सकते हैं। हाँ आधुनिक युग में इन्हें अभिनेय एवं लोकप्रिय बनाने के लिए संस्कृतानुरागी विद्वान् इनकी भाषा को आवश्यकतानुसार सरल बनाने का यत्न कर सकते हैं और कर भी रहे हैं। पुरातन कृतियों को कतिपय त्रुटियों से युक्त होने के कारण त्याज्य समझ लेना उचित नहीं। इन दोषों से तो उनका महत्त्व और बढ़ जाता है, जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा कलंकधारी कहला कर भी अपनी द्युति से हीन नहीं होता और रात्रि के अन्धकार को दूर कर उसकी शोभा में वृद्धि करता रहता है, उसी प्रकार भास भी संस्कृत नाट्य जगत के शशधर हैं, जिनकी ज्योति सदा विद्वज्जगत् को शान्ति प्रदान करती रहेगी। इतना ही नहीं महाकवि अश्वघोष और कालिदास से भास किसी भी क्षेत्र में कम नहीं प्रतीत होते। भास के नाटकों में भावों और रचना-विधान की दृष्टि से पर्याप्त सौष्ठव को देखकर श्री सुशीलकुमार दे महाकवि भास को अश्वघोष और कालिदास के बीच की कड़ी मानते हैं।[1]

वीथी

व्यावहारिक भाषा में वीथी शब्द मार्ग या पंक्ति का पर्यायवाची होता है, किन्तु नाट्यशास्त्र[2] के अनुसार वीथी रूपक का एक भेद है। इसमें एक

१– From the dramatic fragments of Asvaghosa it is not unreasonable to assume that between him and Kalidasa a period of cultivation of the dramatic art which we find fully developed in the dramas of Kalidasa has passed.

History of Sanskrit Literature (Vol. I Page 101)De and Das Gupta.

२– वीथी स्यादेकाङ्का तथैकहार्या द्विहार्या वा ।
अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात्प्रकृतिभिस्तिसृभिः
उद्घात्यकावलगितावस्यन्दितनाल्यसत्प्रलापश्च ॥
वाक्केल्यथ प्रपञ्चो मृदवाधिबले छलं त्रिगतम् ।
व्याहारो गण्डश्च त्रयोदशाङ्गान्युदाहृतान्यस्याः । ना० शा० अध्याय १८, पृ० २९३

श्रृंगार तथा भागवत् कविकल्पित कथानक होता है। एक या दो पात्र रहते हैं। उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि का पुरुष इसका नायक होता है। सामान्यत यह शृंगार रस की सूचक नाट्य-रचना होती है।[1] किन्तु विषय-वस्तु के अनुसार इसमें अन्य रसों की झलक भी मिलती है।[2] इसमें केवल मुख और निर्वहण सन्धियां तथा पाँचों अर्थ-प्रकृतियां होती हैं। इस वीथी संज्ञा देने का कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें उद्घात्यक से मार्दव तक १३ वीथ्यंग पङ्क्ति बद्ध होकर आते हैं। अन्य रसों का सम्यक् गुम्फन होने के कारण इसकी तुलना माला से भी की जा सकती है। नाट्यदर्पणकार इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं– वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी।" यह भारती वृत्ति के अन्तर्गत में परिगणित वीथी से भिन्न वस्तु है। भरत मुनि के अनुसार इसमें कोई भी रस आ सकता है। वीथी के सम्बन्ध में प्राय सब आचार्य एक बात पर बल देते हैं कि इसमें तेरह वीथ्यंगों का नियोजन अनिवार्य रूप से होना चाहिए। सागरनन्दी के कथनानुसार यह रूपक विशेष तीन पात्रों में अभिनीत होता है।[3]

शारदातनय के वीथी के लक्षण को देखने से ज्ञात होता है कि कोहलाचार्य के अनुसार इसमें तेरह लास्यांगों का होना आवश्यक नहीं है।[4] रामचन्द्र गुणचन्द्र द्वारा नाट्यदर्पण में उद्धृत कोहल की पंक्तियों पर ध्यान देने से यह मालूम होता है कि नाट्यकार वीथी के लिए अधमकोटि का नायक वाञ्छनीय नहीं समझते।[5] उनके द्वारा वीथी से हीन नायक का बहिष्कार भाणादि एकांकियों से इसका

---

१ सूचयेद्भूरिशृङ्गार किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिला ॥ सा० द०

२– रस सूच्यस्तु शृङ्गार स्पृशेदपि रसान्तरम्। दशरूपक तृतीय प्रकाश–६८ ६९

३– सा च त्रिभि पात्रैः प्रयोक्तव्या यथा बकुलवीथिका।
उत्तमाधममध्यमनायकभूयिष्ठा प्रकृतियुता बीजबिन्दुवार्धरथ।
प्रकृतिभियुक्ता सन्धिद्वययुक्ता मुखनिर्वहणएताना नरसभावसहिता भङ्गत्रयोदशका।
उद्घात्यकादीनि वीथ्यङ्गानो त्युच्यते ॥ उदाहरणम्–राधारत्र वीथी-सागरनन्दी
(भरतकोश से)

४– दृष्ट लास्याङ्गवीथ्यङ्गै सम्यगुद्घात्यादिभि ॥
भवेत्त्रो न वेत्यस्या लास्याङ्गान्याह कोहल। भा० प्र० अ रस विचार – पृ० २५१

५– यदाह कोहल –
शकुकस्त्वधमप्रकृतनायकत्वमनिच्छन् प्रहसनभाणादौ हास्यरसप्रधाने
विशदर्लयकस्य अभिधारयन् कथमुपादेय स्यादिति? हिन्दी-नाट्य-दर्पण पृ० २४१

अन्तर बतलाने के लिए ही किया गया होगा, ऐसा आभास होता है। दो पात्रों की उक्ति प्रत्युक्तिया मे वैचित्र्य के योग से वीथी की विषयवस्तु का विस्तार होता है। यह द्विपात्रीय कथोपकथन आकाश-भाषित पद्धति से एक ही पात्र के द्वारा सम्पन्न होता है। काव्यानुशासन मे हेमचन्द्र भरत द्वारा प्रयुक्त एकहाय और द्विहाय (एक या द्विपात्रीय अभिनय) के प्रसग मे कहते हैं कि भाण की तरह इसम उक्ति प्रत्युक्ति के माध्यम से सवाद की गति बढनी चाहिए।

उपर्युक्त आचार्यो के लक्षण-ग्रन्थो म वीथी के सोदाहरण लक्षणो का देख कर प्राचीन भारतीय नाट्यजगत मे इस प्रकार के एकाकियों के प्रचलन का अनुमान अवश्य होता है। परन्तु अन्य एकाकीरूपको की तुलना मे वीथी रचनाओ की सख्या अत्यल्प है। अभी तक निम्नांकित वीथी रूपकों के ही नाम ज्ञात हो सके हैं–१ माधवी २ इन्दुलेखा ३ बकुलवीथिका ४ राधा ५ लीलावती और ६ चन्द्रिका। इनमे से भी १८ वीं शताब्दी के दक्षिण भारत के प्रकाण्ड पण्डित रामपाणिवाद की *लीलावती तथा चन्द्रिका*—ये दो रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है। श्री दे और दास गुप्ता[1] अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास मे भास-प्रणीत दूत-वाक्य को भ्रान्तशब्दो मे वीथी भी मानते हैं। वस्तुत दूत-वाक्य मे वीथी का एक भी लक्षण घटित नहीं होता। अत इसे स्पष्ट शब्दो मे वीथी न कह कर व्यायोग कहना ही ठीक प्रतीत होता है।

श्री रामपाणिवाद का नामोल्लेख प्रहसन रचना के प्रसग में मदनकेतु प्रहसन के लेखक के रूप मे किया जा चुका है। यहाँ उनकी अन्य रचनाओ की समीक्षा के प्रसग मे कुछ विशद परिचय दिया जा रहा है—

रामपाणिवाद का परिचय.–

ये दक्षिण भारत के केरल देश वासी महाकवि रामपाणिवाद विष्णु के अनन्य भक्त थे। मलाबार प्रान्त में पाणिवाद अथवा नम्बियार नामक एक

१- In the Duta Kavya a Scene from the Udyoga parva is depicted It is either a vyayoga or a Vithi

History of Sanskrit Literature, De and Das Gupta Vol I Page 723

विशेष जाति है। इनका काम चाक्यार अभिनेताओं को वाद्यसंगीत द्वारा अभिनय में सहायता करना होता है। पाणिवाद जाति के लोग मुरज बजाते थे। हमारे विवेच्य लेखक का सम्बन्ध उक्त पाणिवाद परिवार से अवश्य रहा होगा। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पिता से प्राप्त करने के पश्चात् नारायणभट्ट पाद नामक एक विद्वान से आगे भी अध्ययन किया। इनके गुरुदेव "नारायणीय" और "मानमेयोदय" आदि के रचयिता नारायण भट्ट से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने अपने गुरु का ग्रन्थों के अन्त में सादर स्मरण किया है। इनका जीवन कटु अनुभवों से भरा था, जिनका उन्होंने बड़े मनोविनोद पूर्ण ढंग से वर्णन किया है। इनकी चन्द्रिका (वीथी) से ज्ञात होता है कि ये वेट्टुनाडु के राजा वीरराज के दरबार में रहे।[1]

रामपाणिवाद राजा वीरमार्तण्डवर्मन् के भी आश्रित कवि बन कर रहे थे। ये राजा आधुनिक त्रावनकोर के संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने १८ वीं शताब्दी में चेम्पकशेरदी पर विजय प्राप्त की थी। समय समय पर आश्रयदाताओं के बदलते रहने पर भी रामपाणिवाद की साहित्यसेवा के मार्ग में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आ सका। अन्तिम आश्रयदाता राजा वीरमार्तण्डवर्मन् की छत्रछाया में इन्होंने "सीता-राघवम्" नाटक लिखा। संस्कृत के अतिरिक्त मलयालम और प्राकृत भाषा में भी इनकी रचनाएँ मिलती हैं। "कंस वहो" तथा 'उसरणिरुद्ध' खण्ड काव्य के रूप इनकी दो प्राकृत रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, जिन पर कवि राजशेखर की प्राकृत-रचना 'कर्पूरमञ्जरी' का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। संस्कृत में काव्य एवं नाट्य रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' नामक ग्रन्थ पर टीका लिख कर प्राकृत-व्याकरण पर भी अपना पूर्ण अधिकार सिद्ध किया है।

इनके मदनकेतु चरित, जिसकी चर्चा प्रहसनों के अध्याय में हो चुकी है प्रहसन की प्रस्तावना तथा लीलावती के आमुख से जो सूत्रधार व नटी के वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत है, इतना स्पष्ट हो जाता है कि ये दक्षिण के मङ्गलग्राम[2] के निवासी थे। इसी से यह भी पता चलता है कि इनके मामा का नाम

१- चन्द्रिका-पृष्ठ १

२- सूत्रधारः- मारिष। अपि शृणोषि मङ्गलग्रामवास्तव्येन रामपाणिवादेन विरचितं मदनकेतुचरितं नाम प्रहसनमस्मद्वशे वर्तत इति।-मदनकेतुप्रहसन

"राघवपाणिघ" था।[1] पाणिघ भी वादक होते हैं। नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार के वाक्यों से यह भी प्रमाणित होता है कि रामपाणिवाद विद्याविलासी राजा देवनारायण की सभा के माने हुए विद्वान् थे। राजाज्ञा से ही इन्होंने लीलावती वीथी का[2] अभिनय करवाया था। इसकी कतिपय आमुखस्थ पङ्क्तियों से कवि का पाण्डित्य एवं अपने आश्रयदाता[3] के प्रति आदर भाव भी प्रकट होता है। इसका अभिनय काल पावस मालूम होता है।[4]

वीथी के लक्षणादि के विभिन्न मतों की चर्चा प्रारम्भ में ही हो चुकी है। नाट्यकार रामपाणिवाद ने स्वयं भी चन्द्रिका में इसके लक्षण किये हैं। तदनुसार यह भाण के समान शृंगार एवं कैशिकी वृत्ति प्रधान एकाङ्की होता है। इनकी 'लीलावती वीथी' में ये सब लक्षण घटित होते हैं।

लीलावती

'लीलावती' में कर्नाटक नरेश की एक सुन्दरी कन्या लीलावती की कथा वर्णित है। किसी परपुरुष द्वारा अपहृत हो जाने की आशंका से राजा

१- श्रूयताम्। अस्ति मगरग्राममहाग्रामव्य राघवपाणिघस्य भागिनेयो रामो नाम पाणिवादः
लीलावती - पृ० २
. मगरग्राममहास्तव्येन रामपाणिवादेन विरचितां चन्द्रिकानाम वीथीमभिनेतुमभिलषाम ॥
चन्द्रिका पृ० १

२- आज्ञापितोऽस्मि निखिलशास्त्र – पुराणनाटकप्रमुखगतनपरिशीलन विशदान्तरात्मनो नित्यसन्निरवधम्बरघुनीनाथ – परिचरणपरायणस्य महाराजदेवनारायणस्य पदपद्मोप-जीविनाम महीसुरसमाजेन . लीलावती पृ० १

३ नित्य नृत्यति यस्यनाम रसनारङ्गे स्वयं भारती
चित्ते यस्य चकास्ति मुरधुनीनाथो रथाङ्गायुध ।
य भूपो बहुमन्यते नरपतिः श्री देवनारायण.
सोऽयं मे हृदये चकास्तु सततं भूदेव-चूडामणि ॥ लीलावती ९, पृ० ३

— — —

चतुर्मुखाम्भोजचतुष्टयविहारिणी ।
कविलोकाश्रिते ! देवि ! सरस्वति । नमोऽस्तु ते ॥ लीलावती ४, पृ० ३

४- ...इति । तदहमिदानीं कालपरिहाणेन ।
प्रसुमेव प्रावृट्कालमधिकृत्य गीयतां तावत् । अथ हि लीलावती-पृ० ३.

उसे कुन्तलराज वीरपाल की रानी कलावती के संरक्षण में रख देता है किन्तु राजा वीरपाल उस कन्या के लावण्य को देखकर काम-विह्वल हो जाता है। फलत वीरपाल एवं लीलावती के बीच प्रणयलीलाएँ होने लगती हैं। लीलावती के राजा के नाम भेजे गये प्रेम पत्र के रानी कलावती की परिचारिका मेखला के हाथ पड़ जाने से वह रहस्य रानी को मालूम हो जाता है। इन्हें इस प्रकार प्रेम में रत देख रानी के मन में नारीसुलभ ईर्ष्या जाग उठती है। इसी समय विदूषक सिद्धिवती नामक योगिनी की सहायता से रानी को साँप से डँसवा कर स्वयं ही उसे बचा भी लेता है। योग-बल के प्रभाव से उत्पन्न आकाशवाणी के अनुसार महारानी वीरपाल एवं लीलावती के विवाह का प्रबन्ध करती है। और इन दोनों प्राणियों का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता है। संस्कार के पहले पुजनाथ मन्दिर की ओर जाती हुई लीलावती को ताम्राक्ष हर ले जाता है। परिणामस्वरूप वीरपाल का उससे युद्ध होता है। इस वीथी में लीलावती को कुन्तलराज वीरपाल की रानी के पास न्यास के रूप में रखने का प्रसंग भास कवि के प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्त नामक रूपकों की याद दिलाता है। रामपाणिवाद ने इसकी प्रेरणा यहीं से ले ली होगी। फिर यह छोटी-सी सरल-कथा कवि की लेखनी के चमत्कार से चमत्कृत हो उठी है।

रामपाणिवाद और भास

यौगन्धरायण—मुक्तोज्झित एष शिषयोऽत्रभवत्या। नात्र चिन्ता कार्या। कुत

पूर्व त्वयाप्यभिमत गतमेवमासीच्छ्लाघ्य गमिष्यति पुनर्विजयेन भर्तु।
कालक्रमेण जगत परिवर्तमाना चक्रारपड्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्ति॥[1]

+ + + + + +

यौगन्धरायण — (आत्मगतम्) हन्त भो। अवसितं भारस्य। यथा मन्त्रिभि समर्थितं यथा परिणमति। तत प्रतिष्ठिते स्वामिनि तत्रभवतीमुपनयतो मे इहात्रभवती मगधराजपुत्री विश्वासस्थानं भविष्यति। कुत—

पद्मावती नरपतेर्महिषी भवित्री दृष्टा विपत्तिरथ यैं प्रथम प्रदिष्टा।
तत्प्रत्ययात् कृतमिद नहि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधि सुपरीक्षितानि॥[2]

१– स्वप्नवासवदत्त अङ्क १, ४

२– स्वप्नवासवदत्त अङ्क १-११

तुलना कीजिये –

वत्से कलावति [1] सरीसृपदूषितात्वमद्याहितुण्डिकभिषग मयैव गुप्ता ।
तत्पारिताषिकमतो वितश्रुत मे यनायमृद्धिमुपयास्यति वीरपाल ॥[1]

इसके आमुख के पश्चात् विष्कम्भक के रूप म वैहासिक नामक विदूषक एव केलिमाला का सुदर वार्तालाप इस रूपक म घटने वाली घटनाओ की सूचना देता है ।[2] सस्कृत नाट्य परम्परा को कवि न यहा भी अपनाया है। वस्तुत प्रस्तुत रूपक म केवल वीरपाल और वैहासिक नामक दो पात्र ही मञ्च पर प्रकट होते है । भाण की तरह इसम भी अन्य पात्रो की बात आकाश भाषित के रूप म हुई है । अपने परोक्ष म सर्पदश स मूर्च्छित हुई रानी को राजा द्वारा अकस्मात् देखे जाने के प्रसग म मुख एव निवहण नामक सन्धिद्वय का सम्यक निर्वाह हुआ है ।

(पुननेपथ्ये)

हा हा हता स्म ।

उत्कारभीषणमुख पवनाशनोऽय देवीमुपेत्य चरणे रभसाददाक्षीत् ।
एषा निपत्य भुवि विदनथनेपाणा मूर्च्छामुपैति गनकैमुकुलीकृताक्षी ॥

सर्प-दशन की घटना इनके मदनकेतु नामक प्रहसन म भी घटी है ।[3] लीलावती वीथी म इसकी पुनरावृत्ति से कवि पर कालिदास के मालविकाग्निमित्र[4] हर्ष की प्रियदर्शिका[5] तथा बोधायन कवि के भगवदज्जुकीयम् प्रहसन[6] आदि पूर्ववर्ती नाटककारो की कृतियो का प्रभाव भासित होता है ।

---

१ लीलावती ५१ पृ० २६

२– वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक ।
सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित ॥
मध्येन स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीच मध्यमकल्पित । सा० द०

३– मदनकेतु चरित १८ पृ० ३८

४ मालविकाग्निमित्र चतुर्थ अक

५– प्रियदर्शिका, अक पृ० ५३

६– भगवदज्जुकीयम् (देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय म प्रहसनो की चर्चा पृ० १६४-६५)

(नेपथ्ये)

कष्टं कष्टं केलिकान्तारदेशे कुर्वाणासौ स्वैरं पुष्पावचायम् ।
दिष्टादिष्टा दुष्टसर्पेण दष्टा दिष्टान्तं च प्रापितानङ्गलेखा ।

तुलना कीजिये-

राजा – मा कातरो भू । अविषोऽपि कदाचिदृशो भवेत् ।
विदूषक – कह ण मारिस्स सिमसिमायन्ति मे अङ्गाइ । (इति विषवेग रूपयति)

विदूषक – भो वअस्स कहं तुम मूढो विअ विट्ठसि ण एसो विसादस्स कालो । विसमाकत्र गई विसस्स ता दमेहि अपभणो विआसहाव

इष्टसिद्ध्यर्थ यौगिकशक्तियों के प्रयोग के विषय में भी रामपाणिवाद बोधायन कवि से प्रभावित प्रतीत होते हैं । मदनकेतु में शिवदास इस शक्ति का प्रयोग करते दिखाई देते हैं और लीलावती में किसी सिद्धमती योगिनी द्वारा अभीष्ट की पूर्ति करवाई गई है ।

शृंगार लीलावती वीथी का अङ्गीरस है । दशरूपककार के अनुसार 'स्पृष्टेदपिरमान्तरम्' के पुष्ट्यर्थ चतुरलेखक ने शृंगार के साथ सिद्धिमती के योग बल की कल्पना करके इसमें अद्भुत रस को भी स्थान दिया है । यदि सर्पदंशन के प्रसङ्ग से भयानक रस का संचार होता है तो विदूषक की बातों से हास्यरस पुष्ट पड़ता है ।[1] कर्नाटक के ताम्रराक्षस से वीरपाल का युद्ध दर्शकों के हृदय में वीररस का संचार करता है—

(पुनर्नेपथ्ये)

कर्णाटे दृढमत्सरेण मनसा जाग्रति य प्रत्यहं
मित्रं तस्य बली कलिङ्ग–नृपतेस्ताम्राक्ष–नामासुर ।
मायाकर्मणि लम्पटः प्रियसखीमात्रानुयात्रामसौ
कष्टं कर्षति कौशिके गतघृणो लीलावती लीलया ।।

— — —

1- लीलावती पृ०, पृ० २५, लीलावती पृ० २६

(नेपथ्ये)

तिष्ठ तिष्ठ पापासुर। तिष्ठ।
सुस्निग्धे पेलवाली करज-विरचिते केशपाशे कृशाङ्ग्या-
स्तत्रोदग्र कराग्र सपदि निदधन् कालदण्डोपमानम्।
क्रूरक्रेङ्कारतारे धनुषि कृतपदस्सायको मामकीन-
श्चण्डस्ते कण्ठपीठी मृदुतरकदलीकाण्डलाव लुनातु॥

विदूषक – दिट्ठिआ कुविदो मे पिअवअस्सो। किंदु माआअ वि किं पवट्टेइ से पआवाणलो।

(दिष्ट्या कुपितो मे प्रियवयस्य। किन्तु मायायामपि किं प्रवर्ततेऽस्य प्रतापानल।)[1]

विदूषक के इन वाक्यों को पढ़ कर शाकुन्तल के षष्ठ अङ्क में शकुन्तला के वियोग में शोकाकुल दुष्यन्त के क्रोध को उद्दीप्त करने के प्रयत्न में रत मातलि के वचनों का स्मरण हो आता है।

मातलि –

किंश्चिन्निमित्तादपि मन सन्तापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्ट।
पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्त तथा कृतवानस्मि।... ...

कवि ने इस रूपक में शृगार रस के सर्वथा अनुकूल सरल एव सरस शैली अपनाई है जिसे शास्त्रीय भाषा में वैदर्भी रीति कह सकते हैं। इसमें दीर्घसमस्तपदयुक्त वाक्यों के अभाव से भावाभिव्यक्ति भी स्पष्ट है। ऐसा लगता है, जैसे भाषा कवि के वश में है।

वर्षा ऋतु में प्रकृति का मनोहर चित्रण कवि की अलौकिक वर्णना-शक्ति की परिचायक है। इसमें विरहविदग्ध प्रेमियों की मनोदशा का वर्णन भी बड़ा मार्मिक है। भीषण गर्मी के बाद प्रथम वृष्टि की फुहारों से मस्त होकर मयूर नर्तन करते हैं यथा–

१– लीलावती २१-२६

गम्भीर नीरदमृदङ्गरवाभिराम
भृङ्गाङ्गनामधुरगीत - कलामनोज्ञम् ।
विद्युत्प्रदीपकनिते विपिनान्तरङ्गे
नृत्तोन्मुख विनुते ननु नीलकण्ठ ॥[1]

मेघ रूपी मृदङ्ग के गम्भीर नाद और भौरों के गुञ्जन एवं भौंरों की झङ्कार रूपी संगीतकला से युक्त, चपला के प्रकाश से प्रकाशित वन प्रान्त में नीलकण्ठ नर्तन करने को तैयार है। यहाँ नीलकण्ठ का मोर के अर्थ में प्रयोग हुआ है। वर्षा ऋतु जहाँ हरे भरे पेड़ों, लताओं और मोरों को हर्षोन्मत्त कर देने वाली होती है, वहाँ विरहाकुल प्रेमियों की विरहाग्नि को उद्दीप्त करने वाली भी होती है।

विदूषक –......(विमृश्य)

विरहदहणदवडज्जमाणो
कुसुमसरासणबाणदूमिमाणो
कह ण वि (र ? त) सहज्ज मे वअस्सो
विरहिविमुग्धसाउमावटेवम् ॥ [2]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा)

बाणान् मदन पञ्चबाण। मधुपज्यावल्लरीमहितान्
मानस्या प्रसवैश्च कदामर्मी दूयामहे यद्वयम् ॥

कवि की कृतियों में महाकवि कालिदास की कृतियों का छायानुहरण भी देखने में आता है।

सूत्रधार — (सहर्षम्)

सुन्दरि। नव गीतिरियं हरति तथा मानसानि सामाजिकानाम् ।
आस्थानमणिस्तम्भैर्यथा न तथा भिदा भाति ॥ [3]

1– लीलावती ६, पृ ३
२ लीलावती १६, पृ० १
३– लीलावती, पृ० ३

तुलना कीजिये—

सूत्रधार—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।

एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥[1]

पावस चित्रण कालिदासकृत मेघदूत मे चित्रित वर्षा-वर्णन से मिलता जुलता है।

एत नूतनकेतकीदलगतान्धाम्बुधारारकिरा

स्निग्धेन्दीवरनीलनीरदघटासम्पर्कशीनोत्किरा ।

मन्दान्दोलितहूण वारतरूणी वेणीकलापस्रज

पौरस्त्या मरुतो न कस्य रभसादुत्कण्ठयेयुमन ॥ [2]

तुलना कीजिये—

पाण्डुच्छायोपवनवृतय केतकै सूचिभिन्नै [3]

— — —

वेणीभूतप्रतनु – सलिलासावतीतस्य सिन्धुः [4]

वर्षाकालीन प्राकृतिक शोभा विरहिणी लीलावती को रुचिकर नही प्रतीत होती। स्नान, भोजन एव शयन और सखियो के साथ मनोहारी आलापादि कृत्यो के प्रति उसकी उदासीनता इन पक्तियों से प्रत्यक्ष है।

न स्नाने न च भोजने न शयने धत्ते मनागादर

नादत्ते करणीयवस्तु घटनायत्त सखीना वचः ।

पयङ्क विरहय्य पल्लवमयी शय्या सदासेवते

कष्ट सम्प्रति वीरपाल विरहाल्लीलावती दूयते ॥ [5]

१- अभिज्ञान शाकुन्तल अङ्क-१ पृ० २४

२- लीलावती १८ पृ० १०

३- मेघदूत (पूर्वमेघ) २३ पृ० १४

४- पूर्वमेघ, २६ पृ० १८

५- लीलावती-११, पृ० ६

इस प्रकार भास कालिदासादि प्राचीन कवियों का अनुसरण करते हुए कविसम्प्रदाय में प्रसिद्ध "न विना विप्रलम्भेन शृंगारो पुष्टिमश्नुते" इस उक्ति की सार्थकता सिद्ध करते हुए कवि ने करुण विप्रलम्भ शृंगार का भी हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।

इसके अतिरिक्त इसके संवादों में कहीं-कहीं बहुत प्रभावोत्पादक पंक्तियाँ मिलती हैं जो लोक-व्यवहार में शिक्षाप्रद सूक्तियों के रूप में ग्राह्य हैं-

(क) को मिप्पिमज्जणं भएण मुत्तावलि उज्झदि (क शुक्तिभञ्जनभयेन मुक्तावलीमुज्झति।)

(ख) को दुग्धस्नानसमये आरनालं चिन्तयति।

(ग) कुत पङ्कजिनीं विना राजहंसस्य निर्वृति।

(घ) आमन्त्रित को मिष्टभोजनं परित्यजति।

एकांकी नाट्य साहित्य में वीथी रूपक को अधिकाधिक प्रेरणा देने की इच्छा से रामपाणिवाद ने चंद्रिका नामक वीथी की रचना की जिसमें वीथीरूपक रचना के लक्षणों का निर्धारण भी वे स्वयं करते हैं।[1] इसमें मणिरथ नामक किसी विद्याधर की कन्या चन्द्रिका और अङ्गराजचन्द्रसेन की प्रेम कथा वर्णित है। इस रूपक में राजा और विदूषक ये पात्रद्वय ही मंच पर आदि से अन्त तक रहते हैं, अन्य पात्रों के बीच वार्तालाप आकाशभाषित[2] द्वारा हुए हैं। नान्दीपाठ के अनन्तर प्रस्तावना में सूत्रधार के एकांकी अभिनय[3] को प्रदर्शित कर कवि ने भाण से इसका निकट

१- पात्रद्वयप्रयोज्या भाणवदेकाङ्किका द्विसन्धिश्च
आकाशभाषितवती कृत्रिमनिर्वृत्तभाषिनावीथी। चंद्रिका पृ० २.

२- (आकाशे)
मणिरथस्य सखा मणिशेखरो,
ननु भणाम्यहमङ्गमहीपते।
विरमबाण विमोचनतो रिपु,
रस खलु बाणपथादतिवर्तते॥ चंद्रिका-पृ० १०

३- (नान्द्यन्ते तत प्रविशति सूत्रधार:)
सूत्रधार -(परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)।
मारिष! इतस्तावत्। किं ब्रवीषि प्रयोजनन्तावदाकर्णयितुमिच्छामीति। तच्छ्रूयताम्-अद्यखलु प्रकाशराज्य-प्रकाशभूतस्य प्रताप-विवेक-विद्याविशेष शालिन श्री वीरराज-महाराजस्य आज्ञया शूलाग्रकीलितकीनाशस्य भगवन श्री परमेश्वरस्य कृष्ण-चतुर्दशी-महोत्सव-प्रसङ्गेन सङ्गतान्यामन्दा महाब्राह्मण परिषदि.
किं ब्रवीषि...
हन्त भो मारिष। तवसाहाद्याल्लब्धापितमर्थं प्रसाधयिष्यामि
विघ्नेश्वरप्रसादात् अङ्गनृपश्चन्द्रसेन इव। चंद्रिका-पृ० १-२

सम्बन्ध दिखलाने का यत्न किया है और भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट एकहार्य और द्विहार्य अभिनय का इस वीथी-विशेष मे एक साथ निर्वाह किया है। तदुपरान्त मधुरभोजनप्रिय विदूषक माण्डव्य एव किसी कल्पित प्रेमिका के विरह मे उन्मत्तराजाचन्द्रसेन मच पर प्रविष्ट होते हैं।

(तत प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा— (मानुस्मरण नि श्वस्य)

तद्वक्त्र शरदिन्दुसुन्दरतर नीलाब्जपत्रायते
ते नेत्र कुरुविन्दकन्दलरुचा कम्रस्म बिम्बाधर ।
स्तोकोद्भिन्नसुवर्णपद्मकुलप्रस्पर्द्धिनौ तौ स्तनौ
स्थूला सा जघनस्थली च किमिनो रम्य पदार्थान्तरम् ॥

विदूषक— (स्वगतम्) अहो नु खु एसा अदिगम्भीर
सहावो वि अत्तभव अजसुजाद यादो आरहिअ
अणारिसो विअभीसइ । जदोप आ अरकिातौवि
असु घणलवि स उव क्तो । होदु । पुछ्छि सदाव ।

— — —

राजा— वयस्य माण्डव्य—

कामप्यह कमलपत्रविशालनेत्रा,
नेत्राभिराम-रमणीय मुखेन्दुबिम्बाम् ।
बिम्बाधरामधिरतासरसाङ्गलक्ष्म्या
लक्ष्म्यास्मनाभिरिव लक्षितवान्कुमारीम् ॥

किसी गगनचारिणी शक्ति द्वारा निपातित मुद्रिका और प्रणयपत्रिका को देख कर राजा का प्रेमोन्माद बढता ही जाता है।

विदूषक—भो सा खु कुमारी कौणासहे कि कुल सम्भवा कि ।
मादुपिदु आर्काहि वाणि कि खिदति कि जाणादि अत्तभव ।
राजा—सखे । नैतदह जानामि। किन्त्वनन्तराति क्रान्तायामेव
रजन्यामेवमवलोकितेत्येतावदवगच्छामि ।

— — —

पद्य—

मद्वीक्षितानुरागैरविरलपुलकस्वेदकम्पालसाङ्गी ।
शृङ्गाराद्रैरपाङ्गैरनुगतहृदयाकूतमावेदयन्ती ।
किञ्चित्प्राननेन्दुसंरोधिनतनयनोद्युचीनुद्विकाक्ष्या-
मद्गुच्छामर्पयित्वा मम किमपि पुरस्तस्थुषी सा निरौत्सुक ॥

नायिका के नाम का पता लगभग नाटक के अन्त में लग पाता है। अतः दर्शकों में औत्सुक्य बना रहता है। ध्यानस्थ प्रेमान्ध राजा को मनोहारिणी प्रकृति भी दुःखद प्रतीत हो रही है—

(उभौ परिक्रम्योद्यानप्रवेशं रूपयतः)

राजा—(समन्तादवलोक्य) अहोनुखलु वसन्तारम्भरमणीयता वनोद्देशस्य ।

सर्वाङ्गीणप्रकटमुकुलश्रेणिमाणिक्यभूषा-
स्तान्तस्निग्धपल्लवविमलवस्त्रपट्टोत्तरीयाः ।
स्वङ्गद्भृङ्गमकरचिकुरभ्राजमानोत्तमाङ्गा
बालाशोकाविटपरिषदा विभ्रमं बिभ्रतेऽमी ।।

— ⊥ ⊥

(पुनस्सन्तापनाटितकेन)

मलयपवनो ममैव करोति सरोजिनी सरसमकरन्दामोदोद्रेकपुरोगमः ।
ममखलुनखे सन्तापाय प्रकम्पितचन्दनी-द्रुमवलदहिश्वासोद्गीर्णैर्वृतो विषवह्निभिः॥

इस एकांकी का आरम्भ ही विप्रलम्भ शृंगार से होता है। अतः इसमें शृंगार के साथ करुण रस का भी पूर्ण योग हुआ है। कहीं कहीं विदूषक की वाक्पटुता अवश्य ही हास्य की धारा बहाती है।—

विदूषक — — अनेण मुग्ध किरणावीरमाड पिट्ठेण उट्ठिमहणामं काडुम मोदओ मोदमोणि मनेम मनावदण सणु ठीअदि ।

शोकमग्न राजा के समक्ष नेपथ्य से विद्याधर द्वारा रहस्योद्घाटन होने पर निर्मल रात्रि भी प्रफुल्लित होते ही हैं और दर्शकों का कौतूहल भी दूर होता है। निस्सन्देह यह दृश्य रसिकों के समक्ष अद्भुत रस का आभास प्रस्तुत करता है।

(नेपथ्ये)

ब्रूते......कमपि मणिरथ्यो नाम विद्याधरस्त्वाम् ।
मत्पुत्री त्वद्गुणौर्वैरपहृतहृदया चन्द्रिका नाम कन्या
त्वत्पत्नी कल्पितेऽद्य मनुरेव मया त्वामनुप्रेषितेति ।।

अपिच–निशि दर्शित किलनिज वपुस्तया भवनार्पितश्च निजमङ्गुलीयकम् ।पुरतश्च–
ने स्वमदनार्तिबोधिका परिपातिता किल विलासपत्रिका ।[1]

इसी प्रसग मे किसी राक्षस द्वारा चन्द्रिका के अपहृत होने की बात को सुनकर नायक के हृदय मे दीप्तरस का उद्रेक भी होता है।

राजा– कोऽत्र भो ? धनुस्तावत् ।
— — —
राजा– धनुरादाय शर सन्धत्ते

इस प्रकार यहाँ भी कवि ने धनञ्जय के अनुसार 'न्यूनेतरस्थान्तरम्' का निर्वाह किया है । अङ्गुलीयक का देखकर राजा के मुख से निकले उद्गारो को पढ कर अभिज्ञान शाकुन्तल के छठे अङ्क मे इसी प्रसङ्ग मे मिलते-जुलते अवसर पर राजा दुष्यन्त द्वारा किये गये प्रलाप का स्मरण हो आता है ।

राजा– (समादवस्याङ्गुलीयक प्रति ।)
मत्पाणौ मणिमुद्रिके ननु धनुर्ज्याकृष्टिभिर्निनष्टुरे
ससतासि शिरीषकोमलतमान्तस्या विहायाङ्गुलिम् ।
आस्तामेतदित पर पुनरपि स्वैर ममैष्यामि ता–
मित्याशापि तवाद्य हन्त विधिना वामेन मोनीकृता ।।[2]

तुलना कीजिए–

राजा– (अङ्गुलीयक विलोक्य) मुद्रिके
कथ नु त बन्धुरकोमलाङ्गुलि
कर विहायासि निमग्नमम्भसि ?
अचेतन नाम गुणं न लक्षये–
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ।।[3]

१– चन्द्रिका, पृ० ६
२– चन्द्रिका पृ० १०
३ अभिज्ञानशाकुन्तल ६–१३ पृ० २२४ (एम० आर० काले द्वारा सम्पादित)

'चन्द्रिका' के नान्दीश्लोक में मेघदूत का भावानुहरण भी उपलब्ध होता है।

> चूडाचन्द्रो नरीनर्ति यामेवानुहरन्निव ।
> सा व सन्ध्यामुरे शम्भोस्त्रायतां ताण्डवप्रिया ॥[1]

तुलना कीजिए--

> नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां,
> शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥[2]

इसका अन्त भी चन्द्रिका एवं चन्द्रसेन के विवाह संस्कार के बाद सुन्दर सन्ध्या के वर्णन के साथ होता है जो कवि के सूक्ष्म प्राकृतिक निरीक्षण का परिचायक है। इन पंक्तियों में तारावस्त्र का अवगुण्ठन डाले सन्ध्या-वधू की चित्ताकर्षक छवि अंकित है-

> (समन्तादवलोक्य) सखे। परिणतश्चायमन्दिवस.।
> तथाहि
> याताभ्रान्तमरीचिपाटलमुखं तारालि-लाजाञ्जलि-
> मत्रैव प्रतिदीपिते पुनरमावन्यून-रागोदया।
> रक्ताभोद पटावगुण्ठनवती सम्प्राप्य सन्ध्यावधू
> र्स्वैरं यत्र च वासरं वरयते कालोऽयमालोक्यताम् ॥

भाणों की कोटि के रूपक होने पर भी कवि की इन वीथियों में शृङ्गार का चित्रण अश्लीलता-दोष से मुक्त है।

इस प्रकार इन दो वीथियों को वीथी का अच्छा दृष्टान्त माना जा सकता है। यद्यपि ये रचनाएं १८ वीं शताब्दी की हैं तथापि कवि ने इनमें नाट्यशास्त्रगत सिद्धान्तों का प्रायः पालन किया है। लक्षणग्रन्थों में प्राप्त वीथियों के कतिपय शीर्षकों तथा प्रकट रूप से उक्त वीथीद्वय के अनुशीलन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत वीथी-साहित्य की वीथी एकदम निर्जन नहीं है।

१- चन्द्रिका, पृ० १
२- पूर्वमेघ, ३८, पृ० २३

षष्ठम अध्याय

संस्कृत साहित्य में एकाङ्की उपरूपक

उपरूपक

रूपकों के समान उपरूपकों में भी कई भेद ऐसे हैं जो एकाङ्कियों की कोटि में रखे जा सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम एकाङ्की उपरूपकों की चर्चा करेंगे। इस विषय को प्रारम्भ करने से पूर्व उपरूपकों के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

संस्कृत-साहित्य शास्त्र में दृश्य-काव्य के रूपक और उपरूपक ये दो भेद किये गये हैं। नाट्य पर आधारित प्रेक्ष्य-काव्य रूपक तथा नृत्य पर आश्रित अभिनय प्रधान काव्य उपरूपक कहलाते हैं। नाट्यशास्त्र, दशरूपक, प्रताप-रुद्रीय (लगभग १४०० ई०) रसार्णव-सुधाकर (लगभग १४०० ई०) आदि नाट्य-लक्षण-ग्रन्थों में नृत्य प्रधान रूपकों के स्पष्ट उल्लेखों से भासित होता है कि पहले इन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं था। धनञ्जय द्वारा रूपलक्षण-शास्त्र का 'दशरूपक' नामकरण भी इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है। दशरूपककार ने कुछ उपरूपकों का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनका सोदाहरण विवेचन करने की उन्होंने विशेष आवश्यकता नहीं समझी। यद्यपि दशरूपकों के अतिरिक्त सत्रह अन्य अभिनेय-काव्य-भेदों के नाम

१- डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी-प्रस्थान-रासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्।
दशरूपक-प० २ (धनिककृत अवलोक)

इसे अग्निपुराण में उपलब्ध होते हैं किन्तु वहाँ भी उनकी सत्ता उपरूपक नहीं है।[1] उनके लक्षण एवं उदाहरण भी अग्निपुराण में नहीं दिये गये हैं।

इसी प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य (ईसोत्तर दसवीं शताब्दी का अन्तिम भाग) ने भी डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, षिद्गक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक नामक उपरूपकों का विस्तृत विवेचन-रहित नामोल्लेख मात्र किया है।[2] हेमचन्द्र ने (१०८९–११७२ ईसोत्तर) काव्यानुशासन में अभिनवगुप्त द्वारा कथित नामों में श्रीगदित और गोष्ठी को भी जोड़ दिया है। शारदातनय के भावप्रकाश में जिन बीस उपरूपकों की यथाविधि व्याख्या की गई है, उनके नाम हैं–तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य,-प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक (रासक) उल्लाप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक। अग्निपुराण आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपन्यस्त नृत्य प्रधान प्रेक्ष्य काव्य के भेदोपभेदों की तुलनात्मक सारणी पर एक सूक्ष्म दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि शारदातनय द्वारा उक्त बीस उपरूपकों में अग्निपुराण का तरण, नाट्यदर्पण का नर्तनक, साहित्यदर्पण का विलासिका एवं अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित डोम्बिका, भाणिका तथा रामाक्रीड ये तीन उपरूपक और जोड़ देने पर सम्पूर्ण उपरूपकों का भाण्डार में कुल मिलाकर छब्बीस घटा हो जाता है। नीचे की तालिका भेदों के इस विकास को समझने में सहायक होगी।

१ अग्निपुराण अध्याय ३३८ पृष्ठ ३१०	दशरूपक (ईसवी दसवीं शताब्दी)	अभिनव भारती (दसवीं शताब्दी का अंतिम भाग)
तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण (१७)	डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक, काव्य (७)	डोम्बिका, भाण, प्रस्थान षिद्गक, भाणिका, प्रेरण रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक (९)

१– व्यायोग–भाण–वीथ्यङ्क–त्रोटकाद्यथ नाटिका।
सट्टकं शिल्पकं कर्णा एका दुर्मल्लिका तथा॥
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा॥
उल्लाप्यकं प्रेक्षणं च सप्तविंशतिरेव तत्।
सामान्यं च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः अ० पु० ३–४, अध्याय १३८

२– नाट्यशास्त्र–ना० शा० भाग १ गा० ओ० सी० संस्करण, चतुर्थ अध्याय–पृ० १८१.

दूसरे कुछ एक नाट्यमीमांसक उपरूपक की परिकल्पना, रूपक के प्रचलन के बाद ही मानते हैं। जिस प्रकार दशरूपक के प्रणयन से पहले भी नाट्यशास्त्रविद् रूपक का प्रयोग करते हैं, परन्तु रूपक की दशविधाओं को रूपक नाम से अभिहित करने का श्रेय दसवीं शताब्दी के धनञ्जय को ही दिया जाता है। उसी प्रकार उपरूपक के निश्चित नामकरण का गौरव प्राप्त करने के अधिकारी साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ही हैं। इसका कारण स्पष्ट है। इनसे पूर्व के आचार्यों में हेमचन्द्र ने इन नृत्य भेदों को गेय रूपक और नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने 'अन्यानि रूपकाणि' पद से सम्बोधित किया है। अभिनवगुप्त[1] द्वारा एक स्थान पर इस प्रकार के प्रेक्षकाव्य को नृत्तात्मक कहने से भी यही व्यञ्जित होता है कि नृत्त पर अवलम्बित होने के कारण जिन प्रबन्ध काव्यों में नाटकीय तत्वों का अभाव था उन्हें रूपक के वर्ग में स्थान देने में साहित्यविदों को संकोच होता था। इस प्रकार उपरूपकों के उद्भवकाल का निर्धारण भी संस्कृत साहित्य की कठिनतम समस्याओं में से एक है। आधार-ग्रन्थों का अभाव भी इसका एक कारण है। परन्तु उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि गौण रूपकों के बीज भी भारत में बहुत पहले से विद्यमान थे, जिनका विकास जनसामान्य में प्रचलित नृत्य नाटकों के आधार पर हुआ। इनका उल्लेख नाट्यशास्त्रकार भरत ने तो नहीं किया, परन्तु शारदातनय, रामचन्द्र तथा आचार्य विश्वनाथ जैसे उत्तरवर्ती नाट्य-लक्षणवेत्ताओं ने अपने साहित्य-शास्त्रविषयक ग्रन्थों में किया है। चौदहवीं शताब्दी के अन्त अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ये प्रबन्ध काव्य नृत्य का अवलम्ब लेने के कारण उपरूपकों के निकट पहुँचने लगे और साहित्यदर्पण के निर्माण काल तक प्रेक्षणीय एवं रोचक वस्तु बन गये। इस समय तक उनका पर्याप्त प्रचार हो चुका था। केवल काव्यशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों में ही नहीं अपितु साहित्यिक-कृतियों में भी उपरूपकों द्वारा जनता के मनोरंजन किए जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

1- अन्यदपि प्रेरणरामाक्रीड कराभहल्लीसकादिसन्दर्भबहुत्ववैचित्र्यकृतमिहैव प्रविष्ट वेदितव्यम्।

उक्तं चिरन्तनैः-(एते प्रबन्धाः नृत्तात्मका न नाट्यात्मकनाटकादिविलक्षणाः)

ना० शा० भाग १ गा० ओ० सी० संस्करण-चतुर्थ अध्याय पृष्ठ १८१

यथा—

दामक –मातुल । एव्व दाव चिट्ठदु । अज्ज भट्टि दामोदलो इमस्सिं वुन्दावणे गोवकण्णाहिं सह हल्लीसअं णाम पक्कीलिदुं आअच्छदि । (मातुल । सर्वं तिष्ठतु अद्य भर्तृ दामोदरोऽस्मिन् वृन्दावने गोपकन्याभिः सह हल्लीसक प्रक्रीडितुमागच्छति) ।

दामक – आम् भट्टा । सव्व सण्णद्धा आअदा ।
(आम् भर्तः । सर्वे सन्नद्धा आगताः ।)

दामोदर – घोष सुन्दरि । वनमाले चन्द्ररेखे मृगाक्षि । घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसक–नृत्तबन्ध उपयुज्यताम् ।

दामोदर –प्रथमा भवान् ननु ।[1]

क्वचिन्नृत्यावलासजनालिकागणत्वरा नृत्यतां निनादेन –पुरपालमाविनुमुजिघ्राः रासक मण्डलैः मगधादेव इव कृष्णामणिशिरोमणि नाट्यकेन इव चन्दन-ललाटि-कामि, मकरन्द इव प्रतिपादकैः सम्राट इव प्रसादादानैरस्मरामाद ।[2]

इन उद्धरणों में भास बाणभट्टादि ने हल्लीसक, रासक आदि नृत्यों का जो हृदयहारी वर्णन किया है उससे भी प्रमाणित होता है कि लोकनृत्य-प्रधान उपरूपक केवल साहित्य शास्त्रों में ही वर्णन करने योग्य वस्तु नहीं थी प्रत्युत वास्तविक जगत् के दैनिककार्यों से व्यस्त होने के कारण श्रान्त जनसमुदाय इस प्रकार के मनोरञ्जक नृत्यों एवं उन नाटकों द्वारा अपना चित्तावर्जन करता था। समय-समय पर विवाह तथा पुत्र जन्म आदि मांगलिक उत्सवों के अवसर पर भी ऐसे आयोजन किए जाते थे। अतः प्राचीन भारत में उपरूपकों के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रूपकों का मानसिक प्रक्रिया से सम्बन्ध है और उपरूपकों का सम्बन्ध शारीरिक क्रिया से है। उत्सव की दुनिया में शोभावृद्धि के लिये इनका उपयोग होता है भले ही उनके द्वारा भाव प्रदर्शन भी हो जाय।

१– बालचरित (गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित) – पृ० ४१.

२– हर्षचरित (पी० वी० काणे द्वारा सम्पादित) पृ० ७

एकाङ्की उपरूपक–

यहाँ हम एकाङ्की उपरूपकों की चर्चा करेंगे।

गोष्ठी की चर्चा अभिनवगुप्ताचार्य ने नहीं की है परन्तु "शृंगार प्रकाश" के एक छोटे स्थान में इस एकाङ्की पर जो विचार किया गया है, उससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि गोरूप कैटभद्विट् (दामोदर) की विचेष्टा, यमलार्जुन-मोक्ष, त्रिशासुरवधादि की कथाएँ ही इसका प्रमुख विषय बनती हैं। साथ ही इसमें गोपालकों की सामूहिक बाललीलाएं भी प्रदर्शित की जाती हैं। अतः गोष्ठी शब्द का सम्बन्ध गोप समुदाय वाची 'गोष्ठ' शब्द से अवश्य होना चाहिये। भोजराज के पश्चात्वर्ती नाट्यमीमांसक शारदातनय के भावप्रकाश में भोज-कृत शृंगारप्रकाश द्वारा वर्णित लक्षणों का अनुहरण प्रत्यक्ष देखने को मिलता है।[1] नाट्यदर्पण[2] में भी शृङ्गार-प्रकाश कृत गोष्ठी की परिभाषा प्रतिबिम्बित है। विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में भी गोष्ठी नामक उपरूपक इसी रूप में दिखाई देता है। विभिन्न नाट्यशास्त्र-कोविदों द्वारा की गई परिभाषाओं का समाहार संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है। यथा–

गोष्ठी में पाँच या छे सुन्दर स्त्रियाँ (नायिकाएं) होती हैं, और नौ या दस गंवार पुरुष पात्र (अविदग्धप्राकृतजन)। उदात्त नायक नहीं होता, हाँ वह ललित नायक हो सकता है।[3] गर्भ और अवमर्श सन्धियों का इसमें सर्वथा अभाव रहता है। उदात्त वचनों की योजना तो इसमें नहीं होती परन्तु कैशिकी वृत्ति प्रयुक्त होती है। ललितशृङ्गार की इसमें प्रधानता होती है। इसमें युद्ध, संघर्ष आदि के दृश्य नहीं दिखाए जाते। साहित्यदर्पण में "रैवतमदनिका" का नाम इसके उदा-

१– भावप्रकाश नवमअधिकार–पृ० २५६.

२– गोष्ठे यत्र विहरतश्चरितमिह कैटभद्विषः किञ्चित्।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति॥ ना० द०, गा० ओ० पृ० २१४

३– प्राकृतैर्नवभिः पुम्भिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकी वृत्तिशालिनी॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता।
कामशृङ्गार संयुक्ता स्यादेकाङ्क–विनिर्मिता। यथा रैवतमदनिका
सा० द० ६, पृ० ३६५.

हरणस्वरूप लिया गया है और शुभङ्कर[1] ने सत्यभामा नामक गोष्ठी का उल्लेख किया है। यह एक प्रकार का नृत्त रूपक है।

अभिनव भारती में कतिपय आचार्यों के उद्धृत किए गये नृत्त रूपकवर्णन परक श्लोकों से भी ध्वनित होता है कि इन रूपकों में त्रिपुर दाह आदि अविवेकी पशुओं का चरिताङ्कण होता था। ... राघवन् ने भावप्रकाश शृङ्गार प्रकाश पर विवेचनात्मक बृहद्ग्रन्थ में विभिन्न (दशावतार) रूपों में अवतारण विष्णु भगवान् से इनका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। समस्त भारतीय नाट्यशास्त्र और उसमें कथित ताण्डव एवं लास्य नृत्त पहले शैव सम्प्रदायगत विचारों से प्रभावित था। बाद में नाट्यशास्त्र में वृत्ति के रचयिता के रूप में हमें विष्णु के दर्शन होते हैं। फलत, गोष्ठी रासक नाट्यरासक हल्लीसक आदि नृत्त प्रधान अभिनयों में जो प्राय एक दूसरे से साम्य रखते हैं कृष्ण ने नायक तथा राधा ने और गोपियों ने नायिकाओं का स्थान ग्रहण कर लिया। संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय तथा साहित्यिक ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से इसकी पुष्टि हो जाती है।

साहित्यदर्पण में सङ्कलित रूपक तथा उपरूपक के भेदोपभेदों में क्रम-संख्या के अनुसार गोष्ठी के अनन्तर (एकाङ्की उपरूपकों में) नाट्यरासक[2] का नाम आता है। इसका नायक उदात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। इसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। साथ ही शृङ्गार का भी समावेश रहता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा लास्य के दस अङ्गों की योजना होती है। इस प्रकार इसमें नाच गान[3] की प्रमुखता

1- एकाङ्का कथिता गोष्ठी कैशिकी वृत्तिसंयुता।
सभागरूपरूपा पञ्च मार्गाभियोगसंस्थिता॥
प्राकृतनर्म परिहासनिर्वाप्यलङ्कृता।
गर्भविमर्शसन्धिभ्यां हीना प्राकृतसम्मता॥
वायरविरचितवक्रविचारणे। यथा सत्यभामा। शुभङ्कर (भरतकोश में उद्धृत)

2- नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति।
तत्रसन्धिद्वयवती। यथा नर्मवती।
सन्धि चतुष्टयवती। यथा विलासवती। सा० द० ६, पृ० २६५ ६६

3- वसन्तसमये यत्र देशी हिन्दोलगीतिभि।
नर्तकीभिर्द्वित्रस्त्रुतार्थैरभिनीयते॥
तन्नाट्यरासक प्रोक्तं देशीनृत्तविशारदैः। वेम (भरत कोश में)

रहती है तथा इसका विषय प्रेम होता है। कोई-कोई इसमें प्रतिमुख सन्धि को छोड़कर शेष सन्धिचतुष्टय का होना मानते हैं। परन्तु दो सन्धियों के नाट्य-रासक का नाम भी साहित्यदर्पण में मिलता है। यथा—चार सन्धियुक्त नाट्य-रासक का नाम है विलासवती और दो सन्धियोंवाले इस वर्ग के उपरूपक का शीर्षक है, नर्मवती।

नाट्यरासक पद से मिलता जुलता रासक[1] अथवा लासकलासक एक और एकाङ्की उपरूपक का वर्णन नाट्य शास्त्र-विषयक ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जिसमें हास्य एवं मनोरञ्जन की प्रधानता होती है। रासक में नायिका को अधिक चतुर तथा नायक को मूर्ख के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसमें कुल पाँच पात्र होते हैं।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की पुरातन कृतियों में रास अथवा रासक शब्द के प्राप्त न होने के कारण बहुत से मनीषी राजस्थानी तथा अन्य देशी भाषाओं में रासो एवं रासक शब्दों के प्रत्यक्ष प्रयोग को देख कर रासक पद को प्राचीनतम आर्यभाषा संस्कृत से आया[3] न मानकर किसी देशी भाषा से निकला हुआ मानते हैं—

"रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्यरचना को जो रास के नाम से ही प्रसिद्ध थी, संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है और यह रास जिसका सम्बन्ध ग्वालों से प्रचलित देशी नाटक से हो सकता है संस्कृत नाटक से उपहृत[3] नहीं माना जा सकता।"

1— रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषा विभाषाभूयिष्ठं भारती-कैशिकीयुतम् ।।
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ।। यथा—मेनकाहितम् ।।
सा० द० ६ पृ० ३६७

२— हिन्दी नाटक उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा -पृष्ठ ७६

३— (क) रस् आस्वादन-स्नेहनयोः । सिद्धान्त कौमुदी ७-३-३२,
(ख) लस् श्लेषणक्रीडनयोः सि० कौ० (पाणिनीय धातु पाठ।) ३-१-३८

वैदिक तथा लौकिक

ठीक है कि वैदिक तथा लौकिक साहित्य में "रासक" का अतिप्राचीन प्रयोग अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है परन्तु यह कहना कि रास एवं रासक पद में निहित हर्षोल्लास के भावों के द्योतक पद संस्कृत-साहित्य के भण्डार में थे ही नहीं जिनसे भारतीय देशी भाषाओं को यह प्रेरणा मिल सकती, न्याय्य नहीं है। रास और रासक शब्द स्वयं इसके प्रमाण हैं।

धातुपाठ

पाणिनीय धातु पाठ में एक चुरादिगणीय रस् धातु आस्वादन के अर्थ में और एक भ्वादिगणीय लस् आलिंगन तथा क्रीडन के अर्थ में मिलती है। विभिन्न अभिधान कोषों में शब्द करने के अर्थ में प्रयुक्त वैदिक रस धातु भी बतलाई गई है। उससे रसना (रशना) शब्द बनता है जिसका अर्थ है करधनी। किङ्किणियों को भी रसना कहते हैं। इन धातुओं के भाव को रास और रासक शब्द में भर दिया गया है।

सिद्धान्त कौमुदी

सिद्धान्त-कौमुदी में निर्दिष्ट उक्त रस (आस्वादनार्थक) तथा लस् धातु के मेल से ही 'रास' शब्द बना होना चाहिये। "रलयोरभेद" नियम के अनुसार 'र' का 'ल' में परिणत हो जाना कोई कठिन बात नहीं है। प्राणिमात्र के हृदय में स्थित आनन्दोल्लास की भावना को मूर्त रूप में प्रकट करने वाली नाचने-गाने की क्रिया प्रत्येक जीव में समान रूप में व्याप्त रहती है। आनन्द में लोग नाच-नाच कर गा उठते हैं। अतः रासक अथवा रास शब्द की रचना के विषय में जो आपत्ति ऊपर उठाई गई है उसमें कोई तथ्य नहीं है।

नाट्य-रासक और रासक के वर्णों पर एक सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर भासित होता है कि इनका सम्बन्ध "रास" नृत्य से रहा होगा। विभिन्न मनीषियों ने रास शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न प्रकार से की है। एक मत के अनुसार रास पद रस का बहुत्व वाचक है-'रसानां समूहो रास' तथा रसो वै सः'। सिद्धान्तवादियों के अनुसार रस का नामान्तर है 'ब्रह्म'। महारास में एक ही कृष्ण अनेकों कृष्णों के रूप में दिखलाये जाते हैं। ब्रह्म तो एक ही है ऐसी शङ्का का समाधान भागवत में कथित "तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरिति" वाक्य के अनुसार प्रत्येक गोपिका के साथ एक कृष्ण ब्रह्म रास नृत्य करते दिखते हैं। एतदर्थ इस नृत्य प्रधान उपरूपक का नामकरण हुआ रासक।

द्वितीय मत के अनुसार "रस उत्पद्यते यस्मात् स रासः" अर्थात् जिसमे रस उत्पन्न हो वह रास कहलाता है। रासलीला में नृत्य एवं संगीत द्वारा रस की सरिता बहाई जाती है। इसीलिये इस भाव-प्रधान नाट्य शैली को रास कहते है। तृतीय मतावलम्बियों के कथनानुसार जिसमे स्त्रियाँ और पुरुष हाथ बाँध कर मण्डल बनाकर नर्तन करें वह नाच रास कहलाता है।[1] रास-नृत्य एवं पाश्चात्य पद्धति के सामूहिक नृत्य "बाल डान्स" मे बाह्य साम्य को देख कर कतिपय विचारक उक्त विदेशीय नृत्य को रास के समकक्ष रखने का प्रयास करते हैं परन्तु इन दोनों मे निहित भावनाओं मे पर्याप्त अन्तर है। भारतीय सामूहिक नृत्य रास मे धर्म की भावना छिपी है और उक्त द्वितीय प्रकार के नृत्य में शुद्ध मनोरञ्जन की। ऐसी स्थिति मे दोनों को एक ही वस्तु मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। चौथे मत के अनुसार केवल नृत्य एवं गान से युक्त अभिनेय कृति रास नही कहला सकती। पाँचवे मन्तव्य के अनुसार, जो उक्त मतो से सर्वथा भिन्न ज्ञात होता है, रास की उत्पत्ति रस धातु से मानी जानी चाहिये। इसके अनुसार चिल्लाने के अर्थ की द्योतक रस[2] धातु का सम्बन्ध पशुपालन नृत्य से जोड़ा जाता है। यह नृत्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में संगीत की विविध कलाओं से सम्पन्न न था। उस समय इस प्रकार के सामूहिक नृत्य मे नर्तक बीच-बीच मे जोर-जोर से चिल्ला उठते थे। कालान्तर में संगीत तथा कला के विकास के साथ लोक नृत्य मे भी परिवर्तन हुआ और इसने एक कलात्मक रूप धारण कर लिया। नाट्यरूप की दृष्टि मे यह रास[3] जो कृष्ण की

१- स्त्रीभिस्त्र पुरुषैश्चैव धृतहस्तै नमस्थितै ।
मण्डल स्थित नृत्य स रास प्रोच्यते बुधै ॥

२- Rasa is thus not to be derived from Rasa but from Rasa root which means to cry aloud, which may refer to the very primitive form of this dance when the proportion of music and artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance.

Types of Sanskrit Drama, Mankad, Page 143.

३- मण्डलेन तु यन्नृत्त हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणा यथा हरि ॥
अनेक नर्तकी-योज्य चित्रतालयान्वितम् ।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥

ना० शा०, गा० ओ० सी० संस्करण – पृ० १८१

\+ \+ \+

"रासस्तु गोदुहा नीडा" हारावली

गोपियों के साथ रचाई गई लीलाओं से सम्बद्ध है। संस्कृत के गोष्ठी नाट्य रासक काव्य श्रीगदित और हल्लीश जैसे एकाङ्की उपरूपकों के अधिक निकट प्रतीत होता है। इनके संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन से यह बात स्वयं पुष्ट हो जाती है

रास में कृष्ण के चारों ओर गोपियाँ नाचती हैं। हल्लीश में एक नायक होता है और अनेक नायिकाएँ होती हैं। रास में जितने पुरुष पात्र होते हैं उतनी ही स्त्री पात्र भी। (क्योंकि कृष्ण अपने अनेक रूप धारण करके एक-एक गोपिका के साथ नाचते दिखते हैं) अभिनवगुप्त कोहल भामह आदि ने रासक के जो लक्षण दिये हैं उनमें एक विशिष्ट लक्षण यही मिलता है कि रास स्त्री पुरुषों का सम्मिलित मण्डलाकार नृत्य है। इसमें कभी-कभी केवल स्त्रियाँ ही नाचती हैं। भोजराज के शृङ्गार प्रकाश में कहा भी गया है कि जब हल्लीश नृत्य का किसी विशिष्ट ताल में नर्तन होता है तब वह रास में परिणत हो जाता है।[1] भोजराज रास को शुद्ध रूप में स्त्रियों का ही नृत्य मानते हैं, जिसमें सोलह बारह या आठ नर्तकियाँ भाग ले सकती हैं। शृङ्गार प्रकाश में उपलब्ध उपरूपकों के वर्णन में यह भी विदित होता है कि रास या रासक के ही समान नाट्य रासक भी वसन्तकाल[2] में ऋतुराज के स्वागतार्थ नर्तकियों द्वारा दिखलाया जाने वाला एक नृत्य प्रधान नाट्यविनय है। इसे यहीं चर्चरी भी कहा गया है। भोज के अनुसार इसमें पिण्डीबन्ध गुल्म शृङ्खला, भेद्यक, लाटादि तालभेद विभिन्न वाद्यों के साथ लास्य तथा नाट्य रासक में ही प्रदर्शित किये जाते हैं। इसी रासक अथवा नाट्यरासक को राजानक रत्नाकर के हर विजय नामक महाकाव्य में रासकाङ्क भी कहा गया है। इसके टीकाकार अलक ने कोहल का प्रमाण देते हुए इस

१- तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते।

२ पाण्ड्य [illegible] वा यश्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः। शृङ्गारप्रकाश

× × ×

न पदैरभिप्रायेण मनुवायन्त्यपि [illegible] ॥

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।

[illegible] ॥

चचरीति [illegible] तु।

प्रविष्य [illegible] शृङ्गारप्रकाश द्वितीय भाग एकादशप्रकाश - पृ० ४६८

आठ, सोलह या बत्तीस नर्तकियों का नृत्य[1] बतलाया है। अभिनवगुप्त, भोजराज तथा रामचन्द्र ने भेज्जल कवि के 'राधाविप्रलम्भ' (राधाप्रलम्भ) नामक रासकाङ्क का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है।[2]

भोजराज के अतिरिक्त शारदातनय[3], वेमभूपाल[4], शुभकर[5] आदि अन्य अलंकार-शास्त्रविदों के ग्रन्थों में रासक एवं नाट्यरासक के शास्त्रीय लक्षणों में संगीत तथा नृत्य के वर्णनाधिक्य को देख कर बहुत से मीमांसकों ने इसकी गणना नृत्यकोटि में की है। किन्तु साहित्य दर्पण में (जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) इसके शास्त्रीय विवेचन को देखने पर ज्ञान होता है कि 'रासक' नृत्य ही नहीं, प्रत्युत एक प्रकार का एकाङ्की उपरूपक भी है। नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों को देखने से मालूम होता है कि रासक नामक उपरूपक के तालरासक, दण्डरासक एवं मण्डलरासक – ये तीन भेद होते हैं। तालरासक तालबद्धनृत्य, दण्डरासक (दाण्डियारास) दण्डों को बजाकर किया जाने वाला नृत्य होता है। आन्ध्रप्रदेश में प्रचलित "कोलाट" नामक लकुट-नृत्य इस दण्डरासक का स्मरण दिलाता है। रामेश्वर जैसे देवालयों में स्त्रियों एवं बच्चों के कोलाट नृत्य करते हुए चित्र अंकित हैं।

कभी शिष्ट-साहित्य से लोक-साहित्य तथा कभी लोक-साहित्य से शिष्ट-साहित्य प्रभावित होता रहता है। नाट्य-साहित्य का तो लोक जीवन से

१– रासकाङ्कश्च कोहलाद्यो नाट्यप्रकारः। उक्तं च –
अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद् यत्र नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं विदुः॥

२– (क) यथा भेज्जलविरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाङ्के ...
ना॰ शा॰ अध्याय १८ (भाग २) गा॰ ओ॰ सी॰ पृ॰ ६६
(ख) यथा भेज्जलविरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाङ्के परिकरः –
परिन्यासनयारम्भपर्यन्तं ग्रन्थनात् तन्निबन्धः॥ ना॰ द॰ भाग १, पृ॰ ११६

३– भा॰ प्र॰ नवम अधिकार पृ॰ २६४.

४– अनेक नर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥ वेम॰ (भरतकोश से)

५– सूत्रधार-विहीनं स्यादेकाङ्कं तु रासकम्।
उत्कृष्ट-नायिकायुक्तं कैशिकी-भारतीयुतम्॥
केचिद्वदन्ति गोष्ठीनां क्रीडारासकमित्यपि॥ शुभङ्कर (भरतकोश से)

अविच्छेद्य सम्बन्ध है। भारतीय नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी नाट्य की चर्चा का पढन मे भी यही सिद्ध होता है। रासक, नाट्य रासक जैसी अभिनय शैली में संगीत तथा नृत्य के प्राधान्य और आधुनिक तमाशा, रासलीला आदि जननाट्यों मे संगीत नृत्य की प्रचुरता को देख कर ऐसा लगता है कि इस प्रकार के नृत्यात्मक अभिनयों में ही संवाद की योजना करके नाट्य शास्त्रविदो ने इन्हें उपरूपकों की संज्ञा प्रदान कर नाट्य-साहित्य मे स्थान दिया होगा। इनके मुख्य विषय की प्रेरणा व्रजभूमि में की गई 'श्रीकृष्ण' की लोकप्रिय रास-लीलाओं से ही मिलती रही है। संभवत, प्रमुखरूपकों की भांति इनमें वाचिक आङ्गिक, आहार्य और सात्विक अभिनय की सम्यक योजना न होने में तथा केवल नृत्य के आधिक्य के कारण नाट्यजगत् में उपरूपकों का अधिक प्रचलन नहीं हो सका। ये प्रमुख रूप मे केवल जनसाधारण (ग्रामीण जनता) के मनोरञ्जन की ही वस्तु बन कर रह गए। यही कारण है कि आज उपरूपक प्रकाशित रूप में नहीं मिलते। जन-नाट्यों मे ही उनकी छाया रह गई है। साहित्य-दर्पण मे मेनकानहित नामक रासक का नाम मात्र मिलता है। फिर भी विभिन्न लक्षण-शास्त्रों मे इनके उदाहरणों के नाम और भागवत पुराण[1] मे प्राप्त रास के प्राचीनतम वर्णन से इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि किसी युग में ऐसी अभिनय शैलियों का भी साहित्य मे स्थान था। भागवत पुराण, विष्णु पुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों में चित्रित लोकप्रिय रासलीला ने संस्कृत के परवर्ती साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। इसकी पुष्टि मे भास और बाणभट्ट की कृतियों मे रासक मे मिलते जुलते हल्लीसक नामक खेल और रासनृत्य के के उदाहरण इस परिच्छेद के आरम्भ मे दिये जा चुके है। इसके अतिरिक्त ७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे भट्टनारायण ने "वेणीसंहार" के नान्दीश्लोक मे राधा-कृष्ण के रास का सुन्दर वर्णन किया है।

> कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
> गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।

१– भगवानपि ता रात्री शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
× × ×
वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥
श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय २९–३३ पृ० २६६–२२४

२– गीतमेव स्वङ्गम्। तस्य लक्षणम्। उदात्तनायकमुज्ज्वलवेषात्मक बहुपुम्प्रधान दिव्यचरित विलासाङ्गविभूषित हास्यशृङ्गार-भूषित, यथा, देवी-महादेवम्।
सागरनन्दी (भरतकोश से)

इस श्लोक में कवि यमुना-पुलिन में केलिकुपित राधिका का अनुसरण करते हुये श्रीकृष्ण के उस रूप की वन्दना करता है जो राधिका के चरणस्पर्श में अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव कर गद्गद् हो उठा है। काव्य के विभिन्न रूपों में अङ्कित इस प्रकार के रासनृत्य के चित्रों से व्यक्त होता है कि पौराणिकाल से चली आने वाली रासपरम्परा सातवीं शताब्दी में भी लोकप्रिय थी और तत्कालीन साहित्य जगत् में भी रास के विश्ववन्द्य नायक श्रीकृष्ण उपास्य के रूप में मान्य थे। आगे चलकर इस अमृतमयी सरिता में हिन्दी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य भी अवगाहन करने लगे। आज भी रासलीला में रत राधाकृष्ण की जोड़ी के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करने वाला गुजरात का गर्बा नृत्य त्यौहारों के अवसर पर देखने को मिलता है। व्रज में भी "रास" के अभिनय में मानलीला देखने को मिलती है। इसमें नृत्य के साथ वाद्य-संगीत होता है। बीच बीच में संवादों का उच्चारण भी होता है। संवाद डाल देने से इसमें नाटकीयता आ जाती है।

एक अङ्क में समाप्त होने वाले उपरूपकों का उल्लाप्य, उल्लाप्यक या उल्लोप्यक[1] भी एक प्रभेद है। इसका विषय धार्मिक होता है (दिव्यकथायुक्त)। इस उपरूपक के धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ और शृंगार, हास्य एवं करुण रस होते हैं। संवादों के बीच में गीत भी समाविष्ट रहते हैं। इस उपरूपक के उदाहरणों की चर्चा करते समय प्रायः देवी-महादेव का नाम लिया जाता है। शारदातनय ने कुम्भर नामक उल्लाप्य का उल्लेख भी किया है। उन्होंने इस नृत्तरूपक के लक्षण उल्लोप्यक नाम से दिये हैं।

काव्य में केवल एक अङ्क होता है। इसमें आरभटीवृत्ति का अभाव और हास्य रस की व्याप्ति रहती है। इसकी शैली काव्यात्मक होती है तथा इसमें वर्णित कोई प्रेमकथा संगीत धारा में बहती हुई—एक अङ्क में ही समाप्त हो जाती है। नायक-नायिका दोनों उदात्त होते हैं। आचार्य कोहल ने उसका

---

1 उल्लाप्यकं स्यादेकाङ्कमेवमाश्रितमाहृतम्।
यथा देवीमहादेव यथा बालान-कुम्भरम्॥
दक्षिण नाच्यक न म त्यग गान प्रस्ता।
उ पक्षण च ग नवर्णिणय मनहमीरितम्। शारदातनय, भावप्रकाश नवम् अधिकार।
पृ० २६६

संगीत के राग[1] विशेष के अर्थ में भी प्रयोग किया है। इसी से इस लास्ययुक्त नृत्तरूपक में संगीत का प्राधान्य मिलता है। भोजद्वारा लक्षित काव्य[2] और चित्रकाव्य को देखने से भी ज्ञात होता है कि ये संगीत-प्रधान कृतियाँ श्रव्य-काव्य के अधिक निकट हैं। इनमें से पहले में एक ही राग अन्त तक रहता है और दूसरा विविधरागयुक्त होने के कारण चित्रकाव्य कहलाता है। अभिनवगुप्त काव्य को राग-काव्य कहते हैं। इस सम्पूर्ण गीति में एक पूरी कथा होती है। यह नृत्य-प्रबन्ध भी कहलाता है। अभिनव-भारती में इस संगीतात्मक कथायुक्त "काव्य प्रबन्ध" के अभिनेय काव्य में परिणत होने की चर्चा भी मिलती है।[3] जयदेव कवि के गीत-गोविन्द को भी चित्रकाव्य उपरूपक कहा जा सकता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि जयदेव की पत्नी ने स्वयं इसे अभिनय के योग्य बनाया था। भारत के किसी-किसी भाग में संगीत के साथ इसका आज भी अभिनय होता है। विट, चेट आदि हीन-पात्रों का भी इसमें समावेश रहता है। शारदातनय ने गौड-विजय तथा सुग्रीव-केलन[4] को इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। सागरनन्दी इसके उपलक्षण-ग्रन्थों की चर्चा करते हुए उत्खण्डितमाधव[5]

१- लयान्तर-प्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारस-सुनिर्वाह्य-कथं काव्यमिति स्मृतम्।
कोहल, नाट्यशास्त्र की टीका में उद्धृत प्रथम भाग पृ० १८२

२- आक्षिप्तिकाय धर्वो मात्रा ध्रुवकोऽप्यन्तवालश्च
काव्यमिति विविधराग चित्रमिति तदुच्यते कृतिभिः ॥ —शृङ्गार प्रकाश

३- अयोध्यते (राघवविजयादि) रागकाव्यादि प्रयोगो नाट्यमेव। अभिनययोगात्।
ना०शा०—चतुर्थ अध्याय (टीका) पृ० १७२ गा० ओ० सी० संस्करण

४- . ...
काव्य महास्य शृङ्गार सर्ववृत्तिसमन्वितम्।
सम्यग्मानद्विपदीखण्डमात्रा परिष्कृतम् ॥
एवं प्रकल्पयेत् काव्यं तद्गौडविजयो यथा ॥
विप्रभाणवणिक्पुत्र-नायकानायिकोज्ज्वलम्
मुदित प्रमदाभाषाचेष्टितैरन्तरान्तरा
अपि च विटचेटादिवेषभाषाभिरेव वा ॥
एवं वा कल्पयेत् काव्यं यथा-सुग्रीवकेलनम् ॥ भा. प्र. नवम अधिकार पृ० २६३

५- स्वरमानमात्राद्विपदी भग्न तालकादिविभूषितं
चतुर्निपुण शृङ्गारहास्यप्रधान गर्भविमर्शसन्धिशून्य एकाङ्कम्।
यथा-उत्खण्डितमाधवम्, —सागरनन्दी (भरतकोश में)

का नाम लेते हैं और अमृतानन्दी[1] माधवोदय का। साहित्यदर्पणकार[2] यादवोदय नामक काव्य का उल्लेख करते हैं।

उपर्युल्लिखित [illegible] उपरूपकों के अतिरिक्त नाट्यमीमांसाविषयक ग्रन्थों में प्रेङ्खण नामक एकांकी नाटक [illegible] की पारिभाषिक संज्ञा के भी दर्शन होते हैं। साहित्य दर्पण में इसका [illegible] 'गर्भावमर्शरहितम्' इत्यादि शब्दों में दे [illegible] गया है। [illegible], [illegible] और प्रकाशित [illegible] शब्द-कोशों में वही अर्थ [illegible] गया है जो अंग्रेजी में जेनरल शो (A show) का होता है। अपारिभाषिक अर्थ में (Non-technical sense) प्रेङ्खण एक दृश्य कृति (A dramatic representation) के अर्थ का द्योतक होता है। प्रेङ्खण और [illegible] धातु में व्युत्पन्न [illegible] और प्रेक्षण [illegible] शब्द एक दूसरे के स्थानापन्न [illegible] है। इस बात [illegible] व्यायोगों की चर्चा करते समय यहाँ भी [illegible] किया जा चुका है।

शारदातनय[3], भोज[4] सागरनन्दी[5] ने जो प्रेक्षणक के रूपक के रूप में [illegible] दिया है और [illegible] ने जो प्रेङ्खण की परिभाषा दी है उनका

---

१ [illegible]

[illegible] माधवोदय। अमृतानन्दी (भरतकोश से)

२– [illegible] हास्य [illegible]।
[illegible] ॥
यथा यादवोदयः। सा० द० ६ २८८ ८९ पृ० ३६७

३– [illegible] ललित च [illegible]। [illegible] ॥
भा० प्र० नवम अधिकार पृ० २६२

४– यस्य पदार्थ [illegible] ललितस्य [illegible]।
[illegible] लास्य [illegible] द्विपदादि॥
[illegible] प्रवर्तन [illegible]।
[illegible] प्रेक्षणक कामदहनादि।
शृङ्गार प्रकाश, (एकादश प्रकाश) पृ० ४६८.

५– [illegible] शौरसेनीप्रधान गर्भविमर्शरहित [illegible] च सर्व वृत्ति[illegible] प्रवेशका न कर्तव्या।
[illegible] कार्यनियुद्ध[illegible]।
[illegible] बहुल च अत्र तु [illegible] न विधेय।
यथा – वालिवध। सागरनन्दी (भरतकोश से)

तुलना कीजिये –
गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ यथा– वालिवध। सा० द० ६, पृ० ३६७,

तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी प्रेक्षणक एवं प्रेङ्खण के एक ही शब्द के पर्यायवाची होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त सागरनन्दी का प्रेक्षणक के उदाहरणों के प्रसंग में "वालिवध" का और विश्वनाथ का प्रेङ्खण के दृष्टान्त स्वरूप उक्त रूपक (वालिवध) के नाम का स्मरण करना भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। साहित्यदर्पण के अनुसार इस एकाकी (प्रेङ्खण) में गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ नहीं होती। इसका नायक कोई हीन-पुरुष होता है। इसमें सूत्रधार तथा विष्कम्भक एवं प्रवेशक का अभाव रहता है। नान्दी और प्ररोचना का नेपथ्य से पाठ किया जाता है। युद्ध और सफेट एवं सब वृत्तियाँ होती हैं।

प्रेङ्खण शब्द रूप के अनुसार उपर्युक्त प्रेङ्खण प्रेक्षणक, प्रेक्षणिक और प्रेक्षणीयक इत्यादि शब्दों का प्राकृत रूप प्रतीत होता है। किन्तु कभी-कभी कोई शब्द सामान्य अर्थ छोड़ कर किसी विशेष पारिभाषिक अर्थ में रूढ़ हो जाता है। यह बात प्रेङ्खण पर भी लागू होती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त पद द्वय को एक-दूसरे का पर्यायवाची मानना अनुचित नहीं होगा। अभिधान कोशों के अतिरिक्त वात्स्यायन के कामसूत्र में भी प्रेक्षणक का सामान्य प्रेक्ष्य काव्य के अर्थ में प्रयोग मिलता है।[1] परवर्ती नाट्यकोविद भोजराज ने शृङ्गार प्रकाश में इसे उपरूपक घोषित किया है।

उपरूपकों का प्राचीनतम वर्णन हमें अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती में ही प्राप्त होता है। इसमें 'प्रेक्षणक" के दर्शन नहीं होते। इस प्रकार के उपरूपक में कामदहन के समान लोक प्रसिद्ध कथाओं को इसका विषय बनाया जाता है। उत्तर तथा दक्षिण भारत में प्रचलित "होलिकादहन" के कथा-वृत्त से इसकी समानता प्रतीत होती है। तमिल के कामण्डी (काम-दहन) में दो दल गीत गाते हैं जिनमें से एक में काम के दग्ध होने का वर्णन होता है और दूसरे में उसके सदा जीवित रहने का। इस प्रकार के गीत मराठी में लावणी कहे जाते हैं। शारदातनय ने एक स्थान पर नर्तक को भी प्रेक्षणक की संज्ञा दी है।

1- पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।
कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। ...
कामसूत्र (चौखम्भा प्रकाशन) १,४ १५-१६ पृ० १३०.

कामसूत्र तथा नाट्यदर्पण मे उपलब्ध वर्णन के निरूपण से ज्ञात होता है कि प्रेक्षणक राज-मार्ग पर, जनसमुदाय मे, चौराहो पर, देवमन्दिरो के प्राङ्गण मे, बटुकाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। रामचन्द्र ने भी इसके उदाहरणार्थ–"कामदहन" का ही उल्लेख किया है। इससे ध्वनित होता है कि उपरूपको का (विशेषकर प्रेक्षणक का) समाज में प्रचलित लोकनाट्यो से निकट का सम्बन्ध रहा होगा जिसमे गीत एव नृत्य की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के अभिनेय लोककृत्यो मे भाव प्रधान रहता है। इस प्रसग मे गुजरात के लोकप्रिय जन-नाटक भवाई की याद आ जाती है। भवाई मे विभिन्न भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। इस जन-मनोरजन के नाट्य मे शृङ्गार एव हास्य की प्रधानता रहती है साथ ही वीर तथा करुण का सम्यक् परिपाक भी देखने को मिलता है। गीत नृत्य से ओतप्रोत गुजरात के चौराहो एव देवालयों जैसे स्थानों पर अभिनीत होने वाले भवाई नाट्य प्रेक्षणक नामक उपरूपक के लक्षणों का निर्वाह करता है। रसिकलाल छो० पारिख ने भी "भवाई नु स्वरूप" मे इसका समर्थन किया है। प्रेक्षणको की नाममाला प्रथम अध्याय मे सकलित है।

यद्यपि इनमे से सबके सब ग्रन्थ प्रकट रूप से अब प्राप्त नहीं होते, तथापि इनकी उक्त सीपकमाला के दर्शन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य मे इस प्रकार के उपरूपको का प्रचलन अवश्य रहा होगा। यहाँ सक्षेप मे इन कृतियो की चर्चा करना अनुचित न होगा। उपर्युल्लिखित प्रेक्षणकावलि मे से विश्वनाथ के सौगन्धिकाहरण को (व्यायोगों का समालोचन करते समय) हमने व्यायोग की कोटि मे ही रखना उचित समझा है। अतएव इसे प्रेक्षणक-परिवार से अलग कर देना ही ठीक है।

संस्कृत-साहित्य मे प्रेक्षणकोद्यान का दूसरा सुमन है, काञ्चीपुर के निवासी कविशेखरवरदार्य के पुत्र कोलनाथ भट्ट का कृष्णाभ्युदय। प्रस्तुत प्रेक्षणक काञ्चीपुर के हस्तिगिरिनाथ के वार्षिक यात्रा-महोत्सव के अवसर पर रचा गया था।[1] यह ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हो सका था परन्तु श्री नरेन्द्र-

---

1– सूत्रधार– अद्य न सुप्रभात। यत्काञ्चीपुरस्य श्रीहस्तिगिरिनाथस्य
वार्षिक यात्रामहोत्सव समवेता सामाजिका समादिशन्ति
+ + +
सूत्रधार – (स्मरणमभिनीय) आर्ये किं न जानासि ? अस्ति खलु कविशेखर इति प्रथित समभिधानस्य वरदार्यस्य पुत्रेण लोकनाथभट्टेन विरचित कृष्णाभ्युदयनाम प्रेक्षणकम्।
[illegible]।

शर्मा ने इस कृति का सम्पादन तथा जबलपुर निवासी प्रो० जगदीशलाल शास्त्री ने इसका प्रकाशन करके संस्कृत-साहित्य के समक्ष एक खोई हुई निधि प्रस्तुत कर दी है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म की कथा का नाटकीकरण है। कवि की रमणीय रचना-शैली का नमूना इन पङ्क्तियों में देखा जा सकता है।

> कापि स्तन्यरसं प्रदातुमुचिता गोगाङ्गनाभूमिका
> या प्राप्ता तदसून्मह स्तनरसैं कृष्ण त्वमापीतवान्।
> अन्यास्त्वामिह विश्वमेत्कथमिति व्याहारिणीं मातर
> वीक्षन्स्मेर-मुखेन्दुरङ्कशयिनो मायाशिशु पातु न ॥

+ ×

सूत्रधार – अहोराग-सौभाग्यम्। (निरूप्य) स्पृशयति काव्यवस्तु गाथेयम्।[1]...

... ...

कृष्णाभ्युदय के अतिरिक्त भारद्वाज-गोत्रोद्भव महीसार के पुत्र सुदर्शन द्वारा रचित 'कुमारीविलसितम्'' नामक प्रेक्षणक का नाम भी प्रेक्षणक पुष्पिका में अंकित है। इस लघु उपरूपक में एक कुमारी की पुण्य कृतियों की कथा वर्णित है। यह कुमारी दक्षिण भारत के केरल के प्रपापुर की पूज्या दुर्गा ही है। इसकी एक प्रति व्याख्या-सहित भी रची गई थी जिसका ज्ञान हमें पाण्डु-लिपिमाला को देखने से होता है।

उन्मत्त राघव

संस्कृत-साहित्य के प्रकाशित इतिहासों में "उन्मत्तराघव" नामक दो एकांकियों का उल्लेख भी आता है जिनमें से एक के रचयिता हैं विजयनगर के हरिहर द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष, और दूसरी कृति के भास्कर कवि। विरूपाक्ष की रचना चौदहवीं शताब्दी में रची गई थी। भास्कर के उन्मत्तराघव में उप-लब्ध प्रमाण के अनुसार इसके कवि का दूसरा नाम विद्याचरण था।[2] इस

१– कृष्णाभ्युदय

२– सूत्रधार :– अद्य खल्वादिष्टोऽस्मि विमलतरनिजकीर्ति-कर्पूरकरण्डीकृत-निखिलब्रह्माण्डेन दिग्दन्तावलकुम्भमण्डल-मण्डनायमानप्रतापसिन्दुरेण सकलकलाकलापकोविदेन विद्यारण्य श्री चरणारविन्दवदन महोत्सव मिलितेनामुना सामाजिकेन, यथा–

> उन्मत्तराघव नाम प्रेक्षणकमुक्तवान्।
> भास्कर कविना मान्यस्तदद्यास्य निरूप्यताम्। उन्मत्तराघव पृ० २

प्रेक्षणकृति का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी का मध्यवर्ती भाग होना चाहिए। इसकी प्रस्तावना में इसे प्रेक्षणक कहा गया है। संस्कृत नाट्य-साहित्य में मध्य युग का यही एक प्रेक्षणक मिलता है।

रामायण में वर्णित सीताहरण से पूर्व कञ्चन-मृग लाने के लिये राम के द्वारा सीता को लक्ष्मण के सहारे छोड़ जाने की घटना भास्कर कवि के प्रस्तुत प्रेक्षणक का आधार है। राम की सहायता करने के लिए लक्ष्मण के चले जाने पर अकेली सीता के साथ कवि ने उसकी सखी मधुरिका की कल्पना की है किन्तु उस पुष्पावचयाय उद्यान को भेज दिया है।

सुभावने फूलों को बीनती हुई दोनों सखियाँ बहुत दूर पहुँच जाती हैं। इसी बीच सीता किसी ऐसे उपवन में पहुँच जाती हैं जहाँ पहुँच कर कोई व्यक्ति दुर्वासा ऋषि के शाप के कारण हरिणी का रूप धारण कर लेता है। फलत सीता भी हरिणी बन जाती हैं।

अगस्त्य – तस्मिन्नवसरे तेषु तेष्वरण्येषु तीव्रतपःशक्तिमहेन्द्रेण विसृष्टाना चरन्तीना मध्य हरिणीं नाम काचिदेतत्तपोवन प्रविश्य पुष्पाण्य चिनोत्।

राम – हन्त, महान् प्रमादः।

अगस्त्य – तत परमभिषेकायागच्छन्नय दुर्वासास्तामवलोक्य–'अये हरिणि, यतोऽस्मद्देवताचनोचितानि कुसुमान्यवचिनोषि, ततस्त्वन्नामसदृशी मेवाकृतिमेहि' इति शशाप। तदानीमेव परित्यज्य वनमिदमन्तर्हितश्च।[1]

इस रूप में सीता को न पहचान सकने के कारण सखी मधुरिका तो दुखी हो ही जाती है उसके पति देव रामभद्र की विरह वेदना भी प्रचण्ड हो उठती है। यहाँ कवि की लेखनी से विप्रलम्भ शृंगार का मनोहारी चित्रण हुआ है। नायक नायिका के होने वाले वियोग का आभास इस उपरूपक के आरम्भ में भ्रमरभ्रमरी के विलग होने की घटना में मिल जाता है।

१– उन्मत्तराघव पृ० १५

सीता – (सदृष्टिक्षेपम् ।) हा, इदो ममरोकिणिमित्त समनन्तो देसु देसु सदाविडवेसु कुसुमकाडरेसु आलुठन्तो परिभ्रमई ।

मधुरिका – (विभाव्य ।) हा, मअरन्दपाणणिब्भर पक्खदाए पल्लवन्तरिद इम महुअरि भमरि अविसमन्तो अविलोमएा वेअणाए-गुण उम्मत्ता मनुआ ।

मधुरिका–अम्हहे । सविसेस रमिअ सो विएमा महुअरि ण पेक्खदि ।
सीता – महुअरि मजानन्दिम् ।[1]

यहाँ सम्भवतः का या म चित्रित धीरोदात्त नायक श्रीराम सीता से वियुक्त होने पर साधारण मनुष्य की भाँति उन्मत्त हो जाते हैं जो उनके कुलशील के अनुरूप नहीं प्रतीत होता । उनका यह रूप सम्भवतः नाटक के कामुक नायक का सा दिखाई देता है । इस प्रकार 'उन्मत्त राघव' के रूप में प्रयुक्त या प्रेक्षणक के लक्षणों में निर्दिष्ट नायक के गुणों से युक्त (धीरोदात्त) प्रतीत होते हैं । इस लघु प्रेक्षणक पर कालिदास के प्रसिद्ध नाटक विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है । उन्मत्तराघव में चित्रित विरहविदग्ध राम का प्रलाप विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में वर्णित (उर्वशी के लता रूप में परिणत हो जाने पर) नायक पुरूरवा के विलाप से मिलता जुलता है ।

उर्वशी – (जा किल ...... परिणत में रूपम्) या

किल स्त्री इम प्रदेश प्रविशति सा लतामात्रेन परिणमतीति कुमारस्याय शापान्त गौरीचरणरागसमुद्भवं मणि विना तत्रो न मोक्ष्यत इति ।

ततोऽहं गुरुशापसमूढहृदया देवता समयविस्मृता यद्धीनानुगा स्त्रीजन-परिजनहरणीय कुमारवन प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्त-वर्तिवासान्ते लताभावेन परिणत मे रूपम् ।[2]

\+ \+ \+

१– उन्मत्तराघव पृ० ४

२– विक्रमोर्वशीय – अङ्क ४,

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥[1]
हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥[2]

तुलना कीजिये–

राम: – हा, हतोऽस्मि ।
ज्वलत्तुषाराग्निकणोपमानि सीता न दृष्टेति दुरक्षराणि ।
कर्णं प्रविष्टानि हठादमूनि सर्वांगसन्ताप जनयन्ति हन्त ॥
राम – भवतु । एतामेव पृच्छामि ।
त्वामागतेयं पदपंक्तिरस्या प्रयच्छ मे पद्मिनि पद्मवक्त्राम् ।
न चेत्तदीया चरणाब्जमुद्रा प्रदर्शयान्यत्र विनिर्गता मे ॥[3]

कालिदास की तरह भास्कर का विषयप्रवेश कराने का ढंग भी सराहनीय है।

सूत्रधार – साधु गीतम् । (अन्यतोऽवलोक्य) आर्ये ! इत: पश्य
मनोहराणामपि मञ्जरीणां विहाय जालानि विशेषलिप्सु ।
लतान्तराण्येति मधुव्रतालि सीता यथेयं कुसुमेषु लोभात् ॥[4]

सूत्रधार द्वारा वर्णित वसन्तकालीन प्राकृतिक छटा नटी के भावुकतापूर्ण स्वागत गान में मुखरित है।

सूत्रधार – नन्विदानीं वर्तते वसन्तसमय । तथाहि ।
मानन्दाति मलयपवना मन्दमान्दोलयन्तो
मञ्जत्यस्या मधुकरयुवा मञ्जरीणा मरन्दे ।
आसवन्ते मुकुलनिकरानामसन्तादशोका
वक्तुं मग्ना पिकयुवतय पञ्चम प्रारभन्ते ॥[5]
जस्स हि महू अमच्चो दक्खिणपवणो वरूहिणीणाहो ।
पिअ ममराणआरो सो जेदु चिर वम्महो राओ ॥[6]

१– विक्रमोर्वशीय ३१ अङ्क ४, कालिदासग्रन्थावली – स० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० २२०
२– विक्रमोर्वशीय ३४ अङ्क ४, कालिदासग्रन्थावली – स० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० २२४
३– उन्मत्तराघव, ६–१९ पृ० ८ (काव्यमाला संस्करण)
४– उन्मत्तराघव ६, पृ० २
५– उन्मत्तराघव ४, पृ० २
६– उन्मत्तराघव ५, पृ० २

राम के साथ सदा छाया की तरह रहने वाले उनके कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मण का चरित्र पूरा उदात्त है। मातृतुल्या भाभी सीता के विरह में अपने बड़े भाई राम के निरन्तर बढ़ते हुए उन्माद को देखकर उन्हें बहुत दुःख होता है। इन पंक्तियों से उनकी मनोवेदना का अनुमान किया जा सकता है।

राम –(क्षणमात्र तूष्णीं स्थित्वा) अयि, जानकि! किमित्यौदासीन्य भजसि।
आगत्य तूर्णमसितोत्पलरम्यनेत्रे
कण्ठ बधान मम ते भुजवल्लरीभ्याम्।
पश्चादुपेत्य निभृत पदमर्पयन्ती
यद्वा पिधेहि नयने करपल्लवाभ्याम्॥[1]

इस प्रसग मे उनके मुख से नि सृत प्रत्येक वाक्य मे अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति उनका निष्कपट प्रेम झलकता है। यथा—

लक्ष्मण –कष्टमार्यस्योन्माददशा वर्तते। आर्य, न जानकी।
(इति मूर्धानमुन्नमयति।)

× × ×

लक्ष्मण– अहो, ज्ञानाज्ञानयो सकर। तथाहि—
वाक्यानि कानिचिदयुक्ततराणि वक्ति .....[2]

कवि ने कहीं-कहीं पद्यमय सवादो को भी स्थान दिया है जिससे काव्य रोचक बन गया है।[3]

इस प्रेक्षणक के कुछ वाक्य सूक्ति के रूप मे स्मरणीय हैं—

विज्ञानविशदमेव हि चेत. सुजनस्य शक्यते हर्तुम्।
परिशुद्धमेव लोह सुतरा कर्षत्ययस्कान्त.॥

लक्ष्मण – प्रेमविशेषो हि प्रियजने प्रथम प्रमादमेव चिन्तयति।

१– उन्मत्तराघव २७, पृ० १०
२– उन्मत्तराघव २७, पृ० ८, ६.
३– उन्मत्तराघव पृ०, १३-१४

इसके प्रथम नान्दीश्लोक 'प्रणयकलह' में रत शिव-पार्वती की स्तुति कवि की रसिकता की परिचायक है।

> कृता चान्द्री मौली प्रणयकलहप्राप्तिविनय-
> प्रणामे पार्वत्या पदकमल-लाक्षापरिचिता।
> श्रिये भूयादस्या वदननलिन कौतुकवता
> प्रसादनाम्ना विनिमयपरीरम्भ दधती ॥[1]

मधुकरिका का चरित्र

कवि द्वारा कल्पित सीता की सहेली मधुकरिका का चरित्र भी महत्त्वपूर्ण है। हम सर्वप्रथम राम की सहायतार्थ लक्ष्मण के चले जाने पर पतिव्रता सीता का मन बहलाती हुई मधुकरिका के दर्शन पुष्पोद्यान में पुष्प-संग्रह करते हुए होते हैं। अपनी सखी के प्रति उसका अपार प्रेम है। पुष्पोद्यान से सीता के लुप्त होते ही उसके लिये उसका हृदय रोने लगता है।

> मधुकरिका... ...
> (वनान्तरं विलोक्य सावेगम्।) कहिं गदा जाणई। (पुनर्विलोक्य)
> अम्हहे। ण कस्सि वि दीसइ। (वनान्तरं प्रविश्य सर्वतोऽन्विष्यन्ती)
> ... ...
> (निःश्वस्य।) मन्दभाइणी म्हि खु। किं अ आर्ता वादादो
> णिउत्तस्स रामभद्दस्स कहं हिस्सम्।[2]

राम के लौटने पर वह उन्हें यह समाचार किस मुख से सुनायेगी, इसी चिन्ता में डूबी हुई दिखाई देती है।

अन्त में अगस्त्य ऋषि के दर्शन होते हैं जो इस प्रकरण के नायकों के विरह से दुःखी सब पात्रों से सीता को मिलाते हुए उसके विलग होने का रहस्य खोलते हैं और राम उनके इस आशीर्वाद को ग्रहण कर कृत-कृत्य हो जाते हैं—

१- उन्मत्तराघव-पृ० २
२- उन्मत्तराघव-पृ० ४

अगस्त्य:– अनया जानक्या लक्ष्मणेन सह महान्तं कालं वर्तेथाः ।

अपिच ... ... जीयात्कीर्तिः श्रीनिधे राघवेन्द्र...

इस प्रकार कालिदास के विक्रमोर्वशीय से प्रेरणा लेकर लिखित होने पर भी इस लघु प्रेक्षणीयक में कवि की मौलिकता देखने को मिलती है। साहित्यशास्त्र में प्राप्त प्रेक्षणक (प्रेङ्खण) की परिभाषा के अनुसार यद्यपि इसमें इस उपरूपक के सब लक्षण नहीं घटित होते हैं तथापि यह उपरूपकों के इस भेद का एक सुन्दर उदाहरण है इसमें सन्देह नहीं। उन्मत्तराघव के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वी० राघवन् के कुछ प्रेक्षणक भी प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु इनमें प्रेक्षणक नामक उपरूपकों में शास्त्रोक्त लक्षण घटित न होने के कारण इनका विवेचन आधुनिक एकाङ्की नाटिकाओं के साथ करना ही उपयुक्त होगा।

श्रीगदित भी एक प्रकार का एकाङ्की उपरूपक है। इस पर अभिनवगुप्त[1], सागरनन्दी[2], शारदातनय[3], अमृतानन्दी, शुभकर भोज, विश्वनाथ[5] आदि आचार्यों ने विचार किया है। इन मीमांसकों द्वारा लक्षित श्रीगदित के लक्षणों पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि इनमें से कुछ लोगों के अनुसार यह एक नृत्य[4] का भेद माना जाता है। कतिपय विचारकों के मतानुसार यह प्रायः नाटक के समान होता है। कुछ विद्वानों के विचार से यह भाण के समान होता है। लगभग सब ने क्रीडारसातल को ही इसका उदाहरण बतलाया है। केवल शारदातनय के वाक्यों से रामानन्द नामक श्रीगदित का ज्ञान भी होता है। प्रायः सब ने ही इसमें भारती वृत्ति के बाहुल्य तथा गर्भ और अवमर्श

१– सख्या समक्षं भर्तुर्यद्दुक्तं वृत्तमुच्यते ।
मसृणं च क्वचिद्दुद्धतचरा सिद्गकस्तुम ॥

२– तत्र स्त्री करुणमासीना पठति एकाङ्कमुदात्तवचनकृत
भारती वृत्ति – प्रधान प्रख्यातवस्तु नायकम् – यथा क्रीडारसातलम् (सागरनन्दी भरतकोश से)

३– भा प्र, नवम अधिकार पृ० २५८

४– सा० द० ६, २९३–९५ पृ० ३६९

५– डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासका ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्यभेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥ दशरूपक (धनिक की टीका पृ० २)

सन्धियों के अभाव को स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसमें नायिका लक्ष्मी का स्वरूप बनाकर कुछ गाती है या कुछ बोलती है, इसी से इसका नाम श्रीगदित पड़ा है। श्रीगदित के ऐसे नामकरण के कारण परभोज राज ने भी अपने शृङ्गार पर प्रकाश डाला है।[1] उनके अनुसार यह काव्य-भेद विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन करता है। इसकी नायिका कोई विरहिणी कुलवती नारी होती है। इसका दूसरा पात्र नायिका की सखी होती है जिसके सामने वह अपने वियुक्तपति के गुणगान करती है। इसके विपरीत अपने पति द्वारा प्रणय-व्यापार में वञ्चिता नायिका (विप्रलब्धा) दुखी होकर उनके दोषों का स्मरण करती हुई पुनर्मिलन के लिये आकुल-सी दिखती है। जैसे लक्ष्मी अपने नारायण के सामने उनके गुणों की स्तुति करती है, वैसे ही इस उपरूपक की नायिका अपने पति का गुणगान करती है।

"तत्र श्रीरिव दानवशत्रो यस्मिन् कुलाङ्गनापत्य।"

यही इसके श्रीगदित कहलाने का कारण है। भोजराज के श्रीगदित की तुलना अभिनवगुप्त के पिद्मक से की जा सकती है। पिद्मक की परिभाषा भोज के श्रीगदित के लक्षणों से मिलती जुलती है। तामिल का "कुरवची" जिसमें नायिका अपने प्रेमी के लिये व्याकुल रहती है तथा अपने हृदयगत भावों को अपनी किसी सहेली के समक्ष प्रकट करती है, संस्कृत के श्रीगदित में बहुत कुछ मिलता जुलता है।

सुभद्राहरण

मस्कृत-साहित्य के अलङ्कार शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में क्रीडारसातल और रामानन्द शीर्षक श्रीगदित के नाममात्र मिलते हैं। माधवभट्ट ने अपने सुभद्राहरण नामक एकाङ्की में इसे श्रीगदित[2] कहा है। इसी में इस लघु ग्रन्थ

१- तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्यु ।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्या (रव्यु) ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये ता (त) क्रमादुप (पा) लभतें (भते)
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनय ॥ शृङ्गार प्रकाश

२- पारिपार्श्वक- भाव ! कतामि भवद्वच श्रवणेनावधारयामि यन्मण्डलेश्वरभट्टात्मजेन
श्रीमाधवेन निर्माय पुष्पासु स्वाभाविक-सुहृद्भावेन समर्पितम्
श्रीमत्सुभद्राहरण नाम प्रसिद्ध-नायकोपेत श्रीशिशब्दोपरञ्जित श्रीगदितम्
सुभद्राहरण २, (चौखम्बा प्रकाशन) पृ० २

के प्रणेता न अपना संक्षिप्त परिचय भी दिया है। इसके अतिरिक्त माधवभट्ट के विषय मे ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नही है। आचार्य विश्वनाथ ने इसके उदाहरण मे इसकी चर्चा नही की है। अत अनुमानत यह रचना साहित्य-दर्पण के प्रणयन के बाद की ही प्रतीत होती है। कुछ लोग इसकी हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसको १६६७ वि स मे लिखित मानते हैं।

इसकी कथा का आधार श्रीमद्भागवत है। इसके दशमस्कन्ध के ८६वें अध्याय मे जो सुभद्राहरण का प्रसग आता है, कवि माधवभट्ट ने वही से अपने उक्त एकाकी के लिये प्रेरणा ग्रहण की है। भागवतपुराणस्थ इस कथा का सारांश इस प्रकार है–

महाभारत मे घटित सुभद्राहरण

एक बार तीर्थयात्रा के उद्देश्य से घूमते हुए अर्जुन प्रभास क्षेत्र मे पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने अपनी ममेरी बहिन सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करने के लिए बलराम को इच्छुक पाया। सुभद्रा को प्राप्त करने की इच्छा से अर्जुन न द्वारका म पहुचकर वहाँ एक वर्ष तक वास किया। एक बार बलराम द्वारा अपने घर पर आमन्त्रित यतिवेशधारी अर्जुन को सुभद्रा ने देखा और अर्जुन ने सुभद्रा को। फलत दोनो एक दूसरे पर आसक्त हो गए। एक दिन देवोत्सव के अवसर पर राज-महल से रथ पर सवार होकर बाहर निकली हुई सुभद्रा को उसके माता पिता एव भाई श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन हर ले गए। पहले तो बलराम इस घटनाप्रकरण के उपरान्त बहुत कुद्ध हुए परन्तु श्रीकृष्ण तथा मित्रो के समझाने बुझाने पर शान्त हो गए और उन्होंने विवाहोत्सव पर उपहार भी भेजे।

> अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभु।
> गत प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मन ॥
>
> — — —
>
> प्राहिणोद् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बल।
> महाधनोपस्करेभरथाश्वनर – योषित ॥[1]

इसी कथा को कवि माधवभट्ट न अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति से प्रभावोत्पादक बना दिया है। नाटक की कथा मे श्रीमद्भागवत मे वर्णित वार्ता मे कुछ रूपा-

---

१ श्रीमद्भागवत अध्याय ? १२,-६ ग० ६५४-५१

न्तर करके उसे अभिनव रूप दे दिया गया है। इसकी पुष्टि में दोनों कहानियों पर तुलनात्मक दृष्टिक्षेप करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। अस्तु–

मूल कथा में अर्जुन को त्रिदण्डी सन्यासी कहा है, परन्तु श्रीगदित में हमें एक सामान्य यति के रूप में ही नायक अर्जुन के दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार अर्जुन द्वारका में एक वर्ष तक रहते हैं और बलराम द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर उनके घर जाते हैं इसके विपरीत सुभद्राहरण नाटक में अर्जुन का द्वारका में रहने का कोई समय निश्चित नहीं है। वह स्वयम् ही यति वेश में बलराम के द्वार पर आ पहुँचते हैं। मूल कथा के अनुसार सुभद्रा का हरण उसके माता पिता की आज्ञा से हुआ, किन्तु इस उपरूपक में यह बात गुप्त है। हरण के समर्थन से इसका संकेत मात्र मिलता है। माधव भट्ट के सुभद्राहरण में एक दिव्य पुरुष के वरवधू के लिये उपहार के साथ आने का जो वर्णन है, वह भी मूलकथा में लुप्त है।

हम ऊपर उल्लेख कर आए हैं कि श्रीगदित कुछ लोगों के अनुसार पदार्थाभिनय (नृत्य प्रधान उपरूपक) और कुछ लोगों के मतानुसार वाक्यार्थाभिनय (नाट्य प्रधान वृत्ति) होता है। डॉ० वी राघवन् ने भोजकृत शृंगार प्रकाश में उपन्यस्त श्रीगदित की परिभाषा को ध्यान में रख कर माधवभट्ट-कृत सुभद्राहरण को श्रीगदित के उदाहरणस्वरूप स्वीकार करने में कुछ संकोच प्रकट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह निर्णय इसे पदार्थाभिनय[1] मानकर ही दिया है। यदि हम दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ द्वारा लक्षित श्रीगदित[2] का चित्र सामने रखकर सुभद्राहरण पर विचार करें तो हमें श्रीगदित

१– In the Subhadraharana of Madhava in Kavyamala 9,we have a specimen that calls itself expressly in the prologue an Uparupaka and Srigadita, but it has no feature answering to anything in the discription of Srigadita noted above, in fact no characteristic feature by virtue of which we could identify it with any Uparupaka.

Bhoja's Srangara Prakasa by V. Raghavan. Page 547.

पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये ता क्रमादुपालभन्ते ।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदार्थाभिनयः । भोज ॥

२– साहित्यदर्पण २९३-९४, षष्ठ परिच्छेद पृ० ३६८.

उदाहरण मानने में कोई आपत्तिजनक बात दिखाई नहीं देती। अनु-ष्ठित्यदर्पण में बतलाया गया है कि श्रीगदित की कथा स्वतः प्रसिद्ध होनी चाहिए। श्रीगदित नायक और नायिका भी सुप्रसिद्ध होनी चाहिये। श्रीगदित ।" इसके और भारतीवृत्ति से युक्त केवल एक अंक का होना चाहिए। गर्भ और विमर्श सन्धि का भी इसमें सर्वथा अभाव होना चाहिये। माधवभट्ट के सुभद्राहरण में ये सब लक्षण घटित होते हैं। इसकी कथा है-सुभद्रा का हरण। नाम प्रसिद्ध अर्जुन नायक है न सिर्फ सुभद्रा भी महाभारत और भागवत प्रसिद्ध होने के कारण प्रख्यात है। अतः इसकी ख्याति में सन्देह नहीं होना चाहिये। नायक का धीरोदात्तता प्रस्तुत एकांकी में प्रकट होती है। अर्जुन बहुत ही गम्भीर महत्त्वशील स्थिर और उदार गुण्य एवं दृढ़व्रत व्यक्ति है। धीरोदात्त होने के साथ साथ वह विमर्श सन्धि से युक्त भी है। इसकी नायिका सुभद्रा कृष्ण की बहन बताया है। शृङ्गार रस अङ्गी है। कवि ने नान्दीपाठ इसके मुख्य रस के अनुकूल नवरसमय भगवान् शंकर की स्तुति करके रस-सम्बन्ध में अपने पाण्डित्य का सिद्ध किया है। पार्वती शृङ्गार, धनुष में वीर, में हास्य कपालमाला में वीभत्स, सर्पराज में भय नखों के कौटिल्य से रौद्र, करुणा या रति में वात्सल्य, नेत्रों में सूर्यचन्द्र जैसे तेज और अग्नि से अद्भुत तथा अपने चित्त में शान्त रस को प्रकट करने वाले नवरसमय भोलेनाथ ने वे भक्तों की रक्षा करने की प्रार्थना करता है।

> शृङ्गार हैमवत्या प्रथयति धनुषा वीरमास्येन हास्य
> वीभत्स स्वयं प्राणैर्भयमहिपतिना भूविजृम्भेण रौद्रम्।
>
> शान्त चित्तेन भूयात्स नवरसमयः शंकरः शमणे व ॥

इस मङ्गलमय वचनों के उच्चारण के उपरान्त शृङ्गार-अभिषिक्त सुभद्राहरण नाटक का प्रारम्भ होता है। काम जिस प्रकार प्राणियों के हृदयस्थ भावों को मारता है इसे सुभद्रा की शृङ्गार में ओत-प्रोत पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं-

> चपल नयन निरङ्कुशो मदनः कातरमङ्गनामनः।
> सुरभिः समया नव वयः प्रथम प्रेम किमालि साम्प्रतम् ॥[१]

१- सुभद्राहरण २१.

अर्थात्–हे सखि । मेरे नेत्र चञ्चल हैं, मेरा (हृदयस्थ) मदन निरंकुश है, मेरा नारी मन वानर है । वसन्त का समय है । मेरी युवावस्था है और प्रेम का यह पहला ही अवसर है । ऐसी दशा में सखि, तू ही बता, मैं क्या करूँ ?

नायक अर्जुन भी सुभद्रा के अलौकिक सौन्दर्य को देख कर ठगे से रह जाते हैं–यह निश्चय नहीं कर पा रहे कि उसकी उपमा किससे दी जाय ?

अर्जुन – (पुरोऽवलोक्य सहर्षमात्मगतम्) अहह, अदृष्ट–पूर्वं सौन्दर्यातिशय । तथाहि ।

यदीय श्रीरिन्दोः कथमिह तदा मत्रविलसे–
त्प्रभेय भानोश्चेदमृतरसवर्षं न कलयेत् ।
स्फुरन्ती गेहेऽस्मिन्न च तडिदिय मेघविरहा–
त्ततो मन्ये दृष्टेमम सुकृतवल्लीफलमियम् ॥[1]

अर्थात् यदि इसे (सुभद्रा को) चन्द्रकान्ति कहें तो दिन में कैसे विद्यमान है, यदि भानु की प्रभा समझें तो यह अमृतवर्षिणी कैसे है, और यदि बिजली मानें तो मेघ के बिना इसका घर में चमकना कैसा ? इन सब बातों को असम्भव मान कर इसे अपनी दृष्टि की पुण्य लतिका का मधुर फल समझना ही उचित है ।

ऐसी सुन्दरी के प्रति आसक्त अर्जुन की विरहावस्था में बड़ी दुर्दशा हो जाती है । वियोगी नायक की दयनीय मनोदशा का वर्णन करके कवि ने विप्रलम्भ शृङ्गार को भी अपने काव्य में स्थान देकर कृति का महत्व बढ़ा दिया है ।

अर्जुन –हे हन्त, तस्या दर्शनात्प्रभृति–
शैत्यं केन यदद्य मर्मरदला जायन्त एते द्रुमा
शुष्काम्भासि सरांसि सनिविवशात्कि चान्यदप्यद्भुतम् ।
दीर्घोच्छ्वासपरम्परापरिचयान्मुच्छन्ति वाता यत–
स्तापं कीदृशय ममाङ्गमधुना हा धिग्विवेऽविष्ठित [2]

१– सुभद्राहरण १०, पृ० ८
२– सुभद्राहरण २२

अर्जुन – शीतलता कहाँ से आ सकती है ? जबकि आज वृक्षों की पत्तियाँ सूख रही हैं तालाब सूखे हैं और मेरे आस-पास दो सहन न करने वाली हवाएँ भी गरम गरम बह रही हैं।

अङ्गी शृङ्गार के अतिरिक्त इसमें हास्य, करुण जैसे अन्य रस भी पोषक के रूप में विद्यमान हैं।

नेपथ्य से किसी बन्दर के उत्पात मचाने का समाचार सुनकर रक्षार्थ अर्जुन से प्रार्थना करते हुए भीरु ब्राह्मण के मुख से निकले भीतियुक्त अस्पष्ट वाक्य हास्य की सृष्टि करने में समर्थ हैं[1]–

उच्चैः सद्म विलङ्घयन्नपहरन्नाराममुग्रोत्करा
नद्याश्रिभुवचानर्नीविवृतमन्नारात्पुर प्रीणयन् ।
लाङ्गूल भ्रमयन्नुदग्रदशनान्विभिन्द-कोलाहल
कुर्वन्नुद्भटनादितादलकर कीशोऽस्मनुलर्पति [व्याघ्रोऽयमनुसर्पति]॥

— — —

बलदेव – कः व्याघ्रः ?

भीरुः – नहि नहि स्वामिन् वानरशाखाकरणादिव मम वातन् ।
किन्तु कीशोऽयमनुसर्पति ।

बलदेव [सहासम्] अहो जातवैर भीरुको ब्राह्मणः सर्वैरवयवैः निर्मितैव विस्मृति। [पुनः क्रोधं नाटयित्वा सदम्बसितेन] तथापि कृ कुत्र स स पापिष्ठः
[नाट्येनावलोक्य मित्रवत् ।]

किं कृष्ट्वा हलेन हन्मिमनुवेनाक्षिप्य मृद्नामि वा
किं वा त चुर्णचूर्णयामि मुसलप्रहारेण चूर्णमिमम् ।
किं दोर्भ्यांस्वगात्रे स्फुरल स्तनयेद्दृढ ।
किं वा तेनमिमीषु पुरस्य पतनात्र दिशामि सहजम् ॥

अर्थात् क्या मैं उनको हल से खींच कर मार डालूं ? अथवा पकड़ कर हाथ से मल दूं ? या मुसलप्रहार से चूर्ण की तरह चूर-चूर कर दूं ? या कभी कँगूरे से

१- सुभद्राहरण १६ १३ पृ० १९,

जमीन पर पटक दूँ या किसी पात्र मे भर कर पी जाऊँ ? इस प्रकार बलराम द्वारा ब्राह्मणों की भीरुता पर कटाक्ष किया गया है। श्रीहर्ष की रत्नावली के द्वितीय अङ्क में उत्पाती बन्दर का वर्णन सुभद्राहरण के इस चित्रण से मिलता जुलता है।[1]

निरन्तर कामरत रहने के कारण वसन्त जनता समय-समय पर उत्सव मनाकर अपना हृदयावर्जन किया करती है। इस एकाङ्की उपरूपक में भी कवि ने वसन्तोत्सव के मनाए जाने का उल्लेख किया है। बहुत पहले से घर-घर में उसकी तैयारियाँ जोर शोर से होने लगती हैं। यह प्रसंग कवि की वर्णन शक्ति का द्योतक है–

बलदेव (इति श्रुत्वा कोप सहस्तर्वतोऽवलोक्य। स्वगतम्।) अय वसन्तोत्सवारम्भः। यत

उद्धूयन्ते विचित्रा प्रतियदुभवनं केतुबद्धा पताका[2] ...

यदुओं के घर घर मे रंग बिरंगी पताकाएँ फहरा रही हैं केलों के खम्भों से सुसज्जित द्वार पर जलपूर्ण मंगलकलश रखे जा रहे हैं, स्वर्णालंकारों से मण्डिता कन्यकाएँ नए कौसुम्भी वस्त्र धारण किये हैं, मालाकार उपवन के वृक्षों को काट छाँट कर सँवार रहे हैं। कोई वनिता सुगन्धित पुष्पों का हार बना रही है, तो कोई श्रीखण्ड के जल से केशर की पिण्डी घोल रही है और कोई स्त्री वीणादि वाद्य सजा रही हैं एवं कोई महिला चाट और मदिरा तैयार कर रही है तो दूसरी वस्त्रों को रँगने में व्यस्त है। ऐसे ही वातावरण में अर्जुन सुभद्रा का हरण कर लेते हैं।

भयात्त्रस्तभ्रमन्तीनां योषितामिह यूथत ।
हरिणीनामिव भ्रष्टा भाति मुग्धा मृगीव मे ॥
(इत्युपसृत्य तां पाणौ गृहीत्वा रथमारोहयत्।)
साध्वसं सपदि सुन्दरि त्यज स्नेह-भाजनममुं विलोकय ।
अर्जुनोऽस्मि शरणार्थिनामहं रक्षिता द्विषदकाल-मृत्युभूः ॥[3]

१- रत्नावली, द्वितीय अङ्क २ (चौखम्भा प्रकाशन) पृ० ६४.
२- सुभद्राहरण-१८-१९ पृ० १९,२०.
३- सुभद्राहरण, २८-२९.

इस समय उसकी प्रेमिका सुभद्रा के मन की विचित्र गति हो रही है। एक ओर अपनी ईप्सित वस्तु के अकस्मात् मिल जाने पर उसे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है तो दूसरी ओर उसके भाई बन्धु इस घटना को सुन कर उसके विषय मे क्या कहेगे ? यह आशङ्का भी उसके मन को जला रही है। ऐसी परिस्थिति मे वीर अर्जुन के मुख से उसके लिये निकले आश्वासन के वचन बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

अर्जुन–प्रिये मा विभेहि । पश्य ।

आनीतो दारुकेणाय कृष्णस्यैवाज्ञया रथ ।
तदधीशा रौहिणेयस्तु रोष विफलयिष्यति ॥ [1]

इसमे कवि ने प्रयोगातिशय द्वारा प्रस्तुत आमुख मे चतुर्थ आश्रम सन्यास को उत्तम बतलाया है और उसकी समानता राज्य के साथ दिखलाई है।

अर्जुन –अहो चतुर्थाश्रम किमपि परमानन्द निधानम्[2] । येनात्र
नाना कौसुमसौरभिण्युपवने सख्य सुखैर्मारुतै –
भैक्ष्ये भोज्यरुचि सदोपनिषदि प्रीत प्रियायापरा।
सौहित्य सरसा जलै सुलभया भूज त्वचाच्छादन
–निद्रा निर्मल-सैकते किमपर राज्य स्वतन्त्र स्थिति ॥

अर्थात् –अनेक पुष्पो से सुवासित वन-उपवनो मे सुख देने वाले पवन से सख्यभाव, भिक्षान्न मे रुचि, उपनिषदो मे अपार प्रीति, तालाब के जल से तृप्ति, वल्कलवस्त्र स्वच्छसिकतामयस्थान मे निद्रा, और जहां स्वतन्त्रता की प्यारी बहार रहती है, वह किस राज्य से कम है, अर्थात् दूसरा राज्य ही है।

गृहे गृहे गृहस्थाना गृहणन्तो ग्रासमन्वहम् ।
अपीडया तत श्लाघ्या वृत्तिर्माधुकरी मुने[3]

अर्थात् –घर घर से बिना गृहस्थो को पीडा दिये प्रतिदिन अन्न प्राप्त करते हुए मधुकरी वृत्ति अपनाना मुनिजनो के लिये उत्तम है।

१– सुभद्राहरण ३०, ३२, पृ० २८–३०
२– सुभद्राहरण ७
३– सुभद्राहरण ८

यतिवेशधारी नायक अर्जुन के लिये तो यह वेश मानो वरदान ही है। छल से बने सन्यासी अर्जुन को जब यह आश्रम इतना सुखदायक है तो वास्तविक यतियों के आनन्द का क्या कहना ? उनके सुख का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।[1] कवि की यह मौलिकता है। उसने इस दृश्य को नाटक में स्थान देकर इस कथा में चार चांद लगा दिये हैं। इसमें यतियों के प्रति कवि का भी आदरभाव प्रकट होता है। इसकी सुन्दर एवं सरस रचना-रीति को देखते हुए कवि की अपने विषय में कही गई यह उक्ति असत्य नहीं प्रतीत होती—

ततिरिव फणिवल्लया केवलता दलाना
यदपि रुचिनिदान गुम्फना मे न वाचाम् ।।
तदपि रस–गुणानामार्द्र–पूगी–फलाना
मिव मुहुरनुषङ्गाद्रञ्जनायक्षमैव ।।

दान-केलि-कौमुदी

इस श्रीगदित के अतिरिक्त चौदहवी शती के अन्त मे प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदी नामक एक लघु कृति की रचना करके लक्षण ग्रन्थो मे उल्लिखित भाणिका नामक उपरूपक के क्षेत्र को उर्वर किया। इसके अतिरिक्त भाणिका का अन्य कोई उदाहरण नही मिलता। अब यह प्रकाशित हो चुकी है। इसमे राधागोविन्द की दानलीला का विस्तारपूर्ण वर्णन किया गया है। इनके शिष्य रघुनाथदास ने इनकी दानकेलिकौमुदी पर टीका भी लिखी थी। हस्तलिखित पोथियों की तालिका का निरीक्षण करने पर इनकी दानकेलिकौमुदी का कुछ अश देखने को मिलता है। यथा—

नमो व्रजयुवराजाय।

अन्तःस्मेरतयोज्ज्वला जलकणव्याकीर्णं पक्ष्माङ्कुरा
किञ्चित्पाटलिताञ्चला रसिकतोत्सिक्ता पुन कुञ्चती।
रुद्धाया पथि माधवेन मधुरव्याभुग्नपादोत्तरा
राधाया किलकिञ्चित स्तबकिनी दृष्टि शिव व क्रियात्॥—

१— शुभदाहरण १६ पृ० ६

सप्तम अध्याय

(बीसवीं शताब्दी के संस्कृत एकांकी)

बीसवीं शताब्दी के एकाङ्की

युग परिवर्तन के प्रवाह मे ससार की रूढियाँ विनष्ट होती जाती हैं तथा नई पद्धतियां उनका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। नाट्य क्षेत्र मे एकाङ्कियो के पुनरुज्जीवन का भी यही रहस्य है। हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के विदेशी आक्रमणो द्वारा जर्जर हो जाने का प्रभाव उसके साहित्य पर बहुत अधिक पडा। अत प्राचीन नाट्य कृतियो मे जहाँ हम समृद्ध-समाज का मनोहर रूप देखते हैं वहाँ मध्य युग (ईसोत्तर १२ वी शताब्दी से लेकर १७ वी शताब्दी तक) के साहित्य मे हम पतनोन्मुख भारत का चित्रण पाते हैं। इस युग में रसिक कवि समुदाय कामसूत्र के रङ्ग मे रञ्जित उत्तानशृङ्गारमय काव्य धारा में प्रवाहित देखा जाता है। मध्यकालीन भाणो एव प्रहसनो मे इसी प्रकार का काव्य दृष्टिगोचर होता है।

सदियो पहले रचे गये भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर भारतीय नाट्यधारा समसामयिक सामाजिक वातावरण से प्रभावित होती हुई आज भी अबाध गति से चली आ रही है। बीसवी शताब्दी मे भी इस स्रोत मे बहते हुए सस्कृत सेवी-ससार को हम पूर्वोल्लिखित एकाङ्की भेद (भाण, प्रहसनादि) की रचना द्वारा प्राच्य-परम्परा का पालन करता हुआ पाते हैं। शैली की दृष्टि से इन आधुनिक एकाङ्कियो के साधारणत दो वर्ग किये जा सकते हैं। (१) प्रथम वर्ग के लघु नाटको मे नाटककार अब भी प्राचीन नाट्य-कला के आदर्शों का यथासम्भव पालन करते देखे जाते हैं। आज भी इस शैली के पोषक नाट्य-

लेखक अपने रूपकों के लिये पुराणेतिहासादि से कथा वस्तु का ग्रहण करते और आवश्यकतानुसार उसमें हेर फेर कर देते हैं। उदाहरणार्थ श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा रचित सावित्रीनाटकम् का नाम लिया जा सकता है। (२) पश्चिम से भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप द्वितीय वर्ग के नाटकों की आकृति बदली-सी दिखाई देती है। प्राचीन शास्त्रीय पारिभाषिक संज्ञाओं के अभाव में इस कोटि के एकाङ्की नाटकों के लिये एकाङ्की नाटिका या सामान्य दृश्यकृति के अर्थ में प्रेक्षणक अथवा नाटक पद का ही व्यवहार होने लगा है।

रेडियो रूपक

संस्कृत नाटक की नवीनविधा रेडियो रूपकों की है जो प्रायः एकाङ्की ही होते हैं। यह विधा धीरे-धीरे विकसित हो रही है। मद्रास से प्रकाशित होने वाले "दी संस्कृत रङ्ग" (एन्युअल) नामक पत्र को देखने से ज्ञात होगा कि "आषाढस्य प्रथम दिवसे" जैसी छोटी एकाङ्किकाएं आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित होती रहती हैं।

संवादमाला

संस्कृत-नाट्य की एक अभिनव विधा "संवादमाला" का विकास भी श्री आनन्दवर्धन रामचन्द्र रत्नपारखी के सहयोग से हो रहा है। इनकी "संवादमाला" शीर्षक रचना १९५७ ई० में रची गई थी, जिसमें निम्नाङ्कित तेरह संवाद हैं–जयदेव पद्मावतीयम्, कोकिलाक्षकोयष्टिकीयम्, सहस्रपत्रकहिल-मोचकीयम् उपस्थितिपुस्तिकाप्रणाश, निम्बूलशुण्डबूलकीयम्, आश्रमसन्धि, कपिञ्जलकमरङ्किनीयम्, कायनिलयवेलावसानम्, नीलकण्ठमञ्जुहासिनीयम्, करहाटककलकिङ्किणीयम्, कपित्थककरमर्दिकीयम् कर्णिकारपरिव्याधकीयम् तथा मकरन्दकमन्दारमालीयम्। ये संवाद आनन्दप्रद हैं। ऐसे संवाद पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते ही रहते हैं।

अनूदित रूपक

अंग्रेजी, बंगला जैसे साहित्यों के क्लासिकल नाटकों का संस्कृत में रूपान्तर करने की परम्परा भी अब चल पड़ी है। यहां एक ध्यान देने योग्य बात है कि संस्कृत की नाट्यकला स्वतन्त्र रही है और अनुवाद बाद की वस्तु है जबकि हिन्दी, बंगला आदि अन्य भारतीय भाषाओं में नाट्य का आरम्भ ही अनूदित कृतियों से हुआ है।

वर्तमान युग की बदलती परिस्थितियाँ:

वर्तमान युगीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ प्राचीन युग से सर्वथा भिन्न हैं। जिस प्रकार आज प्राचीन षोडश संस्कारों में युग के प्रभाव से पुरानी कट्टरता एवं विस्तार के बदले उदारता तथा संक्षेप को स्थान मिल गया है उसी प्रकार साहित्य-जगत् में भी पूर्वकालीन शास्त्र-सम्मत कठोर नियमों के पालन में धीरे-धीरे ढीलापन आ गया है और उसकी यह प्रवृत्ति अकारण नहीं है। रस की पुष्टि के लिए कथावस्तु के विन्यास के प्रसङ्ग में बीज-विन्दुपताकादि के जटिल नियमों को शिथिल करने का निर्देश साहित्य-दर्पण में है।[1] वर्तमान शैली के संस्कृत नाटकों में नाट्यतन्त्र की जो शिथिलता दीख पड़ती है उसकी प्रेरणा आधुनिक नाटककारों को यहीं से मिली होनी चाहिए। आज की साहित्यिक-कृतियों के आदर्शों में भी इसी कारण अन्तर आ गया है। अब मानव-जीवन पहिले की अपेक्षा अधिक संघर्षमय हो गया है। अब मनुष्य के सामने प्रतिदिन उग्र-रूप धारण करने वाली रोजी रोटी की समस्या पिशाचिनी की भाँति भयावह रूप लिये खड़ी रहती है। इससे बचने के लिये वह अपनी गृहलक्ष्मी को भी धनोपार्जनार्थ घर से बाहर भेजकर उससे साहाय्य प्राप्त करना चाहता है। घर और बाहर दोनों क्षेत्रों के उत्तरदायित्व को सँभालने के कारण गृहिणी अपने परिवार की देखभाल ठीक ढंग से नहीं कर पाती। कार्य-भार से दबी हुई नारी का स्वभाव कर्कश हो जाता है और इस कारण उसके प्यार के भूखे बच्चे बिगड़ जाते हैं। इसका उनके चरित्र गठन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप शृङ्गार-प्रधान नाटकों में भी माधुर्य एवं मार्दव के स्थान पर कर्कशता और क्रूरता की छाप मिलती है।

संस्कृत एकाङ्की पर युग का प्रभाव:

आज पहले की तरह केवल राजदरबार में या देवालयों के प्राङ्गण में सुदूर स्थानों से आए हुए अतिथियों के मनोरञ्जनार्थ ही रूपकों की रचना नहीं

1- यदभावे पताकाऽऽद्यास्तदभावे तथेतरत् ।
रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सन्निवेशनम् ॥
न तु केवलया शास्त्रस्थिति-सम्पादनेच्छया ॥
अविरुद्धं तु यद्वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।
तदप्यन्यथयेद् धीमान्न वदेद्वाऽपि कदाचन ॥ सा द., ६, ११७-२१ पृ० ३२२-२३

होती है। इनका उद्देश्य अब कुछ भिन्न है। अब लेखक शिक्षण-संस्थाओं के वार्षिक उत्सवों और विभिन्न महापुरुषों की जयन्तियों के अवसर पर अथवा किसी मुख्य अतिथि के स्वागतार्थ अथवा रेडियो पर प्रसारणार्थ तथा पत्रिकाओं की ओर से माँग होने पर 'यशसे' और 'अयत्नने' समय निकालकर छोटी छोटी अभिनेय रचनाएं करने लगे हैं। इनके पास नाट्य शास्त्र के पुराने लम्बे चौड़े विधान के अनुसार नाट्य सर्जन के लिये समय ही कहां है? इस ओर जनता की रुचि भी नहीं रह गई है।

संस्कृत परम्परा के धुँधली पड़ जाने के कारण इन नाटकों की भाषा भी पुरानी शास्त्रीय-भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। जहां पहले के काव्यों मे साहित्यसौष्ठव के दर्शन होते हैं वहां अब की रचनाओं मे लेखक का उद्देश्य किसी प्रकार संस्कृत को जीवित रखना मात्र दिखाई देता है। वे शिष्ट-समाज को दिखला देना चाहते हैं कि अब भी संस्कृत में कुछ लिखा, पढ़ा, सुना और देखा जा सकता है। जिस प्रकार हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के नाट्य साहित्य मे अंग्रेजी के वाक्यों एवं शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है उसी प्रकार संस्कृत भाषा की नाट्य कृतियों में संस्कृत को देशी भाषा के साँचे मे ढाल दिया गया है। संस्कृत के विभिन्न देशों से भारत का सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप इन नवीन कृतियों मे हम भाषा एवं भाव के साङ्कर्य की झलक दिखाई देती है।–

लोकं दिशावकार्यं लिलिपुन्देशीयहृस्वतरं परिणमयन्ती,
चित्रं कुर्वन्ती सार्वत्रिका सिद्धिः
... ...
सृष्टि विज्ञाननवाम् अमेयुनीम् पश्यन्तु,
सोवियटदेशे त्वरया विनियोगो दृश्यते ॥
किंच...
निद्रापरिवर्धिनीयं दिचिना विद्यापि जागर्ति।
× × ×
गगने च वायुवेगं यानं निर्माय। गैसानाम्
अभिचारं सजनयन् विज्ञानं जृम्भते पुरतः
'राकेट' 'एटम' प्रभृतीन् बाणान् अभिमन्त्र्य विज्ञानम्
प्रकरणवरण-समर्थं विधिविज्ञानं विलोपयति।
× × ×

'रोदिक टेलीविजने' प्रयुज्य त भारत युद्धम्
राज्ञे कथयति दिव्या दृष्टि लोको वृथा मनुते ।[१]

पाश्चात्य सभ्यता के विकास के साथ सिनेमा, रेडियो-सेट, स्टोव, टेलीफोन कप, चीनी मिट्टी की तश्तरी, चाय जैसी नवीन वस्तुओं का दैनिक उपयोग होने लगा है। इनके लिये भी संस्कृत में क्रमशः निम्नांकित शब्द गढ लिये गये हैं–

छायाचित्र, ध्वनिप्रतिग्रहयन्त्र, तैलज्वालायन्त्र, दूरसम्भाषयन्त्र, वर्धमानक, तदाधारिका, कामरुपिकाक्वाथ।

साग, सब्जी, अंगीठी आदि के नाम भी देशी भाषा के अनुकरण पर ग्रहण किये गए हैं–

पद्मावती– शाक गृहयता शाकम्। वीरमेनक शाकम् पुष्पगोजिह्वा शाकम् ताम्रमण्टाकिफल शाकम्। पालक्य शाकम्। शाक गृह्यतां भो शाकम्।[२]

आज के एकांकी रस प्रधान न होकर उद्देश्य प्रधान होते जा रहे हैं। भारतीय किशोर किशोरियों के चरित्र गठन एवं बौद्धिक विकास के उद्देश्य से ही इनकी रचना हुआ करती है। अतः प्राचीन भाण एवं प्रहसन-साहित्य का परिमार्जित रूप साहित्य प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाने लगा है। एकांकी बड़े नाटकों की तरह सम्पूर्ण जीवन को लेकर नहीं चलते। उनमें तो जीवन की एक झाँकी का प्रदर्शन होता है। जीवन की विभिन्नताओं को छोड़कर उसके ही अंग पर प्रकाश डालना एकांकीकार का ध्येय होता है। संक्षेप, सजीवता कलात्मकता आदि से युक्त होना ही आधुनिक एकांकियों की विशेषता है। इस समय आधे घण्टे से भी कम समय में समाप्त होने वाले एकांक रूपकों की माँग है। इसकी पूर्ति के लिये आज भी मञ्च की दृष्टि से उपयोगी प्रेक्ष्य-काव्यों की रचना जारी है। डा० वी० राघवन् द्वारा संकलित आधुनिक प्रेक्षणकों की तालिका में अंकित कृतियों में से बहुत सी रचनाएँ एकांकी ही हैं।[३]

१– सरस्वती पृ० ५ ८

२– जयदेव पद्मावतीयम्, संस्कृत प्रतिभा – १९५६ पृ० ६३

३– देखिये - A Bibliography of Modern Sanskrit Plays by Dr. V. Raghavan & Shri C S Sunderam

प्राचीन आलंकारिकों ने भी यद्यपि काव्य के विषय की व्यापकता की ओर काव्य-रचयिताओं का ध्यान आकृष्ट किया था तथापि आधुनिक काल में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से यह बात फिर ताजा हो गई है और हमारे वर्तमान नाटककार इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने वाले प्रकृति के नाना विषयों को भी अपने काव्य का स्वतन्त्रविषय बनाने लगे हैं। पुराने कवियों ने अपनी रचनाओं का विषय उच्च वर्ग के समाज को ही बनाया था। इसके विपरीत आधुनिक कवि बहुजन के प्रति सहानुभूति का भाव लेकर चलने हैं। अतएव आज के नाट्यकार की दृष्टि उपेक्षिताओं की ओर भी गई है। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति भी अब कविता के प्रेम, श्रद्धा, दया आदि के पात्र होने लगे हैं।

दूसरे अब कला और उपदेश दोनों के दो पृथक् भेद स्वीकार कर लिये गये हैं। अब उन्हें रामादिवद् वर्तितव्य न रावणादिवत् इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट उपदेश नहीं रुचता और न पाठकों में इन्हें ग्रहण करने की क्षमता ही रह गई है। लेखक और पाठक का दृष्टिकोण अब बदल चुका है। "न दुःखान्त नाटकम्" के कठोर नियम को भी आधुनिक कवियों ने छोड़ देने का यथासम्भव प्रयत्न किया है। दुःख-प्रवण वियोगान्त दृश्य काव्यों (Tragedy) से भी उन्हें उतना ही आनन्द प्राप्त होता है, जितना सुखान्तों से। भवभूति ने पहले ही करुण रस के मर्म को समझ लिया था, जिसे अरस्तू और उनके अनुयायी पाश्चात्य कवि एवं आलोचक कुछ ही पहले से जानने और समझने लगे हैं।

उपलब्ध आधुनिक एकांकियों की नाममाला से भी सिद्ध होता है कि आज लघु नाटकों के विषयों का अभाव नहीं है। नवीन रूपककार अपनी कृतियों के लिए आलम्बन का चयन वास्तविक जगत् से करता है। कहीं सास-बहू की लड़ाई का चित्र देखने को मिलता तो कहीं गरीब विद्वानों की दयनीय दशा का। यथा-(प्रस्तावना तथा संस्कृत टीका के साथ) डॉ० वी० राघवन् द्वारा सम्पादित इलातुर सुन्दरराज कवि 'स्नुषाविजय' का नाम लिया जा सकता है। इसमें लेखक ने युग-युग से चले आ रहे सास-बहू के झगड़ों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वयस्क सौ तथा नव-वधू के विचारों में असामञ्जस्य के कारणों पर प्रकाश डाला है तथा शनै-शनै घर का कुल कार्य-भार घर की चाबियों के साथ सुघड़ बहू के हाथ में किस प्रकार आ जाता है, यह भी बतलाया है। श्री सोंटे स्कन्दशंकर प्रणीत एकांकी 'हा हन्त शारदे' में साहित्यकों की कठिनाइयों का (अपनी पत्नियों तथा बच्चों के साथ संघर्ष का) पारिवारिक चित्र देखा जा सकता है। इसमें उनकी रचनाओं का कुछ भी

महत्व न समझने वाले उनके बन्धुओं का पारस्परिक संघर्ष है। इस कृति में संगीत को भी स्थान दिया गया है। इसी प्रकार ए० आर० हेबरे के दो दृश्यों में विभाजित एकांकी "मनोहरम् दिनम्" में द्रष्टा को छुट्टी माँगने के लिए चालाकी भरी युक्तियाँ लड़ाते हुए नन्हे-नन्हे विद्यार्थी दिखाई देंगे।

कभी सवेरे से ही आफिस जाने के लिये तैयार बाबू साहब के नाश्ते के लिये मेम साहिबा साइकल पर जाते हुए डबल रोटी वाले के लिए आवाज लगाती मिलेंगी—

नवदेहली (नेपथ्ये)

पुरोडाशा गृह्यतां पुरोडाशा। सहैयङ्गवीना पुराडाशा।

+ + +

पद्मावती (स्वगतम्)—अस्तु। अय पुरोडाशविक्रयिको गच्छति। तस्य हूय केवल पुरोडाशा हैयङ्गवीनच गृहयन्ते। एतदेवाद्य प्रातराशाय भवतु।

(शय्यामुज्झित्वा प्रकाशम्) अयि भो पुरोडाशविक्रयिक, इत एहि।[1]

कहीं अपने उद्धार की कामना करने वाली नारियों के भी दर्शन होंगे।[2]

नवयुवकों में वीरता तथा देश प्रेम की भावना भरने के लिए विदेशियों से होने वाले युद्धों के वर्णन से युक्त ऐतिहासिक एकांकियों की रचना भी होने लगी है। पौरवदिग्विजय रूपक एक ऐतिहासिक एकांकी है।[3] सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण की ऐतिहासिक घटना और पौरस द्वारा अन्य भारतीय राजाओं की सहायता से यूनानियों को भारत भूमि से बाहर निकाल देने का निश्चय ही इसका वर्ण्य विषय है। इसमें अलिकसुन्दर (सिकन्दर) के आक्रमण का समाचार सुनकर देश को उससे मुक्त करने के लिए परस्पर मन्त्रणा करते हुए गणनायक पुरु और तक्षशिला के राजा आम्भि का गद्यात्मक संवाद वर्णित है। ओज-पूर्ण उचित प्रयुक्तियों से पुरु तथा अन्य पात्रों के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

१— जयदेवपद्मावतीयम — संस्कृत प्रतिभा (प्रथम उन्मेष) प्रथमविलास एप्रिल १९६९

२— देखिये— नारी (सामाजिकम् नाटकम्) लेखक गोपाल शास्त्री

३— लेखक—एस के रामचन्द्रराव, संस्कृत प्रतिभा सन् १९६२ एप्रिल द्वितीय उन्मेष प्रथम विलास में प्रकाशित।

आम्भि— न तावन्मन्ये सुकरमिदं महाराज । अमी यवना अजय्या एव । अन्ये सम्यका अपि सुसज्जिता । पदातिनोऽपि विहृतनराश्मिणः । अश्वारूढाः सर्वेऽपि महाशूराः, इतरे तु अनिरथ महारथाः । एतेषां दण्डनायको अतिकमुन्दरस्तु देवेन्द्रइव समयः । नैव जानासि परा जयम् । अतोऽहं मन्ये महाराज । तैः सह विग्रहोऽनुचित इति ।

पौरव— आम्भिराज । किमहं शृणोमि त्वन्मुखादेतानि वचनानि ? जयोवा भवत्पराभवो वा स्वधर्मं निधनं श्रेयः किल । ..... युद्धकाले एव तेषामपि शस्त्राभ्यासः । किं कुर्मः? समुदाय एव बलम् । अन्येऽपि यवनपक्षप्रवेशमनिच्छन्तो गणनायकाः यथेष्टं अस्मान् समागच्छतु ।[1]

पौरव के वाक्यों में गीता के अमर उपदेश भी ध्वनित हैं–

"हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।"

डॉ० हरिहर त्रिवेदी के वीररस-प्रधान एकांकी नागराज विजय[2] का विषय भी इतिहास प्रसिद्ध है । पद्मावती नामक किसी देश का नरेश नागराज कुशानों को भारत से खदेड़ना चाहता है । इसके लिये वह अन्य राज्यों का सहयोग चाहता है । उनसे उसकी मित्रता की बात जानकर कुशान लोग स्वयं भारत से भाग खड़े होते हैं । रणक्षेत्र में नागराज की सेना द्वारा गुञ्जित भयकर रणभेरी को सुनकर शत्रुओं के भाग खड़े होने के कारण तथा बिना रक्तपात के विजय प्राप्ति से हर्षोन्मत्त यौधेय का हृदय अहिंसा की प्रशंसा के साथ भीति रहित गणराज्य की स्थापना की शुभ-कामना करता हुआ गा उठता है–

यौधेय— देवि, एतत् सर्वं किल भारतलक्ष्मीस्वरूपाया तवैव प्रसादः यदस्मिन् स्वतन्त्रतासंग्रामे विनैव रक्तपातमस्माकं विजयलाभः ।...
जयतनरा भरतावनिरस्या
ईतिभीतयो यातु विनाशम्,
सिद्धिरविकला यातु सकाशम्,
सस्यरसैः परिपूरितभाणा प्रतिपदमेतु विलासम् ॥
सत्यामोघधमनरूपोमिन सर्वोदयफलभूषा ।
पूर्णा भवतु मनीषा ॥...

१– संस्कृत प्रतिभा पृ० ८१

२– संस्कृत प्रतिभा सन् १९६० संस्कृत मास की इति – हिन्दीन उल्लेख

श्रीसम्पन्ना भारत भूमि को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाने को आतुर नायक नागराज में धीरोदात्त गुण विद्यमान हैं। उसके हितैषी सहायक और शत्रुओं से लोहा लेने को उद्यत हैं। वे निबल कृशानो को भी उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि आग की छोटी सी चिनगारी भी बड़े से बड़े जंगल को भी जलाकर भस्म कर सकती है–

> स्फुलिङ्ग काष्ठयोगेन दहत्येव महावनम् ॥
> मालव – अपिच।
> उन्मूलनमरातीना सुकर व्यसने श्रुतम्
> नदीवेगक्षीणमूल सुखमुत्पाट्यते तरु ॥

स्वभाव से कातरा पत्नी के प्रति कहे गये उसके वचन धीरता को प्रकट करते हैं।

> देवी–विजयता महाराज ।......
> स्त्रीस्वभाव-कातर वेपते मे हृदयम्।
> नागराज – आर्ये मगलवेलायामल शङ्कया।
> युद्ध खलु उत्सव क्षत्रियाणा विशेषतश्च सर्वाभ्युदयहेतुकम्।
> अधुना प्रत्यासीदति प्रमाणकाल।
> तदनुजानीहि मा प्रस्थातुम्।

नवीनतम रचना होने पर भी इसमे भाषा–सौन्दर्य देखने को मिलता है। प्रसगानुसार कवि अपनी भाव प्रकाश शैली को बदल देने मे दक्ष हैं। इसके गद्यांश मे प्रसाद गुण के दर्शन होते हैं तो शिवजी की स्तुति एव युद्ध का चित्र प्रस्तुत करने वाले कतिपय श्लोकों मे ओज–युक्त समासबहुला वाक्यावली का प्रयोग हुआ है।

> ... ...
> नमामि चन्द्रशेखर वृषध्वजपुरान्तक
> ललाटनेत्रनिर्गताग्निदग्ध – पुष्पसायकम्
> अकिञ्चन स्वसेवितामशेषसौख्यदायक
> हिमाद्रिराजकन्यकापति नटेश्वर भजे ॥

आधुनिक एकाङ्कियों मे प्राकृत का बहिष्कार–

इसकी नायिका प्राकृत का प्रयोग न करके शुद्ध संस्कृत मे ही भाषण करती है। संस्कृत रूपको मे उत्तररामचरितादि की आत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी

तथा वेश्याओं एवं अप्सराओं आदि विशिष्ट कोटि की नारियों को छोड़कर जो वैदग्ध्यप्रदर्शनार्थ संस्कृत बोलती हैं, प्रायः स्त्री-पात्रों द्वारा संस्कृत का प्रयोग निषिद्ध है।[1] प्राचीन रूपककार बहुत समय तक इस नियम का पालन करते रहे हैं, परन्तु नूतन रूपक-प्रणेता आज के युग की रुचि के अनुकूल अपने नारी-पात्रों से प्राकृत का प्रयोग न करवाकर शुद्ध संस्कृत में ही भाषण करवाते हैं, क्योंकि अब प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का उच्चारण करना सरल प्रतीत होता है और संस्कृत में संवाद करवाना भी पढ़ी लिखी स्त्रियों के मुख में उचित लगता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत उक्त नाट्यकार के नागराज-विजय की नायिका के ये संस्कृत-गर्भित वाक्य प्रस्तुत हैं—

> देवी-विजयता महाराज। युद्धकर्मणो भवान् कदाचिन्मा
> विस्मरिष्यतीत्याशङ्कमानैवागता दव द्रष्टुं प्रोत्साहयितुं च।
> अपि च, नाथ, जानामि ते दृढं सकल्पमपरिमितं बलं च।
> किन्तु, स्त्री — स्वभावकातरं वेपते मे हृदयम्।

भारतीय इतिहास के पाठकों को यह सुविदित है कि इस देश में राष्ट्रीय भावना का ह्रास हूण के समय में ही होने लगा था। २०वीं शताब्दी में देश के स्वातन्त्र्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया। भारतीय युवकों में राष्ट्रीय भावना पुनर्जागरित हुई। देश-सेवा महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाने लगा। स्वदेश की रक्षा के हेतु लाठियों की मार खाने या बन्दी-गृहों की शोभा बढ़ाने में आजादी के दीवाने अपना सौभाग्य समझने लगे। आधुनिक संस्कृत-नाट्य-संसार में भारत का यह चित्र भी प्रतिबिम्बित है। यहाँ श्री नारायणशास्त्री, कड्कर के 'स्वा-तन्त्र्य ज्वालाहुति' का स्मरण हो आता है। इस एकांकी रूपक में सन् १९४२ की अंग्रेजी राज्य की दमन नीति के शिकार स्वतन्त्रता-संग्राम की बलिवेदी पर अपनी आहुति देने वाले देश-भक्त युवकों के त्याग की कथा प्रदर्शित की गई है।

१– पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम्॥
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम्।
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा॥

साहित्यदर्पण-षष्ठपरिच्छेद १५६-१६

पण्डितक्षमाराव द्वारा प्रणीत "कटुकविपाक" का विषय भी सत्याग्रह के दिनों की अनेक दुःखद घटनाओं में से एक है। जिनमें किसी परिवार के पुत्र या पुत्री सत्याग्रह के आन्दोलन में देश के लिये जीवनोत्सर्ग कर देते हैं। प्राचीन आदर्शों को भूल कर विदेशी सभ्यता में रँगी हुई आधुनिक महिलाओं के सामने सती, सीता, दमयन्ती, अनसूया, नर्मदा आदि प्राचीन स्त्रियों की कथा को याद दिलाने वाली रचनाओं को यदाकदा प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है। भारतीय साहित्य ग्रन्थ-माला के सप्तम पुष्प "सावित्री नाटक" की रचना करके श्री रामकृष्ण मणि त्रिपाठी ने इस समस्या को हल करने का प्रयास किया है। इसमें मद्र देश के राजा अश्वपति की पुत्री सावित्री की अपने मृत पति के प्राणों को यमराज से वापस माँग लाने की जगत् विख्यात कथा वर्णित है। इस एकाकी में छोटे छोटे सरल वाक्यों और श्लोकों द्वारा यम एवं सावित्री का सारगर्भित संवाद अंकित हैं। सत्यवान्, यम, नारद तथा स्त्री पात्र सावित्री, सबके सब अभिनेता संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं। अन्य आधुनिक नाटकों की तरह प्राकृत का इसमें भी अभाव है। अन्त में पतिव्रता सावित्री अपनी अनोखी विचार-शक्ति, पति-भक्ति एवं वाक्यातुर्य से मृत्यु के देवता यम को भी परास्त करके उससे अपने पति को पुनः प्राप्त कर लेती है और इस मंगलमय शास्त्र-वचन के साथ वह लघु नाटक समाप्त हो जाता है।

स्वस्तिप्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण मही महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥

इसकी अभिनेयता को क्षति पहुँचाने वाले कतिपय बाधक तत्व भी हैं। यथा—

यमराज सावित्र्यै सत्यवतः प्राणान् ददाति, सावित्री च हस्ताभ्यां सहर्षं गृहीत्वा।

— — —

इत्युक्त्वा वेगेन तारामण्डले आरमानमनुगच्छन्ती सावित्री दृष्ट्वा। ·

इन आपत्तिजनक नाटकीय निर्देशों से युक्त होने पर भी संस्कृत एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति को जीवित रखने की भावना से रचित प्रस्तुत एकाकी का अपना विशेष महत्व है।

प्राचीन प्रहसनों के अतिरिक्त संस्कृत व्यङ्ग्य नाटिकाएं भी लिखी गई। यद्यपि इस कोटि के व्यंग्य हमें सामाजिक, पौराणिक एवं चरित-विषयक प्रेक्ष्य-काव्यों में भी प्राप्त होते हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इसी विषय को लेकर लिखे गये एकांकियों का भी संस्कृत नाट्यकानन में अब अभाव नहीं है। अस्तु-

श्री के० आर० नायर की "अलब्धकर्मीयम्" अथवा 'आलस्यकर्मीयम्" नामक व्यंग्य एकाङ्किका में चित्रित पात्रों ने लक्षणा से संस्कृत-भाषा, उसके साहित्य और कल्पना-लोक का अभिसूचन किया है। इसमें एक जीविका-रहित संस्कृत के दरिद्र विद्वान की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। वह अपने परिवार को निर्धनता से मुक्ति दिलाने के लिये जब सेना में प्रविष्ट होने या कृषि कार्य में जुटने का उपाय सोच ही रहा था तब सहसा उसे एक संस्कृत पाठशाला में वृत्ति मिल जाती है।

श्री वेङ्कटाचार्य द्वारा लिखित 'अमर्ष-महिमा" में भी घरेलू तथा आफिस सम्बन्धी सामान्य अनुभूतियों का नाटकीकरण किया गया है। रामचन्द्र नामक एक अधिकारी अपनी पत्नी भाग्यवती के प्रति भोजन न बनने पर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठता है और क्रोध में भोजन किये बिना ही आफिस चल देता है। वहाँ वह अपने निरपराध सहायक अधिकारी चन्द्रशेखर को सताड़ता है। परिणामतः चन्द्रशेखर घर पहुँचते ही अपनी पत्नी सरोज से झगड़ने लगता है और उधर सरोज अपने सेवक बालिका को खरी खोटी सुनाने लगती है। इस प्रकार ऊपर के उच्च अधिकारी से लेकर नीचे के सामान्य नौकर तक क्रोध की प्रतिक्रिया की शृङ्खला बँध जाती है। इस पर अंगरेजी निबन्ध "आन सेइङ्ग ओड" की छाया स्पष्ट है।

भारतीय समाज में प्रचलित "दाह-सस्कार" एवं ऐसी ही अन्य प्रथाओं पर भी आधुनिक नाटकों में व्यंग्यात्मक प्रकाश डाला जाता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "अन्त्येष्टि संस्कार" नामक प्रहसन को श्री के० कमला ने संस्कृत में अनूदित किया है। इसमें बतलाया गया है कि एक मरणासन्न वृद्ध के पुत्रों ने अपने पिता की मृत्यु के समाचार को सर्वविदित करने के लिये बहुत बड़ी तैयारी कर ली किन्तु चिकित्सक की धारणा के विरुद्ध उस वृद्ध ने पुनः स्वस्थ होकर उसके पुत्रों, मित्रों तथा उसकी अन्त्येष्टि के लिये एकत्रित हुए अन्य सब सम्बन्धियों को आश्चर्यान्वित कर दिया।

पुरुष-पुङ्गव भाण

समाज के स्त्री पुरुषों में पारस्परिक विचारों के स्वच्छन्दतापूर्वक आदान-प्रदान की भावना के उत्पन्न होने पर ही भारतीय गृहस्थों का उद्धार हो सकता है।

> यावच्च धर्मजटिला न परित्यजन्ति
> तावन्न नो भवति भारतगृहस्थभव्यम् ॥[1]

परन्तु इस प्रकार की स्वच्छन्दता की अधिकता उपहास का विषय भी बन सकती है। 'पुरुष-पुङ्गव' भाण में यही बात बतलाई गई है। नाना नाट्य-कृतियों के प्रणेता श्री जीवन्यायतीर्थ का उक्त भाण तात्त्विक दृष्टि से प्राचीन नाट्य शास्त्र में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार लिखा गया एक-पात्रीय रूपक है, परन्तु इसका विषय आधुनिक है। संस्कृत-साहित्य-परिषद् के अन्तर्गत सारस्वतोत्सव के अवसर पर अभिनय के हेतु रचित प्रस्तुत भाण में सर्व प्रथम वामन-रूपधारी विष्णु भगवान् की धूर्त लीलाओं का वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की गई है—

> वामनोऽपि सुमनो मनोहरो
> मूर्तभिक्षुरपि धूर्तलीलया।
> अङ्घ्रिमात्रपदसंग्रही लस
> न्नग्न इव पुरुषपुङ्गवोऽवतु ॥[2]

---

१. पुरुषपुङ्गव, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलिकाता
२. पुरुषपुङ्गव संस्कृत साहित्य परिषद्, वॉल्यूम ४०, अप्रैल १९६१, पृ० १७६–१८०

इसका विषय परदारसग है जो शृङ्गारिक होते हुए भी प्राचीन भाणों के वेश-प्रसग से कुछ भिन्न है। इस रूपक के वाग्वीर नामक नेता (नायक) का हास्योत्पादक चरित्र भी सूत्रधार के वाक्यो मे अङ्कित है। उसकी वीरता वनिता-मण्डल मे और धीरता बालमण्डली मे ही प्रस्फुटित होती है। उसका नीतिवर्जन परपीडनाय गजन निरीह-शासनार्थ तथा कूट सजन जनवञ्चनाथ होता है—

सूत्रधार — अरे। समायवति पुरुषपुगवो वाग्वीरनामा। य किल नारीसदसि वीरायते, धीरायते शिशुसदि, कीरायते च विद्वत्परिषदि। तनोति नीतिवर्ज्जन परपीडनाय, करोति गजन निरीहशासनाय, कूटसजनञ्च जनवञ्चनाय। तदस्य पुरतो नेच्छामि स्थातुम्।

इस छोटे से रूपक मे बतलाया गया है कि पुरुष पर नारी सग के लिये लालायित रहते हैं और स्त्रियाँ भी परपुरुष के साथ कुछ क्षण व्यतीत करने को आतुर रहती हैं। उभयलिङ्गो के प्राणी एक दूसरे से मिलने के लिये बहाने ढूंढा करते हैं। कोई अपने कपडो के साथ चिपक कर चले गये कुशासन के तिनके को लौटाने के बहाने किसी स्त्री के पास जाता है, तो कोई रमणी अपना कुण्डल ढूंढती हुई किसी मनुष्य के पास आती है।[1] आधुनिक समाज मे विशेषकर विभिन्न सस्थाओ मे काय करने वाले बहुत से स्त्री पुरुषो को ऐसा आचरण करते हम प्राय देखते हैं जो इसे सभ्यता का एक अग समझते हैं। ऐसे समाज पर यह गहरा व्यङ्ग्य भी है।

एक पत्नी के रहते हुए दूसरी के प्रेम-पाश मे बँध जाने पर जो प्रणयी अपनी पूर्व पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद करके अपने प्रेम-मार्ग को अपने अनुकूल बनाने को आतुर रहते हैं ऐसे नवयुवको पर भी कहीं-कहीं आक्षेप किया गया है।

> साम्प्रतिकराष्ट्रविधिना बाधित यथेच्छप्रवृत्तिप्रसरो मादृशपुरुष-पुगव कि करोतु, केवल विरहदु खमनुभवतु। भो स्वयवरार्थिनि ललने! त्वमपि सहस्व कियत्-कालस्य कृते विरहदावानल-ज्वालाम्। विधि-परिवतन सम्भवेत्, तदाह स्वयवरा त्वा परिणीय सुखीभवेयम्। वैदिक-विधिबलेन गुरुजन निर्वाचनफलेन च परिणीता मदीया पत्नी कथमपि न विवाहच्छेदमङ्गीकरिष्यति। हा हत मे भाग्यम्।[2]

1- पुरुषपुङ्गव पृ० १८१
2- पुरुषपुङ्गव पृ० १८४

पुत्र पुत्रियों के विवाह के सम्बन्ध मे अनुदार माता-पिताओं पर भी यहाँ व्यंग्य किये गये हैं।

इस भाण की भाषा सरल एवं प्राञ्जल है। स्वरूप में प्राचीन एकपात्रीय रूपक के समान होने पर भी, इसका विषय काल्पनिक एवं आधुनिक है। इसी लेखक की दूसरी कृति विवाह-विडम्बन प्रहसन में विवाह के लिये आतुर रतिकान्त नामक एक वृद्ध के वार्धक्य को दूर करने के उपाय बतलाये गये हैं। वह अपने को युवक के सदृश पौरुषधारी मानता है और किसी दलाल की सहायता से विवाह करने के लिए तैयार होता है, किन्तु अन्त में वही दलाल उसका भण्डाफोड करके उसके इस रंग मे भंग डाल देता है। विषयानुकूल भगवान् शंकर के स्तुतिपरक श्लोक द्वारा संक्षेप में नान्दीपाठक्रिया के उपरान्त कवि अपने परिचय के साथ दो दृश्यों मे विभाजित रूपक का श्रीगणेश करता है।[1] यहाँ कवि ने काली स्याही टायलेट पाउडर (पटवास चूर्ण) आदि के प्रयोग द्वारा इस प्रहसन के नायक को अपना विकृत रूप सँवारने की सलाह दी है। पाउडर क्रीम आदि के प्रयोग द्वारा रूपवान् बनने का निरर्थक प्रयत्न करने वाले कुरूप एवं वृद्ध सज्जनों पर ये व्यंग्यबाण छोड़े गये हैं। वैज्ञानिक चिकित्सक शंकरनाथ का खोये हुए यौवन को पुनः प्राप्त करने का नुस्खा चतुर्भाणी मे निर्दिष्ट जरावस्था को नीली लेप द्वारा दूर करने की क्रिया याद दिलाता है।

> शंकरनाथ श्रूयताम्-
> केशकल्प कायकल्प कपिपशी निवेदनम्।
> कृत्वा षण्मासमध्ये स्याद् वृद्धोऽपि तरुणद्युति ॥
> केशकल्पे पञ्चशतानि, कायकल्पे सहस्र पशीयजनेऽपि तथा।
> रति धनव्ययार्थे सज्जोऽस्मि षण्मासापेक्षा न सम्भवति।
> पक्षकालमध्ये केशल्प एव क्रियताम्। तेन किमविष्यति ?

तुलना कीजिए—

१- विवाह-विडम्बन, लेखक जीव न्यायतीर्थ संस्कृत प्रतिभा अप्रैल १९६१ तृतीय उन्मेष, पृ० ७६

मुण्डुतावदनेन नीलीकम स्नानानुलेपनपरिस्पन्देन जराकौपीनप्रच्छा-
दनमनुष्ठितम् ।[1]

राग–विरागप्रहसन

पुरुषपुगव भाण, विवाहविडम्बन प्रहसन तथा अन्य रूपको के निर्माता जीवन्यायतीर्थ का ही एक और हास्यप्रधान रूपक संस्कृत प्रतिभा मे ही प्रकाशित हो चुका है जिसका शीर्षक है 'राग विराग प्रहसन ।' इसमे संगीत के शत्रु एक राजा के दरबार का वर्णन है। प्रजा के लिए यहाँ गीत गाना निषिद्ध था। राजा ने सर्वसाधारण का मनरञ्जन बतलाकर देश से बाहर निकाल देने का विधेयक बना रखा था। उसके अनुचर एक गायक को पकड़ कर दण्डित करते हैं परन्तु इसी बीच गायक दम्पत्ति अपना मधुर गीत सुनाकर राजा के विचारों में परिवर्तन ला देता है। —

> राजा – राजन् । भवदीय शासननीति परिवर्तनमेव मे महान् पुरस्कार । नाहं तथा द्रव्यार्थी । वरं निःशुल्कोऽपि नटिद्रयना सैनिकश्च सम्भाव्यता धनदानेन । राजकुमारयोरङ्गभूषण अथवा यतोऽतिवसन न वियोजयितुमिच्छामि । उपहारदानप्रस्ताव एव नो गौरव वर्द्धयति ।

इस प्रकार उस युगल ने जड को चेतनता प्रदान करने मे समर्थ मधुर गीतो द्वारा शुष्क हृदय राजा की संगीत के प्रति अरुचि को क्षणभर मे दूर कर दिया। इन गीतो मे काव्य का रमणीय रूप भी देखा जा सकता है। इन गीतियो मे जयदेव कवि के गीत गोविन्द का प्रभाव स्पष्ट है।

> गोपीजनगणवल्लभ हे
> वादय सुमधुरमुरली मुरहर
> ललनाभयमपि दूरय सुन्दर
> विदववरदकर–पल्लव हे ।...

इस प्रहसन की कतिपय पङ्क्तियों में भर्तृहरि के किसी श्लोक का भावानुहरण भी उपलब्ध होता है।

१– संस्कृतप्रतिभा पृ० २६

वयस्य ... ...
एवं जना कथयन्ति–
संगीतसाहित्य रसानभिज्ञ
प्राय पशु पुच्छविषाणहीन ।
चरत्यमौ किन्तु तृण न भुङ्क्ते
मन्ये पशूनामपि भाग्यहेतो ।

तुलना कीजिए—

साहित्यसंगीतकलाविहीन
साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन
तृण न खादन्नपि जीवमान
तद्भागधेय परम पशूनाम् ।।

शृङ्गारनारदीय

रामायण- उत्तरकाण्ड के ३७ वें सर्ग के प्रक्षिप्तांश में वर्णित ऋक्षरजस् की कथा तथा देवी भागवत के षष्ठ स्कन्ध के २७वें एवं २८ वें अध्याय में वर्णित नारद-विवाह एवं नारद-स्त्री रूप वर्णन के आधार पर श्री महालिंग शास्त्री ने सन १९३८ में अपने शृङ्गारनारदीयम् नामक अद्भुत प्रहसन में नारद के स्त्री-रूप में परिणत होने की घटना का मनोहारी चित्रण किया है।

......य एषर्क्षराजो नाम वालि सुग्रीवयो पिता।...उत्प्लुत्य तस्मात्स ह्रदादुत्थित प्लवग पुन। तस्मिन्नेव क्षणे राम सुग्रीव प्राप वानर।[1]

तुलना कीजिए—

नारद उवाच–
काम क्रोधो तथा लोभो मत्सरो ममता तथा।
अहङ्कारो मद येन जिता सर्वे महाबला ।।
राजपत्नीत्वमापन्ना मायाबल–विमोहिता ।
पुत्रा प्रसूता दह्वो गेहे तस्य नृपस्य ह ।।[2]

१– रामायण उत्तर काण्ड अष्टात्रिंश सर्ग पृ १५६
२– देवी भागवत-षष्ठ स्कन्ध ३९-४८ अध्याय २८

श्री भगवानुवाच

> पश्य नारद गम्भीरं सरः मानसनादितम् ।
> सर्वत्र पङ्कजैश्छन्नं स्वच्छनीरप्रपूरितम् ॥
> अत्र स्नात्वा गमिष्यावः कान्यकुब्जं पुरोत्तमम् ।...

बंगलोर से प्रकाशित अमृतवाणी (सन् १९४४) में भी स्त्रीरूपधारी नारद का चरित्र-चित्रण सरल गद्यमय भाषा में श्री पी० एस० दक्षिणामूर्ति द्वारा किया गया था। लिङ्गपरिवर्तन के समाचार आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में छपा करते हैं। ऐसी ही एक घटना को पढ़ कर उससे प्रेरणा ले कवि ने उक्त पुराण के रूप में अधिक लिङ्गपरिवर्तन करने वाले पात्रों को बड़ी निपुणता से जानबूझ कर इस लघु प्रहसन में प्रस्तुत किया है। परन्तु इसका अतिरञ्जित चित्र उपस्थित करने का उन्होंने कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है। इस कारण इसकी कथा-वस्तु बड़ी रोचक बन गई है। विषय प्रवेश का ढंग प्राचीन पद्धति पर आधारित होने पर भी अनोखा है।[1]

मध्ययुगीन नाटकों की प्रस्तावनाओं में कवि की योग्यता और उनके आश्रयदाताओं की प्रशस्ति का बढ़ा चढ़ा कर किया गया वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका सुधरा हुआ मनोहर रूप हम इन नवीन कृतियों में देखते हैं। इनमें प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यिक छटा का एक साथ दर्शन होते हैं।

> विदूषक — धन्विनि ... मे मित्र श्रीमहालिङ्ग कवि ...
> + + —
> विदू०-बाढम् । तच्च शृङ्गारनारदीयं नाम प्रहसनमचिरनिर्मितम्।[2]

इनमें गन्धर्वमिथुन एवं नृत्यरता द्वारा गाए गए मधुर गीतों को पढ़ कवि के संगीत के प्रति अनुराग का ज्ञान भी होता है।[3] यथा—

> अहो विचित्रा मदनस्य माया ...

इन्होंने सर्वत्र उपजाति नामक गेय छन्द का प्रयोग किया है। इन गीतियों में कवि की अद्भुत वर्णनाशक्ति भी छिपी है। शृंगार का सुन्दर एवं सरस वर्णन

१- शृङ्गारनारदीयम्, पृ० १
२- वही पृ० ४
३- वही १-१०, पृ० ५-६

उपलब्ध होता है। नारद का स्त्री रूप मे परिणत होने पर दुखी होना, ऋक्ष-रजा नामक वानर का स्त्री रूपी नारद (रदना) के प्रेम मे पड जाना, उनका नारद से प्रणय याचना करना एव नारद का क्रुद्ध होना आदि स्थल बडे मार्मिक हैं।[1]

पुमान् रूपवती नारी नारी स्याद गाढयौवना।
सुन्दरी सरसिस्नाता यस्या ऋक्षरजा पति ॥

नारद – आ पापिष्ठ, मर्कटपाश, नारदोऽह ब्राह्मण।
प्रथम – पुन ! किं मुधा चापल व्रजसि। शप्तोऽसि यदि परिस्पन्दम।
ऋक्षरजा –(सोपहासम्) हुम् नारद। कुतोऽत्र नारद ?
नारदो रदना जातो देवर्षिर्योषिदुत्तमा।
अयमग्र प्रथम पुनस्तस्यैवानुगता स्नुषा ॥ ..

ऋक्षरजा के बहुत पीछे पडने पर नारी रूपी नारद का छल मे वानर से उस मायावी सरोवर मे से मधुर जल लाने का अनुरोध करना हास्यमय वातावरण की सृष्टि करता है।[2]

ऋक्षरजा –प्रिये समाज्ञापय सेवाप्रचारम् ..

वानर तो इसे महानुग्रह समझकर तत्काल मायिकसरोवर मे प्रविष्ट होता है और नारद को उसके स्त्री रूप मे आ जाने से प्रसन्नता होती है। नारद को ऋक्षरजा से मुक्ति भी मिल जाती है। प्रसङ्गवश सूर्य के तेज का वर्णन भी कवि की लेखनी से सुन्दर बन गया है।[3]

नारद – (इति परिक्रामति) अये, कठोरयत्यातप प्रभाकर। आरूढ किल मो प्रकृष्टमन्तर दिव। इदानीमत्र सन्निवेश महिम्ना
हिमसुनिपरम्परारजतशृङ्खलादामभि–
विलम्बमणिमञ्चकप्रचुरदर्शनीय सर।
निविश्य निजबिम्बसमित मनोज्ञवर्ष्मा रवि.
समालुरव नोक्यते करविराजिताम्भोरुह ॥

१– शृङ्गारनारदीय पृ० १०–११
२– वही पृ० १७
३– वही १८ पृ० ८

नाट्यकार का भाषागत अधिकार प्रशंसनीय है। इसकी कृतियों मे स्त्री-पात्र भी प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं। स्त्री-रूपी नारद (रदना) भी संस्कृत म भाषण करते हैं।

उभयरूपकम्

श्रीमहालिंग कवि का 'उभयरूपक" एक सामाजिक एकांकी प्रहसन है। इसमे कुक्कुट स्वामी ने छोटे पुत्र छागल के माध्यम से ग्राज के अंग्रेजी-पद्धति से पढ कर आगे बढे हुए युवकों पर व्यंग्य का मधुर वार किया गया है। यह प्रहसन गाँव के गुरु व्रजघोष एवं कुक्कुट स्वामी के वार्तालाप मे आरम्भ होता है।[1] अध्यापक की बातों ही बातों मे मालूम होता है कि छागल गाँव में शीत-कालीन अवकाश व्यतीत करने आया है। वह सदा मद्रास के सिंगलपुर नगर में ही छुट्टियों मे रहा करता था। उसे ग्रामीण जीवन पसन्द नही। पढ लिख कर मे अच्छी नौकरी प्राप्त कर छागल बडा आदमी बनगा, अत यह पिता का बडा प्यारा पुत्र है। छागल का भाई छन्दोवृत्ति पिता के इस व्यवहार से असन्तुष्ट है। उसे भी आचार्य व्रजघोष की तरह नागरिकता पसन्द नही।

छागल को जब पिता एवं ग्रामीण अध्यापक की बातों से उसके विवाह के पक्के होने की बात मालूम होती है तब वह इसे अस्वीकार करता है। कारण, वह दहेज के लोभ मे दूसरो द्वारा चुनी गई कन्या से विवाह नही करना चाहता। वह तो स्वेच्छा से अपनी सहपाठिनी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी बीच उसे कालेज मे होने वाले उत्सव के कार्य मे सहायतार्थ अपने किसी आचार्य के साथ मद्रास जाने की लिखित आज्ञा मिलती है। रेल के समय की जानकारी पाकर स्वयं क्षौर करने बैठता है। क्षौर-कर्म के उपरान्त कटे हुए केशादि एक कागज मे लपेट कर लिफाफे मे डालकर जल्दी मे नौकर के साथ स्टेशन की ओर चला जाता है। जाते समय उसका लिखा अभिनय पाठ (जिसे वह कण्ठस्थ कर रहा था) वहीं छूट गया था। घर वाले उसे आत्महत्या करने जाने से पहले छागल द्वारा लिखा हुआ पत्र समझ लेते हैं। पास मे पड़े हुए रद्दी लिफाफे मे पड़े कागज को देखकर वैद्यराज बतलाते हैं कि छागल ने भयंकर विषग्रहण करके अपनी हत्या की है। घर मे कुहराम

१- उभयरूपकम् - पृ० ४-६

मचता है। परन्तु नौकर के स्टेशन से लौटने पर जब छगन का पत्र पिता को मिलता है तो उसके पुत्र के यहाँ से जल्दी आने का कारण मालूम होता है। उस के आधार पर भी अनेक भ्रान्त अनुमान किए जाते हैं। फलतः सौकुमार्य वातावरण हास्य से आप्लावित हो उठता है। कुक्कुट को माता पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले पुत्र से निराश होना पड़ता है। उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है और इस प्रहसन का अन्त एक रोचक भरतवाक्य से होता है जिसमें सास-बहू के कारण उत्पन्न घरेलू कलह की शान्ति के लिये प्रार्थना की गई है।[1]

> शाम्यन्त्वाशु ननान्दृभिः परिचिता श्वश्रूस्नुषाविग्रहा
> वतन्ता मुमुक्षा प्रसूतिषु सम वृद्धा गृहस्थाश्रित।
> सन्तेषो धन्या नवप्रसवयोस्तत्कुशलाशम्बर
> मानसा प्रचरन्तु वसंति चिर विद्वत्कविः भारते॥

इस अर्वाचीन प्रहसन में देश और काल के अनुसार विषय चुना गया है। इसके प्रधान रस के अनुकूल ही इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ हास्य रस में डूबी हुई हैं।[2] महालिङ्ग शास्त्री के दूसरे प्रहसनात्मक रूपक कौण्डिन्य का उल्लेख भी इसकी प्रस्तावना में किया गया है।[3] उभयरूपकम् प्रहसन की सुबोध तथा सरल भाषा सुन्दर सूक्तियों के प्रयोग से सारगर्भित हो गई है।

> अहो स्नेहलोपरा कालमहम ऊर्मा॥ (पृ० ४)
> उदार समाचरनाम – (पृ० ५)
> मनोरथोच्चयसिद्धि-भावनाप्रसरानच्छेदकपर्याय पुन भा॰॰॰-(पृ॰ ८)
> पाश्चात्य पवित्रतादिम्बग्राहिणामाधुनिकबुधिनाम् –(पृ० ८)
> प्रवादाश्चादविवादानामभूमिर्नाम नगरसनाम – (पृ० १२)
> पुन, कूष्माण्डमन्दानि छादयामि – (पृ० २३)
> अहो अनन्तो मे तर्क – (पृ० ३८)

1- उभयरूपकम् पृ० ४०
2- वही – पृ० १
3- उभयरूपकम्, ३ पृ० २

अनुष्टुप्, आर्या, उपजाति, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित शालिनी, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि वृत्तों का प्रयोग कर कवि ने छन्द शास्त्र पर अपना अधिकार-प्रदर्शन किया है।

विमुक्ति

संस्कृत प्रतिभा नाम अर्धवार्षिक पत्रिका में प्रकाशित डा० वी० राघवन् का "विमुक्ति" नामक प्रहसन भी अपने ढंग का निराला है। इसकी प्रहास्यवस्तु इहलोक ही है। पात्र भी सामाजिक हैं। इसमें माया म लिप्त मनुष्य का संघर्षों से व्यग्र पीडित होना, इच्छा के प्रतिघात से क्षुब्ध होना, इष्ट की सिद्धि होने पर उसका प्रसन्न होना, कुत्सित वस्तु से घृणा करना, ईप्सितादि के न मिलने पर मानव का करुण-क्रन्दन आदि दृश्य प्रदर्शित किए गए हैं। दो अंकों में विभक्त इस अलौकिक प्रहसन के नायक आत्मनाथ[1] ब्राह्मण को मनीषी कवि ने जीवात्मा का प्रतीक माना है। उसके ६ पुत्रों में ज्येष्ठ तनय सटकेश्वर "मन" के और चलग्रीव गुण्डाल, दीर्घश्रवा डलूनाक्ष कण्डूल (कनिष्ठ पुत्र) आदि पाँच इन्द्रियों के वाचक पात्र हैं।

> ब्रा०—तथापि इदमस्तु भरत वाक्यम् –
> ईशस्त्व पुरुषोऽस्मि गेहमिह मे देह स दंष्ट्री यम
> सा भार्या प्रकृति गुणा भगिनिका, माया च ताता प्रसू।
> षट्पुत्रा मन इन्द्रियाणि, नगर लोक, विमुक्त्यै तत
> सत्त्वस्था प्रकृति, तथा प्रहसन दृष्टवा चना जाननाम् ॥

ब्राह्मण की त्रिवर्गिनी नामक भार्या को जो अन्त म प्रसन्ना नाम धारण करती है प्रकृति माना गया है जिसकी माता मायावती (माया) है। उसकी तीन बहनें चन्द्रिका, शोणिता एव हस्तिनी क्रमश सत्व, रजस् और तमोगुण की ओर संकेत करती हैं। वृद्ध ईश्वर का व्यञ्जक है। दंष्ट्री राजा का सर्वाधिकारी साला है। (धर्म, यम) पुरुष राजस्याल के चाकर हैं। पौरगण अपने अपने शास्त्र मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं।

१– विमुक्ति नाम प्रहसन पृ० १६० (यह प्रहसन संस्कृत रङ्ग द्वारा चतुर्थशार्दिकाब्द के अवसर पर खेला गया था)

निर्वाणिनी के कारन द्वारा यह बतलाया गया है कि स्त्रियाँ अज्ञानवश माया जाल बिछा कर गृहकलह का कारण बनती हैं।

> पत्नी निव० – स्वामिन्, अज्ञानात् प्रबलेन मदीयद्वितीय-तृतीयभगिनी दुष्पवेद्येन चिराय भर्तरि अत्यन्त कृतापराधास्मि। केवलमीप्यया ता पीठयन्ती आमम् (परिवृत्य पश्यन्ती) अहो भगिनि, विस्मर मे दुश्चेष्टितानि एहि, आलिङ्ग माम्।[1]

मूत्र वनिताएँ ईर्ष्यावश दूसरे के गुणों में भी अवगुण के दर्शन करती हैं। चित्तवृत्ति के निरोध व माया से मुक्त होकर मनुष्य सुखी रह सकता है। यही इस अलौकिक प्रहसन का सार है। दार्शनिकता के योग से प्रस्तुत कृति में थोड़ा गाम्भीर्य आ गया है जो इसे पुरातन निम्नकोटि के प्रहसनों से पृथक करता है। इस नवीनधारा में बने प्रहसनों में उक्त त्रुटि को दूर करने का नवीन साहित्यकारों ने पूर्ण प्रयत्न किया है। इसमें वे सफल भी हो रहे हैं। कारण स्पष्ट है। प्राचीन प्रहसन राजदरबारों के अंकुश से दूर हो मन्दिरों के खुले मैदानों में खेले जाते रहे हैं। यह जन-साधारण की अपनी वस्तु बन गई थी जिसका शिष्ट–साहित्य से निकट सम्बन्ध न था। इसके विपरीत आज विद्यालयों एवं महाविद्यालयों तथा अन्य सांस्कृतिक विकास में सहायतार्थ निर्मित संस्थाओं में शिक्षा के प्रसारणार्थ प्रहसनों का निर्माण हो रहा है। इसी प्रकार भावराकोर के सुन्दर राज ने "स्नुषाविजय" के० एल० वी० शास्त्री ने "लीलाविलास" तथा चामुण्डाजी न्यायतीर्थ ने "क्षुत्क्षेम" और के० नायर ने बेरोजगारों पर छींटे कसने वाला व्यंग्य रूपक "अप्रबन्धकर्मीयम्" जैसे नवीनतम हास्यात्मक एकांकी रूपकों का प्रणयन करके प्रहसनकोश को समृद्ध बनाया है।

मिथ्याग्रहणम्

प्रेम के मार्ग में जाति–पाँति का भेद बाधक नहीं होना चाहिये, भारतीय समाज में ऐसे उदारभावों के प्रचारार्थ भी कतिपय एकाङ्कियों की रचनाएँ संस्कृत में हुई हैं, जिनमें दृष्टान्तस्वरूप श्री पण्डिताक्षमाराव एवं लीलारावदयाल द्वारा तैयार किए गए मिथ्याग्रहणम् रूपक का उल्लेख किया जा सकता है इस नाट्य कृति की कथा इस प्रकार है।

1– निर्मुक्तिनामिम् प्रहसनम् पृ० १४८

अमीना एक मुसलमान लड़की है और सरला हिन्दू। दोनों में घनिष्ठ मित्रता है। अमीना का पति शेख सरला से, घुड़सवारी के अभ्यास के लिए एक ही स्थान पर नित्य आते जाते रहने से परिचित हो जाता है। परिणामतः अमीना उन दोनों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगती है। एक बार शेख के साथ दुर्घटना हो जाती है—सरला उसकी मरहम पट्टी अपने ही कमरे में करती है। ऐसे में अमीना शेख के साथ एक अन्य महिला का परिचय है, यह जान लेती है। वह महिला और शेख एक ही फ्लैट में रहते हैं। अतः शेख का उसके यहाँ आना जाना अमीना के साथ उसका विवाह होने के पहले ही से था। यह बात जान लेने के बाद सरला के प्रति अमीना का सन्देह निर्मल हो जाता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि एकाङ्कियों के पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण रेडियो ने प्रसारणार्थ इस कोटि के रूपकों की माँग भी है। संस्कृतरत्न मद्रास में मुद्रित डॉ. वी. राघवन् के विकटनितम्बा, विजयाङ्का, अवन्ति-सुन्दरी, नामशुद्धि और श्रीमती देवकी मेनन का 'पृथक् मुष्टि' तथा जी. कृष्णमूर्ति द्वारा प्रणीत "नटीनटौ" नामक लघु नाट्य इसी उद्देश्य से रचे गये हैं। इनमें वाचिक अभिनय का आनन्द श्रवणेन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः इन्हें दृश्य एकांकी न कह कर रेडियो रूपक कहना ठीक होगा। वस्तुतः, ये नाट्य-कृतियाँ श्रव्य काव्य की कोटि में रखने योग्य हैं, तथापि रंगमञ्च पर भी खेली जा सकती है। अतः उनमें दृश्य-काव्य की क्षमता भी है। इस विभाग के कारण निस्सन्देह हमारे एकाङ्क-नाट्य भण्डार में वृद्धि हुई है। अतएव आधुनिक संस्कृत एकांकियों के साथ इनकी चर्चा करना अस्थाने नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि मनोरञ्जन एवं शिक्षणार्थ विभिन्न क्षेत्रों से नित्य नये एकांकियों की माँग के होने पर समयाभाव के कारण नये चिन्तकों एवं साहित्य-निर्माताओं को चिन्तन तथा मनन का अधिक अवसर नहीं मिल पाता है। अतः उनके एकांकियों में मौलिकता भी नहीं आ पाती है।

इसी कारण, पुराण तथा आदि महाकाव्यों (रामायण, महाभारत) को अपनी रचनाओं के उपजीव्य बनाने के स्थान पर संस्कृत विश्ववन्द्य महाकवियों के लब्ध-प्रतिष्ठ ग्रन्थों से कुछ अंश लेकर अथवा साहित्य-शास्त्रों में किसी अज्ञात कवि के बिखरे हुए श्लोकों को एकत्र करके उन्हें सम्यक् रूपेण सदृब्ध करने की परिपाटी भी चल पड़ी है। डॉ. राघवन की "रासलीला"

'लक्ष्मी-स्वयंवर" "महाश्वेता" "आषाढस्य प्रथमदिवसे" आदि नाटिकाएँ इसी प्रकार की हैं। इनके विषयाधार के मौलिकता के अभाव एवं आकार-लाघव को देख कर इन्हें पूर्ण विकसित एकाकी तो नहीं कहा जा सकता तथापि अनुहरण से उद्भावित अभिनेय काव्यों द्वारा संस्कृत साहित्य के एकाकियों के कोश को सम्पन्न करने का श्रेय इन एकाकीकारों को निस्संकोच दिया जा सकता है।

इनके "आषाढस्य प्रथमदिवसे" में महाकवि कालिदास के खण्डकाव्य मेघदूत के श्लोकों का गद्य में रूपान्तर करके कालिदास के साथ यक्ष का वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है। अन्त में कालिदास के मुख से "धूमज्योतिस्सलिलमरुता सन्निपात: क्व मेघ:" श्लोक को उद्धृत करवाया है। तदुपरान्त इसी में यक्ष के मुख से उसके सन्देश-श्लोकों को यथावसर गेय बतलाकर इस रूपक को समाप्त करने का निर्देश उपलब्ध है।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट की कादम्बरी में वर्णित 'शिवसिद्धायतनवर्णना" से लेकर "कामाकुल-महाश्वेता दशावर्णन" तक के वर्ण्य विषय का संक्षिप्त प्रारूप इनकी "महाश्वेता" में अनूदित है। इसके आरम्भ और मध्य में कादम्बरी के दो श्लोक उद्धृत हैं, एक श्लोक हर्ष-चरित में आकलित आद्यमंगल श्लोकों में से भी लिया गया है।

महाश्वेता– जयन्ति बाणसुर-मौलिलालिता
दशास्य-चूडामणि–चक्रचुम्बिन.।
सुरासुराधीश-शिखान्तशायिन.
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसव:॥[१]
नमस्तुंगशिरश्चुम्बिचन्द्र-चामर-चारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भ मूलस्तम्भाय शम्भवे॥[२]

डॉ. वे. राघव शर्मा ने श्रीमद्भागवत् पुराण के श्रीकृष्ण एवं गोपियों की रासलीला का वर्णन करने वाले श्लोकों (रासपञ्चाध्यायी) के आधार पर अपनी रासलीला नामक एकाकी नाटिका की रचना भी की है। उनका लक्ष्मीस्वयंवर प्रेक्षणक भी इसी कोटि का है। इसके विषय का आधार है देवताओं

१– कादम्बरी से उद्धृत.
२– हर्ष चरित से

और दानवों द्वारा समुद्रमन्थन की लोक प्रचलित पौराणिक कथा। लक्ष्मी का क्षीरसागर म से निकलना और विष्णु को अपने पति के रूप मे चुनना—इसमें दर्शाया गया है। पाश्चात्य पद्धति म प्रेरित होकर लिखी गई इन कृतियों मे पुराणों म लिये गये श्लोकों एवं कुछ निजी पद्यों का सगम दृष्टिगोचर होता है। इन सगीत नाटिकाओं मे भाषागत सौष्ठव के दर्शन नहीं होते। अपनी मौलिकता के अभाव का ग्रन्थ-प्रणेता स्वय भी स्वीकार करते हैं।

स्वनाकर पत्राण्यायाज्य शुकनोक–कुसुमैस्सह।
जुगुम्फ राघवा रामनीना कन्यामिव स्रजम्॥

\+ \+ \+

पुराणादि-कावय पुष्पैः सद्वाक्यपत्रैश्च गुम्फिता।
साहित्य-वनमालेयं श्रीरिवैतु हरेरुर।।

इनकी रासलीला में स्थित रासनृत्य एवं सगीत तत्व को देखने से लक्षण ग्रन्थों मे वर्णित नाट्यरासक का ध्यान अवश्य आ जाता है। परन्तु वास्तव में यह एकांकी सामान्य प्रेक्षणक है।

कामशुद्धि

इसी प्रकार इनका 'काम शुद्धि' भी महाकवि कालिदास के विश्वप्रथित महाकाव्य कुमारसभव पर आधारित लघु प्रेक्षणक है, जिसकी नायिका पार्वती न होकर कामप्रिया रति है और नायक है मदन।

> कवि – वस्तु चैतत् कवो कालिदासस्य कुमारसभवात् महाकाव्यादुद्धितम्, तस्य च हृदयभूतम्। अत्र नायिका रति न पार्वती। नायकश्च मदन न परमेश्वर।

परन्तु इसमे कवि की प्रतिभा चमक उठी है। मुनिजनों की तपस्या को भंग करके पापाचार में रत कामदेव की क्रुद्धा पत्नी रति घोर तपस्या में लीन होकर उसकी शासिका बनती है –

काम – प्रिये कोऽयं सहसा भयात्कृदः कोपररोग ? अद्यसमोहनेन विश्वामित्र रम्भाया कुम्भदास करिष्यामीति देवेन्द्राय प्रतिज्ञातवानस्मि।

रति– (कर्णौपिधाय) अविद्दा। अविद्दा। अलमेतैरपदानै।
अथवा अपवादै। अहो, कियती लज्जा भावहन्त्येतानि ते
मन्मथ, कन्दर्प, मदन इति दुष्टानि नामानि ?

+ + +

परमेश्वर–इय सा, यस्यास्तपो मदीयमपि तपो
दूरमधःकृत्य, मामप्यनुकर्षेत्। दुर्ललितस्य भर्तु पापाना
भार्या स्वय प्रायश्चित कुरुते। ... ...

तपस्या–काल मे साक्षात् परमेश्वर मे उसका सवाद होता है। जब अपने पति के दुष्कर्मों से खिन्नमना रति अपने स्वामी को त्याग देना चाहती है, तब इस प्रसग मे परमेश्वर के मुख से उसके लिये निकले हुए उपदेश-वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उनका कहना है कि भर्तृ-परित्याग और पाप-साहचर्य, ये दोनो ही बाते अशोभनीय हैं। जिस प्रकार लोहे एव अन्य धातुओं से मिश्रित स्वर्ण का त्याग न करके अग्नि मे तपाकर उसे शुद्ध करके काम मे लाया जाता है, उसी प्रकार कुशल पत्नी को कुमार्ग पर भी चलने अपने पति को सान्त्वनादि द्वारा सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करना चाहिए। उसे निराश नही होना चाहिए–

परमेश्वर–आयुष्मति। नभर्तृ-परित्याग शोभते, नतरा
शोभते पापसाहचर्यम्। . कुशलया भार्यया
उच्छृङ्खल धावन्भर्ता निग्रहीतव्य। लोहान्तरै धातुभिश्च दूषितमिति
न हैम परित्यक्तव्य किन्तु पाकेन शोधयितव्यम्।

असस्कृत पशु धर्म 'काम' सारी सृष्टि का कारण होता है। गीता भी प्रकारान्तर से इस तथ्य की पुष्टि करती है–

आयुधानामह वज्रम्। प्रजानाचास्मि कन्दर्प
सर्पाणामस्मि वासुकि ॥[1] ।

परन्तु विवेक की अग्नि मे तप कर यह कामैषणा शुद्ध काम का रूप धारण कर लेती है और परिष्कृत होकर मोक्ष का हेतु बन जाती है।

१– गीता १०, २८.

परमेश्वर— ... अशुद्ध एव काम पुमर्थान्तिराणामङ्गम्
शुद्ध पुनरङ्ग । अङ्गी स्वय परम पुरुषार्थ ।

+ +

ज्ञानाग्नि-परिपूतो य सवक्षेमैककल्पक
स व प्रकाशता काम मत्स्वरूपादनन्तर ॥[1]

यही इस लघु नाटक का शुभ सन्देश है। अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य के एक श्लोक मे भी यही भाव निहित है। [2]

क्रमेणाद्भि शुद्ध कनकमिह पासुव्यवहित
यथाग्नौ कर्मार पचति भृशमावतयति च।
तथा योगाचारो निपुणमिह दोषव्यवहित
विशोध्य क्लेशेभ्य शमयति मन सक्षिपति च ॥

इस उच्चादर्श के अतिरिक्त कामशुद्धि नाटिका मे कवि का कवित्व अन्यत्र भी प्रस्फुटित है। मधु (वसन्त) एव अन्य भाववाचक पात्रा का भी इस एकाकी मे समावेश हुआ है, परन्तु उनके सजीव चित्रण के कारण उनकी भाववाचकता प्रकट नहीं हो पाती। भाषा प्राञ्जल है और रति को घोर तपस्या के दृढ निश्चय से विमुख करने के लिए जिस श्लोक का प्रयोग किया गया है, उसका प्रथमाध कुमारसभव के पञ्चमसर्गस्थ कतिपय पदो मे मिलता है।

पद सहेत भ्रमरस्य पेशल
शिरीष-पुष्प न पुन पतत्रिण ।
तप शरीरै कठिनैरुपार्जित
तपस्विना दूरमध करोत्यसौ ॥

तुलना कीजिये—

पद सहेत भ्रमरस्य पेलव
शिरीषपुष्प न पुन पतत्रिण ॥

१- कामशुद्धि.
२- सौन्दरनन्द सर्ग १६, श्लोक सख्या ६८

ईप्सितार्थ को पाने से पूर्व ईप्सु को घोर तपस्या तथा तप फल प्रदान करने से पहले फलदाता द्वारा उसकी परीक्षा लेने का चित्र संस्कृत-साहित्य में बहुत से स्थलों पर देखने को मिलता है। विशेषकर व्यायोगों में ऐसे चित्रणों का प्राचुर्य है। संस्कृत साहित्य के कवियों को इस प्रभावोत्पादक चित्रण ने इतना लुभाया कि परवर्ती साहित्यकारों ने बहुत समय तक इस प्रकार के वर्णन को स्वकीय कृतियों में स्थान देकर इसे एक रूढ़ि का रूप ही दे दिया। इन सब का प्रेरणा स्रोत महाकवि भास एवं कालिदास की कृतियाँ ही है। डा० वी० राघवन् ने तो कामशुद्धि की रचना द्वारा इनके प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित किया ही है, अन्य अर्वाचीन नाट्यकारों ने भी कुमारसंभव के पंचम सर्ग को अपने काव्य का विषयाधार बना कर महाकवि कालिदास को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है जिसमें डा० के० टी० पाण्डुरंगी का नाम प्रमुख है। इनका नवफलम् भी रेडियो के लिये ही लिखा गया है। इसके अतिरिक्त इसी लेखक का 'सीतात्याग' भी महाकवि वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति की रचनाओं पर आधारित एवं रेडियो पर सुनने योग्य एकाङ्की है।

नलदमयन्ती के आख्यान पर आधारित "भैमीनैषधीयम्' सीतारामाचार्य की एक एकाङ्किका है। भारती द्वारा एकाङ्की नाटकों की प्रतियोगिता में निय यह स्वीकृत भी हो चुकी है। श्री जीवनलाल टी० पारीख ने अपने छाया शाकुन्तलम् में 'कालिदासीय शाकुन्तल" को उपजीव्यग्रन्थ बनाया है। इस नाटक में सब प्रथम शकुन्तला कण्व के आश्रम में पहुँचती है। इसके बाद जब दुष्यन्त की खोई हुई अँगूठी मिल जाती है तब वह भी वहीं पहुँचता है। इसमें तिरस्करिणी विद्या के बल से अदृश्य शकुन्तला के साथ दुष्यन्त के साक्षात्कार का चित्रण किया गया है जो उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में प्रदर्शित वास्तविक चित्र के अनुरूप है।

पुनरुन्मेष

"पुनरुन्मेष" नामक एकाङ्किका के तीन छोटे-छोटे दृश्यों द्वारा डॉ० वी० राघवन् ने भारत के नष्टप्राय प्राचीन साहित्य तथा दिनोंदिन विस्मृति के गर्त में पतित होती हुई शास्त्रीय संगीत एवं नृत्यकला को पुनर्जीवित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। प्रथम दृश्य में एक आगन्तुक विद्याराम नामक ग्राम में पहुँचने पर किसी ग्रामस्थ द्विज को अपनी साहित्य-शास्त्र-विद्या से कुछ लाभ न हो सकने के कारण निराश होकर पुरानी हस्तलिखित पोथियों को विदेशियों के

हाथ बेचकर अथवा नदी में बहाकर नष्ट करने को उद्यत देख दुःखी हो जाता है। परन्तु आगन्तुक —'आय। मैव भण। अद्य स्वातन्त्र्यलाभानन्तर भारतीय संस्कृते मूलभूत विद्या भाषा च पुनर्विकास कमपि प्राप्नोति। एतादृशशालकोशाना सग्रहे पालने प्रकाशने च बद्ध-परिकरा अधिकारिण। नास्त्येव भवतो निर्वेदस्य अवकाश। सर्वथा नाहमेतेषा तालपत्रग्रन्थाना नाशन विदेशीयो विक्रय वा अनुमन्तुमुत्सहे। पुनश्च भवान् साहित्य निर्माण निपुण भविष्यति, सत्करिष्यते च लोकेन अधिकारिभिश्च।" इन शब्दो के साथ उसमे उत्साह का सचार करता है।

द्वितीय दृश्य मे वही आगन्तुक किसी ग्राम निवासी को कुल-परम्परागत सगीत-शास्त्र के अभ्यास से विरत देखकर उसे इस कुल-विद्या का परित्याग करने से रोकता है। "आगन्तुक —मन्ये महदिव वैराग्यमवताम् उदीर्णम्। किन्तु सर्वथा अदीघदर्शितया भवद्भि किमेव परम्पराभ्यासपरिपाकशालिनी इयं कुल-विद्या तपस्विनी पतिव्रतेव परित्यज्यते।......
गीतादि कला षोडशाधमुचिता स्वतन्त्रभारते आरचिताएव–"

इसी प्रकार तृतीय दृश्य मे वह पुराने देवालय से बहुमूल्य वस्तुओ को चुरा कर विदेशियो के हाथ बेचने वाले चोर से दुर्वृत्ति का परित्याग करवा कर उसे कोई सद्वृत्ति सुभाता है। मन्दिर के पीछे शास्त्रीय-नृत्यकला सीखने के लिये आग्रह करती हुई बालिका को इस कला का मोह त्याग कर किसी शहर के सिने-ससार की शोभा बढाने की सलाह देने वाली वृद्धा को भी वह आगन्तुक सन्मार्ग दिखलाता है।

> "तद्वत्से, गच्छ त ज्ञानवृद्ध नाट्याचार्यम् अथवा तमत्रैव आनय, नाट्यकलाशालामस्मिन्नेव ग्रामे स्थापयिष्यामि।"

इस रूपक के अन्त मे ग्रामस्थ साहित्य-शास्त्रविद् द्वारा प्रणीत निम्नाङ्कित काव्य रचना को सगीतज्ञ ने स्वरदान दिया, और नटी—बालिका ने साथ ही साथ उसे अभिनीत किया।

> देवि भारत जननि जगति पुराण्यपि नूतना
> दीव्यसे त्वमुदारमात्मगुणैः कलादि-समृद्धिभिः।
> भाविता हि महर्षिभिः परिपालिता च नृपर्षिभि।
> कालिदास-कवीन्द्रशकर – देशिकेन्द्र-सुपोषिता।
> सत्य-शान्त्वन-शान्त्यहिंसन दूतिकेऽम्ब नमोऽस्तुते॥

इस प्रकार इस काव्यारा में कवि ने प्राचीन एवं अर्वाचीन संस्कृति को संगृहीत कर दिया है।

छोटे नाटकों में बीजबिन्दुपताकादि के प्रयोग के नियम की आवश्यकतानुसार शिथिल करने की स्वतन्त्रता यद्यपि आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यकारों को आज से बहुत पहले ही दे दी थी [१] और महाकवि भास ने दर्पणकार से भी बहुत दिन पूर्व अपनी कृतियों में कतिपय नाट्य-सिद्धान्तों की अवहेलना कर के इसको दिखला दिया था तथा शूद्रक ने भी वसन्तसेना की दुःखद मृत्यु का वर्णन करके अपनी स्वच्छन्दता का परिचय दिया था तथापि उसे पूर्ण सक्रिय रूप प्रदान करने का श्रेय अभिनव-रूपककारों को ही है। वर्तमान काल के साहित्यकारों का ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हट कर व्यावहारिक जीवन की ओर खिंच रहा है। आज का मानव-समाज अतीत के स्वप्न में ही उलझा रहना नहीं चाहता। आधुनिक मानव की दृष्टि भविष्य पर जमी हुई है और वह नई दिशाओं में आगे भी बढ़ना चाहता है।

भारत के इतिहास से प्रत्यक्ष है कि भारतीयों ने समय-समय पर आने वाले आक्रमणकारियों से अपनी संस्कृति की रक्षा के हेतु रूढ़ि का सहारा लिया और उनकी रूढ़िवादिता साहित्यकारों की दुनियाँ में भी व्याप्त हो गई। साहित्यिकों ने अपने आपको अनेक शास्त्रीय सीमाओं में बुरी तरह बाँध लिया। परिणामस्वरूप राजाश्रय में पनपने वाले प्राचीन नाट्य-प्रणेता जीवन से काफी दूर हट गये, उनका सम्बन्ध जन-साधारण से छूट कर शासन के कृपापात्र शिष्टवर्ग तक ही सीमित रह गया। मध्ययुगीन एकाङ्की साहित्य में भी यह परम्परा स्पष्ट है।

इसके विपरीत नवयुग के रूपककार एकाङ्की-कानन को स्वच्छन्दतावाद के शीतल जल से सींच रहे हैं। अतः इसमें हम नित्य नये फूलों को प्रस्फुटित होते देख रहे हैं। अमृत होकर भी जो संस्कृत वाणी बहुत समय से मृतवत् थी अब इन एकाङ्कियों के रूप में फिर से जीवित हो उठी है। रुका हुआ प्रवाह मानो आधुनिक युग के आरम्भ और मध्यपर्व की सांस्कृतिक चेतना से पुनः गतिमान् हो उठा है।

१- साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद श्लोक सं० ११५-२१ पृ० ३२२-२३

यो तो प्राचीन एकाङ्कियो (विशेषकर भाण एव प्रहसन साहित्य मे) भी यथार्थवाद के दर्शन होते हैं, जिसका शृङ्गार से ओत-प्रोत समाज के नग्न चित्रो से युक्त होने के कारण आधुनिक दृष्टि मे अब विशेष महत्त्व नही रहा है, परन्तु इसमे साहित्यकारो का दोष नही है। तत्कालीन जनता की अभिरुचि ही इस प्रकार के रूपको की सर्जना का मूल हेतु है। इसके समर्थन मे आधुनिक सिनेमा-ससार की, (जो दृश्य काव्य का ही स्थानापन्न है) थोडी बहुत चर्चा कर लेना अनुपयुक्त न होगा। जिस प्रकार फिल्म निर्माता किसी फिल्म की रचना करते समय जन साधारण की रुचि का पूरा ध्यान रखते हैं उसी प्रकार आज के साहित्यकारो की भी एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जो शास्त्रीय एव रूढिबद्ध न होकर यथार्थ के अधिक समीप हैं। आधुनिक युग के कलाकार शास्त्र की अपेक्षा जीवन से प्रेरणा पाते हैं। यह ठीक है कि उनकी कलात्मक कृति मे कवि के हृदय की दबी हुई (Suppressed) भावनाओ का प्रकाशन होता है, फिर भी उनका आधार समाज मे प्रचलित बातें ही हुआ करती हैं। दिन भर की दौड-धूप से श्रान्त होकर लोग चलचित्र भवन या नाट्यशाला मे अध्यात्मिक विषय के गम्भीर चित्रो को देखकर अपना पैसा और समय नष्ट नही करना चाहते। इसीलिए हम देखते हैं कि धार्मिक और ऐतिहासिक तथा उच्चकोटि के सामाजिक चित्र उतने लोकप्रिय नही होते जितने 'विनोद' और "शृङ्गार" मे रञ्जित चित्र। गम्भीर एव शिक्षाप्रद चित्रो को तो बालोपयोगी समझकर शिक्षण-सस्थाओ तक ही सीमित किया जाने लगा है। साराश यह है कि हर युग मे हर देश मे जनता का एक बहुलाश केवल मनोरञ्जन मिश्रित-शिक्षण की भावना से रचे गये नाटको का ही सम्मान करता है।

सस्कृत नाट्य की प्रगति मे समय-समय पर जो अवरोध होता रहा है उसका मूल कारण भी इन नाट्य कृतियो में अङ्कित कवियो का आदर्शवादिता की ओर झुकाव ही है। इसीलिये सस्कृत के एकाङ्कियो का प्रचार भारत की अन्य देशज भाषाओ के साहित्य के सदृश तीव्र नही हैं। अब तक इनका स्थान कतिपय सस्कृतानुरागी विद्वानो के समाज तक ही सीमित रहा है। आज सस्कृत जगत् मे जो थोडी बहुत चेतना दिखाई देती है वह गत सत्रह–अट्ठारह वर्षो की स्वतन्त्रता का परिणाम है। सस्कृत साहित्य के इस नवयुग को हम सन्धि का युग कह सकते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र मे रूढिवादिता अभी पूर्ण रूपेण दूर नही हो सकी है, फिर भी सस्कृत-साहित्य मे एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गई है, इसमे सन्देह के लिए कोई अवकाश नही है। आज देशभक्त विद्याविलासी

अपने देश के खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिये सजग हैं। वह महत्वपूर्ण प्राचीन रहस्यों के अन्वेषण में लगे हैं। इस कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए संस्कृत का ज्ञान अपेक्षित है, इस तथ्य को भी लोग पहचानने लगे हैं। डॉ वी राघवन् की पुनरुन्मेष शीर्षक रेडियो नाटिका इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से अपने वर्तमान को उन्नत बनाने के लिये अतीत की परम्पराओं को जानकर उनका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होता है। इसी ध्यान में रख कर पूर्व पृष्ठों में यह विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है कि संस्कृत के एकाङ्क रूपकभण्डार में एकत्रित सम्पत्ति के रूप में क्या कुछ था और उस चिर सञ्चित पूंजी के आधार पर आज के संस्कृतानुरागी विद्वान इस क्षेत्र में क्या कर रहे हैं? भूत तथा वर्तमान कालीन संस्कृतएकाङ्की लेखन की अखण्ड परम्परा को देखते हुए भी साहित्य के अधिकांश मर्मज्ञ भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के इतिहास में एकाङ्की के आगमन को एक अपूर्व घटना समझने लगे हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध मीमांसक श्री परसिवल वाइल्ड के अनुसार नाटक साहित्य के कुटुम्ब में एकांकी नाट्य ८० या १०० वर्ष से अधिक पुराना नहीं है।[1] सम्भवतः समस्त भारतीय आलोचकों ने इसी प्रकार के पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर अपनी ऐसी धारणा बना ली है। वास्तव में भारतीय भाषाओं का विकास संस्कृत से उद्भूत अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। उनका साहित्य भारत के प्राचीन साहित्य की मूल धारा की विभिन्न प्रस्फुटित धाराओं का ही स्वरूप है।

१- In the ancient and honourable family of the drama the one-act play is a new comer. Whether its first exampler date from the eighteen-eighties, or whether by some stretch of the imagination, works of even remoter origin may bear the designation "one act play" is beside the point compared with the antiquity of its kindred, the one act play is an infant whether thirty, fifty or even a hundred years of age

Preface, The Craftmanship of the One Act Play, Percival wilde

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र के भारतीय नाट्यशास्त्र, दशरूपक, भावप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थ केवल १०० वर्ष पुराने नहीं, अपितु अनेक शती पुराने है। इन ग्रन्थों मे क्रमशः एक अङ्क वाले साक्षात् नाटकों और भाण प्रहसन तथा व्यायोग जैसे नाटक-भेदों की संज्ञाओं के उपलब्ध होने से यह बात बिना गम्भीर चिन्तन के ही कह जाती है कि एकांकी नई वस्तु है और अभी उसका शैशव काल चल रहा है। एकांकियों के उद्भव के सम्बन्ध में भारतीय समीक्षकों ने काफी भ्रम फैलाया है। इसकी पुष्टि में इतना कह देना ही अलम् होगा कि हिन्दी एवं मैथिली मे (जिन्हें बहुत समय तक एक ही भाषा के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है) तो एकांकियों के विषय में थोड़ी बहुत लेखबद्ध सामग्री मिल भी जाती है किन्तु बँगला और मराठी के साहित्य में इस विषय पर मनोपयद विवरण अब तक अप्राप्य है। मराठी एकांकियों के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले अंश तो हमें यत्र तत्र मिल भी जाते हैं, परन्तु इनके नाट्य-शिल्प (टेकनीक) के विषय में कहीं भी स्वतन्त्र रूप से विचार व्यक्त नहीं किये गये हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय देशी भाषाओं के नाटक का अपना कोई तन्त्र नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मा ने प्राचीन काल में चारों वेदों से से नाट्योपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके पञ्चम वेद की सृष्टि की थी, उसी प्रकार आधुनिक भारतीय नाटककारों ने कुछ संस्कृत से, कुछ लोक प्रचलित अशास्त्रीय अभिनयों से और अर्वाचीन युग के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने भव्य नाट्य-मंदिर का निर्माण किया है। फलतः मैथिली, हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के नाटकों की विषयवस्तु और भाषा तो भारतीय ही हैं परन्तु तन्त्र पश्चिमी होता है। इसके समर्थन में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि भारतीय प्रादेशिक एकांकी साहित्य का प्रारम्भिक रूप प्रायः संस्कृत साहित्य से प्रभावित दृष्टिगत होता है। प्राप्त रूपकों को देख कर ही संस्कृत के लक्षण ग्रन्थ बने, यह बात निर्विवाद है। हिन्दी, बँगला, मराठी, मैथिली आदि भारतीय प्रादेशिक भाषाविद् नाट्यशास्त्री बार-बार यह कहते हैं कि एकांकी की प्रेरणा प्रादेशिक भाषाओं ने पश्चिम से ली।

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में उक्त संशय का प्रमुख कारण हमारे देश का समय-समय पर विदेशियों द्वारा आक्रान्त रहना है। भारत की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परतन्त्रता ने ही आधुनिक साहित्यकारों को इस भ्रमजाल में बाँधा है। देश के इतिहास में एक ऐसा भी युग आया जब

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ संस्कृत से सम्बद्ध अनेक विषयों की शास्त्रीय बातों का ज्ञान विद्यार्थियों को अंग्रेजी के माध्यम से देने की पद्धति शैक्षणिक केन्द्रों में प्रचलित हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य से उनका परिचय अंग्रेजी या पश्चिम के साहित्य द्वारा होने लगा। अतः भारतीय विद्वान् पाश्चात्य ग्रन्थों को उपादेय समझ कर उनसे ही अपनी रचना के लिए सामग्री ग्रहण करते समय उन विचारों का आदि-स्रोत उसी भाषा के विचारकों एवं साहित्यकारों को मानने लगे। आधुनिक भारतीय नाट्य-साहित्य के अनुशीलन पर भी यही बात लागू होती है।[1]

हिन्दी में एकांकियों के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले डॉ० राम-कुमार वर्मा के लिये प्रायः कहा जाता है कि उनकी एकांकी कला पश्चिम की देन है, परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिभा से उसे भारतीय बना दिया है। वर्मा जी ने एकांकियों में प्रतिष्ठापित आदर्शवाद को जीवन की व्यावहारिकता का जामा पहना दिया है, जो आज नैतिक दृष्टि से जनता के लिए हितकारी है। इससे व्यंजित होता है कि अपनी एकांकी-कला का प्रदर्शन करते समय उन्होंने भारतीयता की रक्षा के हेतु भरत के नाट्य शास्त्र का सहारा लिया होगा कारण, भरत धनञ्जयादि द्वारा प्रतिपादित "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्" लक्षण में यथार्थवाद सन्निहित है। धनञ्जय के यथार्थवाद को वे वर्तमान परिस्थितियों का यथार्थवाद मानने को तैयार हैं, किन्तु नाटक-निर्माण की अपनी कल्पना में वे ऐसे यथार्थवाद का चित्रण करना चाहते हैं जिससे मनुष्य के जीवन में उपस्थित होने वाले अन्तर्द्वन्द्व उसके हृदय के मर्म को प्रकाशित करने में समर्थ हो सकें हों। बाह्य संघर्ष में शारीरिक शक्ति-प्रदर्शन द्वारा रङ्गमञ्च पर मनोरञ्जन का दृश्य उपस्थित करने में सफलता मिलती है, किन्तु नाट्य कला की दृष्टि से अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। प्राचीन एकांकी "अङ्क" रूपक में करुण रस की प्रधानता होती है, आधुनिक एकांकियों में भी अधिकांश करुण रस की ही प्रधानता दिखाई देती है। पश्चिम की विचारधारा के अनुसार (करुण रस की प्रधानता) दुःखावसान दुःखान्त नाटकों का ही विशेष महत्त्व है।

१- इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के विस्तृत विवेचन को विस्तारभय से यहाँ छोड़ दिया गया है। एकांकीकारों की कृतियाँ इस ग्रन्थ में यथास्थान स्पष्ट हैं। स्वातन्त्र्योत्तरकालीन कुछ प्रमुख एकांकीकार एकांकियों का ही यहाँ उल्लेख किया गया है।

एकाकी नाटकों की एक विशेषता यह भी है कि उसमे एक ही घटना होती है जो नाटकीय कौशल से दर्शकों के हृदय मे कौतूहल उत्पन्न करते हुये 'अति' या "क्नायमेवम" पर पहुँचती है। उसमें मुख्य घटना के विपरीत कोई आवश्यक प्रसङ्ग नहीं आने पाता। उसमे वर्णित एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द की अपनी उपयोगिता होती है। वे कदापि व्यर्थ नही होते। पात्र चार या पाँच ही होते हैं जो नाटक के अभिनय के लिए नितान्त आवश्यक होते हैं।

एकाकी के लिए कथावस्तु के चुनाव के सम्बन्ध मे एकाकी के मर्मज्ञ डॉ. वर्मा का मत है कि कथावस्तु स्पष्ट हो, जटिल न हो, किन्तु उसका विस्तार कौतूहलपूर्ण हो। इसके अतिरिक्त उसमे वर्णनात्मक तत्त्व की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता होनी चाहिये।

बंगला[1] मैथिली आदि भारतीय, प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र मे भी एकाकियों के सम्बन्ध मे आलोचकों के लगभग ऐसे ही विचार हैं।

दक्षिण भारत के नाट्यसाहित्य की भी यही स्थिति रही है। वहां के निवासी कलाप्रिय रहे हैं। विशेषकर भारत का यह भाग शास्त्रीय सगीत तथा नृत्यकला का केन्द्र रहा है। प्राचीन मन्दिरो के भग्नावशेषों तथा गुफाओं मे सगीत नृत्यादि करते हुए ईश्वरोपासना मे लीन देवी-देवताओं की मूर्तियों को देखने मे भारत की इस कला का आदिस्वरूप साकार हो जाता है। भारतीय साहित्य के इतिहासो मे दक्षिण भारतीय रङ्गमच पर जो चर्चा मिलती है, उसके आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि केरल, तेलगू, कन्नड आदि दक्षिण भारत की भाषाओं मे भी हिन्दी, बंगला, मराठी आदि उत्तर भारत की प्रादेशिक भाषाओं की तरह लिखित एव मौलिक साहित्यिक नाटकों का सूत्रपात बहुत देर से हुआ। इससे पहले जनता का झुकाव तोलुबोम्लाट

१- (क) गल्प-उपन्यासेर तुलनाय नाटके लेखकेरा तेमन वैचित्र्य अथवा शक्ति देखाइते पारेननाई। एटा बांगला सहित्येरई विशषत्व नय, प्राय सब आधुनिक साहित्येई देखा गिया छे। बॉगला साहित्येर इतिहास चतुर्थ खण्ड ले०–श्री सुकुमार सेन, पृ० ३१०–३१५.

(ख) एकाङ्क नाटक जे विशेष श्रेणीर 'साहित्यिक नाटक' एकान्त भावे ऐ कालेरई सृष्टि, बागलाय ता आजो विशेष करे लेखाई होयनि। ...
बांगला साहित्येर भूमिका, लेखक– नन्दगोपाल सेन गुप्त, पृ० १७४

(कठपुतली के खेल के समान) तथा वीथी भागवत् जैसे लोक नाटकों की ओर ही था। ऐसे नाट्यों में से अधिकांश की कथावस्तु पौराणिक और ऐतिहासिक (रामायण, महाभारतादि से ली हुई) ही हुआ करती है।

नाटकीय मनोरञ्जनों का मुख्य उद्देश्य शिक्षण तथा मनोरञ्जन ही होता है। देशकालभेद के कारण इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, केवल बाह्याकृति परिवर्तित हो सकती है। दक्षिण भारत में केरल ऐसा स्थान है जहाँ प्रमुख रूप से संस्कृत नाटकों का अभिनय हुआ करता है। वहाँ का रंगमंच लगभग एक हजार वर्ष तक अनवरत रूप से बना रहा है। संस्कृत एवं मलयालम विषयक ज्ञान के पिपासुओं के लिए इस क्षेत्र में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकती है। यहाँ का रंगमंच अन्य भाषाओं के रंगमंच से भिन्न है। कारण इसमें नृत्य, तथा अभिनय पर विशेष जोर दिया जाता है। इसकी एक विशेषता मुद्रा-भाषा का प्रयोग भी है। बहुत से नाट्यकारों में तो अभिव्यञ्जना का साधन ही तीन प्रकार की मुद्राएँ होती हैं। यथा (१) प्राकृतिक मुद्राएँ, (२) अनुकरणात्मक मुद्राएँ (३) ऐसी मुद्राएँ जो सनातनी तान्त्रिक और मान्त्रिक संकेतों के आराधना, अभयदान, आह्वान आदि के लिए प्रयुक्त होती है। संभवतः संस्कृत रंगमंच में इसका प्रयोग संस्कृत के प्रचार के लिए किया गया होगा।

प्रायः सभी दृश्य मनोविनोदों में धार्मिकता का पुट होता है। तदनुसार धार्मिक, अर्द्धधार्मिक और धर्मनिरपेक्ष इन तीन प्रकारों में इन्हें विभक्त किया जा सकता है। धार्मिक में भगवती पट्टु, पण पट्टु कणियाङक्ली और मुटि पट्टु है। धर्मनिरपेक्ष में एलामट्टी, पुरापट्टु, तुल्लल, कोराट्टियाट्टम मोहिनियाट्टम, कथाकली आदि रक्खे जा सकते है। अर्द्ध धार्मिक में समकली, कट्टु और कृष्णाट्टम हैं। प्रथम दो विशुद्ध देशी भाषा में और अर्द्ध-धार्मिक मुख्यतया संस्कृत में निबद्ध होते हैं। विशेषकर कृष्णाट्टम पूर्णतया संस्कृत का मनोरञ्जन नाट्य है और वह भी संभवतः गीतगोविन्द पर आधारित।

केरल के बाद तेलगु का रङ्गमञ्च भी प्राचीन और मध्यकाल में एवं तदुपरान्त भी अत्यन्त समृद्ध रहा है। तेलगु-साहित्य के इतिहास से प्रत्यक्ष होता है कि वहाँ के गाँव-गाँव में स्थानीय लोकमञ्च नाट्यानुरागी जनता का चित्तानुरञ्जन करते रहे हैं। अब भी भारत के अनेक स्थलों में इनके चिह्न प्राप्त होते हैं। लोकनाट्य के साथ तेलगुप्रदेश पर संस्कृतनाट्य का प्रभाव रहा है, इसे भी भुलाया नहीं जा सकता, तेलगु क्षेत्र के कवियों और साहित्यकारों ने संस्कृत

मे अनेक नाटक लिखे हैं। अनेक राजाओ ने स्वय भी संस्कृत रूपक लिखे और वे रूपककारो को समुचित प्रश्रय और प्रोत्साहन देते रहे हैं। आधुनिक तेलगु नाट्यसाहित्य को यह परम्परा उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई और इससे वह लाभान्वित भी हुआ है।

अंग्रेजी के सम्पर्क मे आने से यहाँ भी बहुत थोडे समय से समसामयिक और सामाजिक समस्याओं, आर्थिक प्रश्नो, राजनीतिक उद्देश्यों तथा आदर्शों को सामने रख कर नाटकों की रचना होने लगी है जिनमे से पुरानी पद्यात्मक रचना शैली का बहिष्कार किया जाने लगा है। भारतीय भाषाओं के इतिहास के अनुशीलन से प्रत्यक्ष हो जाता है कि पुराने नाटककारों को संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने अथवा उनके आधार पर अपनी कृति का प्रणयन करने में सकोच नही होता था। परन्तु अब के प्राय सब साहित्यकार ऐसा करने में अपनी अवमानना समझने लगे हैं। इसी सकोच के फलस्वरूप तेलुगु मे अनूदित कृतियों की सख्या अल्प है। आन्ध्र मे एकाङ्की का प्रचार बहुत है। प्रत्येक पत्रिका मे एकाकी प्रकाशित होते हैं। नरल वेंकटेश्वरराव बडे सफल तेलगु-एकाकीकार है। आन्ध्र मे इसके प्रचलन का कारण उनके प्रस्तुतीकरण की सुगमता। उत्तर आर्येतर भाषाओं का हिन्दी, बँगला आदि आर्य भाषाओं से सीधा सम्बन्ध न होते हुए भी दक्षिण भारतीय साहित्य में नाट्यकला का प्रेरणा-स्रोत भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही रहा है। संस्कृत के साधकों में दाक्षिणात्यो का प्रमुख स्थान है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो के अमूल्य भण्डार का प्रमुख रूप से मद्रास के पुस्तकालयों मे पाया जाना, संस्कृत के भाण तथा प्रहसनादि मे से अधिकाश कृतियो के रचयिताओ का निवास स्थान का दक्षिण भारत में होना, इस बात का प्रमाणित करता है कि आर्येतर भाषाओ का नाट्य साहित्य भी संस्कृत के नाट्यसिद्धान्तो की सर्वांश मे उपेक्षा नही करता। आज भी ललितकला के इस क्षेत्र मे मद्रप्रदेश के निवासी ही प्रगति कर रहे हैं। पूर्व पृष्ठों मे हम देख चुके हैं कि व संस्कृत की सुषुप्त एकाकी कला को जगाने का यत्न भी कर रहे हैं।[१]

पश्चिम के एकाकियो के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से मालूम होगा कि वहाँ एकाकियों की रूप-रेखा १० वी शताब्दी के मिरेकिल्स और मारेलि-

---

१- The Sanskrit Ranga Annual (1958-59), II (1950 60) III (1961-61)

टीज नामक नाट्य रूपो मे उपलब्ध होती है। कोई आकर्षक आख्यान या ईसाई सन्तो के धार्मिक क्रियाकलापविषयक नैतिक उपदेश ही पाश्चात्य एकाकी के उक्त अविकसित रूपों के विषय हुआ करते थे और जिनका उद्देश्य धर्म-प्रचार हुआ करता था। तदन्तर जनता के मनोरञ्जन के उद्देश्य से लिखे गये विनोद जन्य इन्टरल्यूड्स मे इसका विकसित रूप दिखाई देता है, जिनमे अधिक से अधिक तीन पात्रो द्वारा किसी एक भावना के प्रदर्शन की प्रवृत्ति रहती है। किन्तु १६वी, २०वी शताब्दी मे पैरिस (ई० १८८७, १८६३, १८६४) बर्लिन (१८८६) लदन (१८६१) डबलिन (१६०४) शिकागो (१६०६) आदि पश्चिम के नगरो मे लिटिल थियेटर मे मूवमेण्ट के परिणामस्वरूप प्रीतिभोज मे भोजन से पूर्व पधारे हुए तथा अन्य अतिथियो के आगमन की प्रतीक्षा मे बैठ मेहमानो की प्रतीक्षा मे क्षणो के बोझ को हल्का करने के लिये रचे गये प्रहसनो का प्रयोग होता था। प्रेक्षा-गृहों मे भी बडे नाटकों के आरम्भ मे पूव दर्शको का मनबह लाने के लिये अथवा उनके बीच मे गाम्भीर्य को थोडी देर के लिये दूर करने के निमित्त द्विपात्रीय हास्यपरक सवादात्मक कर्टेनरेजर के प्रचलन ने एकाकियो के प्रणयन को अपूर्व प्रेरणा प्रदान की। जे एन बेरी, जे बी शा, हाप्टमेन, मोलियर, इब्सन, चेखव, गोर्की आदि पश्चिमी नाटककारो की प्रतिभा से एकाकी कला को आधुनिक साहित्य रूप मिला है।

संस्कृत के 'अङ्क' और व्यायोग की पाश्चात्य एकाङ्की से तुलना

इन सब बातो से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनोविज्ञान, अन्तद्वन्द्व तथा करुण रस का आधिक्य ही एकाकी के आधुनिक रूप की विशेषता है। पात्रो की अल्पत्व सख्या तथा इस नाट्य रूप के एकाकत्व की दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन एकाकियो मे कोई भेद नही दिखाई देता। यह बात ठीक है कि सस्कृत के एकाकी नाटकों मे अन्तर्द्वन्द्व एव मनोविज्ञान के लिये विशेष स्थान नही है, परन्तु यह कहना भी बहुत ठीक नही, कि सस्कृत के नाटक सघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व से सर्वथा शून्य हैं। कतिपय नाट्य-स्तुतिकारो ने नाट्य-वस्तु क विकास क्रम की वक्रता को देखकर नाटक को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है।

प्रत्यङ्कमङ्कुरित सर्वरसावतार नव्योल्लसत्-कुसुमराजि विराजिबन्धम्।
धर्मेतरागुरिव वक्रतयातिरम्य नाट्यप्रबन्धमति मञ्जुलसविधानम्॥

नाट्य प्रबन्ध का यह मञ्जुल सविधान बिना कौटिल्य प्रदर्शन के तैयार नही किया जा सकता। सस्कृत के मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, रत्नावली जैसे कुछ

सम्पूर्ण विकसित रूपकों मे अन्तर्द्वन्द्व और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देखा जा सकता है। यद्यपि एकांकियों मे इसके लिये कम अवकाश रहता है तथापि 'अंक' में इसकी झलक दिखाई देती है, वहीं करुणा के दर्शन भी होते हैं। संस्कृत के नाट्यमीमांसकों ने 'अङ्क' के जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं, उनके अनुसार इस एकांकी के भेद मे कथावस्तु के लिए प्रख्यातवृत्त अथवा काल्पनिक इतिवृत्त को स्थान देने का आदेश है। यह प्रख्यातवृत्त अतीत का भी हो सकता है और वर्तमान का भी। पात्रों के सम्बन्ध मे नायक पात्र के लिए धीरोदात्त, धीरोद्धत धीरललित अथवा धीरप्रशान्त पात्र के स्थान पर, "नेतार प्राकृता नरा:" कह कर सामान्य वर्ग के पात्रों का निर्देश किया है। 'परिदेवितम्' से हार्दिक दुःखानुभूति का बोध होता है तथा "युद्ध च वाचा कर्तव्यम्"—इस पद से इसके पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन को विचित्र पूर्ण उपालम्भ के रूप मे समझना चाहिए। 'जयपराजयौ' को आधुनिक नाटकों मे दिखाये जाने वाले संघर्ष अथवा किसी अंश मे अन्तर्द्वन्द्व के प्रतीक के रूप मे लिया जा सकता है।

साराश यह है कि उत्सृष्टिकाङ्क की आधुनिक एकांकियों से निस्संकोच तुलना की जा सकती है। अंक का वर्णन करते समय इस कोटि के रूपकों के अन्य उदाहरणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जो प्राचीन युग में इसके प्रचलन को प्रमाणित करते हैं। इसके अतिरिक्त वीररसप्रधान और युद्ध के दृश्यों से युक्त व्यायोगों मे भी मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के आंशिक रूप मे दर्शन किये जा सकते हैं। इसके प्रति संस्कृत के एकांकीकारों के औदासीन्य को प्राचीन युग का प्रभाव ही समझना चाहिए। पहिले मनुष्य समाज में आज जैसे संघर्ष नहीं हुआ करते थे अत उसकी छाया भी संस्कृत की अभिनेय कृतियों मे कम ही देखने में आती हैं।

अब प्रश्न उठता है परम्परागत भारतीय नाट्य साहित्य मे नाटकों की संख्या एवं विधा की दृष्टि से बहुलता होते हुए भी एकांकीसदृश लघु नाटक रचना की ओर साहित्यिकों को आकर्षण क्यों हुआ और उसका प्रचार द्रुत गति से क्यों हो रहा है? बात ठीक है। साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण नाटकों का महत्व आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। हाँ, विश्व के अन्य देशों के समकक्ष साहित्य प्रस्तुत करने की उसकी प्रवृत्ति के कारण उसके प्राचीन रचना-विधान मे परिवर्तन अवश्य हुआ है। वर्तमान काल के भारतीय नाटकों मे नान्दी, मङ्गलाचरण तथा प्रस्तावना का प्राय· बहिष्कार सा हो गया है।

जब तक भारत की नाट्य कला अपने देश में अभिनय के लिये उपर्युक्त रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित की जा सकी (जो प्रायः राजकीय या धार्मिक उत्सवों के समय ही होता था) तब तक उस समय की धार्मिक स्थिति के अनुसार मङ्गलाचरण, नान्दी आदि विषय उसमें समाविष्ट रहे। किसी नाटक के अभिनय की सूचना आयोजित उत्सव के समारोह से पूर्व विज्ञापनों द्वारा देने का प्रचार उस समय नहीं था। अतः नाट्य शास्त्रीय विधान के अनुसार सूत्रधार तथा नटी-सदृश पात्रों द्वारा अभिनय के लिये प्रस्तुत नाटक के प्रणेता एवं विषय आदि का ज्ञान दर्शकों के ध्यानाकर्षण के लिए कराना अनुचित नहीं प्रतीत होता था, किन्तु वर्तमान काल में रङ्गमञ्च की स्थिति उस समय से भिन्न है। आजकल द्रष्टव्य नाटक कौन सा होगा ? उसका विषय क्या होगा ? इत्यादि बातों का ज्ञान प्रेक्षकों को पहिले से ही होता है। इसके अतिरिक्त केवल साहित्यिक नाटकों के लिये भी मङ्गलाचरण या नान्दी (जिसे आस्तिकतावश या विघ्न विघात के लिये धर्मिष्ठ लेखक आवश्यक समझते थे) सूत्रधार और नटी तथा पारिपार्श्विक जैसे पात्रों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अब रचना में रस निष्पत्ति (रस का प्रसार) का भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। इसका स्थान पात्रों के चरित्र चित्रण, उनके कथोपकथन एवं वस्तु कथा में प्रस्तुत किसी घटना के चरमोत्कर्ष ने ले लिया है। परिणाम की दृष्टि से भी सुखान्त की अपेक्षा दुःखान्त रचनाओं का विशेष आदर होने लगा। इन सब परिवर्तनों के कारण भारतीय साहित्य का विश्व के अन्य देशों के साथ साहित्यिक संस्कृति की दृष्टि से सम्पर्क हो गया है, किन्तु मनोरञ्जन के व्यावहारिक क्षेत्र में अभिनयात्मक कला के प्रति इस युग की व्यावसायिक मनोवृत्ति ने नाटकों की साहित्यिक महत्ता को बहुत क्षति पहुँचाई है। फलतः पूर्ण-नाटक साहित्यिक प्रगति का सफल माध्यम नहीं बन सका। चित्रपट एवं रेडियो-रूपकों के अति प्रसार के कारण बड़े नाटक प्रायः लुप्त से हो गए हैं। उनके स्थान पर एकांकी की उपयोगिता और लोकप्रियता बढ़ रही है। वर्तमान एकांकी नाट्य-साहित्य में प्राचीन एकांकियों के भाण, प्रहसन, व्यायोग, अङ्क और वीथी आदि पृथक्-पृथक् रूपों की भांति एकांकियों का प्रभेद नहीं बतलाया जाता, किन्तु विषय-वस्तु के आधार पर उनका वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक या सामाजिक आदि रूपों में किया जाता है।

नाट्य-साहित्य के निर्माण में समय की अनुकूलता और अभिनेय प्रदर्शन के साधनों की सुविधा दृष्टि से इधर जो परिवर्तन हुए हैं उसे पाश्चात्य अनुकरण माना जा रहा है परन्तु वास्तव में यह अनुकरण का परिणाम नहीं है। साहित्य पर युग की छाप पड़ती है फिर भी साहित्य की धारा वही रहती है। यह एक गड्ढे में एकत्र जल की भाँति प्रवाहहीन नहीं हो सकती। स्वयं पश्चिम ने भी युग के साथ नाट्य-शैली में परिवर्तन करना उचित समझा है। किसी देश का साहित्य अपने युग की प्रवृत्तियों के प्रभाव से अछूता नहीं बच सकता। पाश्चात्य आलोचक ड्राइडेन के इस कथन का भी यही भावार्थ है। "To judge rightly of an author, we must transport ourselves to his time and examine what were the means of his contemporaries and what were his means to supply them." अतः आधुनिक एकाङ्कियों को पाश्चात्य कला का अनुकरण नहीं अपितु प्राच्यलघु-नाट्य का नवीनीकरण कहना ही उपयुक्त होगा।

वस्तुतः नवीनता वस्तु में (Matter) नहीं रहती। वह तो ध्रुव पदार्थ है, जिसकी स्थिरता नष्ट नहीं होती। हाँ, उसके बाह्य रूप में परिवर्तन हो सकता है। जिस प्रकार मिट्टी, लोहा, सोना इत्यादि पदार्थ सर्वत्र एकसे रहते हैं और कुम्भकार, लौहकार, स्वर्णकार क्रमशः उनसे भाँति-भाँति की वस्तुएँ तैयार कर उपभोक्ताओं का मन मोह लेते हैं। उसी प्रकार विद्वत्समाज में भी कवि वाग्देवता सरस्वती की कृपा से प्रकृत वस्तु को मनोहर रूप प्रदान करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में "सर्वं खल्विदं तज्जलानीति" की व्याख्या के प्रसङ्ग में इस तथ्य की ओर सङ्केत दृष्टिगत होता है।[1] साहित्यशास्त्रियों ने भी "ग्रथन-कौशल" को ही अभिनवता का कारण बतलाया है। "त एव पद विन्यासास्ता एवार्थ-विभूतयः। तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ॥" "नवावाणी मुखे मुखे" "To present old wine in new bottle" जैसी क्रमशः प्राच्य तथा पाश्चात्य लोक में प्रचलित लोकोक्तियाँ भी वाणी के विकास को ही प्राकृत में परिवर्तन का कारण बतलाती हैं। तदनुसार पुराने आदर्शों को ही नया जामा पहिना कर हम उन्हें नया रूप दे देते हैं।

१- छान्दोग्योपनिषद्- ६-१, ४-५

साम्प्रतिक संस्कृत नाट्य-साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन नाट्योद्यान में आधुनिक दृष्टि से जो विषय की विभिन्नता का अभाव बुरी तरह खटकता था, उसे नवीन रूपककारों ने दूर करने का प्रयास किया है। इसका कारण स्पष्ट है। नवयुग के आने पर नवीनता की अभिलाषा कवि या लेखक में भी बढ़ती है और पाठक में भी। पुरानी वस्तु से मनुष्य का मन ऊब उठता है। आधुनिक विज्ञान प्रसार के साथ-साथ विभिन्न देशों से भारतीयों का आदान-प्रदान द्रुतगति से बढ़ता जा रहा है। इस कारण आज अंग्रेजी, बंगला आदि की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवादों से संस्कृत के एकाङ्कियों में न। केवल भाव परिवर्द्धन हुआ वरन् भाषा में भी नवीनता तथा विदेशी शब्दों की वृद्धि हुई। हम देख चुके हैं कि नव-विचारागमन के फलस्वरूप हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं की भाँति संस्कृत पर भी अंग्रेजी के शब्द समूह का प्रभाव बढ़ने लगा है। उसे सुबोध बनाने का यत्न भी किया जा रहा है। संस्कृत नाट्यतन्त्र में परिवर्तन और भाषा में मिश्रण अभिनव विकास का ही परिणाम है। सभ्यता के विकास मार्ग में मौलिक वस्तु के साथ साथ दूसरों की सहायता से प्रगति करने की भावना मनुष्यों में रहती है। मानव समाज की यह मनोवृत्ति स्वास्थ्यप्रद तो होती है किन्तु यह तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब तक इसका उपयोग पौष्टिक आधार के रूप में किया जाता है। इसके विपरीत बाजार भाव से मूल्याङ्कन करने पर अच्छी से अच्छी वस्तु का मोल बढ़ने के स्थान पर घटने लगता है। यही बात साहित्य के क्षेत्र में भी लागू होती है।

अपनी काव्य-कृति को रमणीयता प्रदान करने की भावना से बाहर से भी अच्छी वस्तु ग्रहण करने में कोई हानि नहीं है परन्तु पाश्चात्य प्रणाली की कट्टरता के कारण संस्कृत के एकाङ्की आत्मा से शून्य प्रतीत हो सकते हैं। जहाँ आधुनिक एकाङ्कियों का प्राचुर्य संस्कृत के एकाङ्की संसार के उज्जवल भविष्य का द्योतक है, वहाँ कोरे अनुकरण के कारण अपने क्षेत्र के अपकर्ष का कारण भी हो सकता है। प्रतिभा कोरा अनुकरण नहीं करती, इसे ध्यान में रखते हुए साम्प्रतिक नाट्य निर्माताओं को शुद्ध अनुकरण के स्थान पर विभिन्न क्षेत्रों में अच्छी वस्तुओं का चयन करके भारतीय नाट्य की आत्मा की रक्षा करते हुए उन्हें अपना लेना चाहिये। श्री पॉल स्टाम नामक डच नाट्यविद ने भी किसी सभा में जो उद्गार प्रगट किये थे उसका सारांश है कि भारतीय नाट्य की श्री-वृद्धि पश्चिम के अनुकरण से नहीं हो सकती। उनका कथन है कि

हमें भारतीय नाटकों में आधुनिक नाट्य-तत्त्वों को यथोचित स्थान देकर पुरातन प्रयोग प्रधान कला का ही पुनरुद्धार करना चाहिये। संस्कृत के कतिपय सिद्धान्तों एवं शैलियों को भी स्वीकार किया जा सकता है। नाट्य में गीत, संगीत तथा नृत्य के अन्तर्न्यास (insertion) के स्थान पर इन्हें समग्र-रूपेण स्थान (integration) दिया जाना चाहिये। श्री पॉलस्टाम के अनुसार भारतीय नाटकों की आकृति की सादगी अभिनय में लालित्य, नेपथ्य रचना में विचित्रता का बाहुल्य तथा मञ्चीय प्रकाश सज्जा के प्रसङ्ग में कल्पना का प्राधान्य मुख्य रूप से अपेक्षित है।[1]

प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्य-रचना सविधान

प्राच्य नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के तीन मूल तत्त्व माने गये हैं वस्तु, नायक और रस। इन्हीं तीन तत्त्वों को आधार बनाकर नाट्य-कला विवेचन किया गया है। जबकि पाश्चात्य नाटकों में ६ तत्त्व माने गये हैं—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश, काल, शैली और उद्देश्य।

१ वस्तु—नाटक रचना किसी प्रसिद्ध घटना या वृत्तान्त को ध्यान में रखकर ही की जाती है। इनमें जब जनसाधारण के जीवन में और व्यक्ति विशेष के जीवन क्रम में कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है और वह श्रोतव्य या दर्शनीय होती है, तब कोई कवि उसे अपनी रचना अथवा कल्पना का आधार बना लेता है।

---

[1] Mr Paul storm, Dutch expert on Drama who is conducting a Drama course in the Kala Kshetra, said in a press interview recently that he did not believe that Indian stage could enrich itself by imitating Europe "Be your own" he said "that best would be to revive old Indian drama using modern techniques That would be a good beginning The styles and some of the principles of Sanskrit stage could be adopted Song, music and dance should be light without boring didacties" He further added that acting should be more styled and Indian Plays should have less or no scenery but more and more colourful costumes and more imaginative stage lighting "

Quoted from Sanskrit Rang Annual III (Madras)

२. **पात्र**—घटनाओं अथवा विशिष्ट कार्यों (व्यापारों) का सीधा सम्बन्ध मनुष्यों से होता है जो सभी परिस्थितियों में अपनी निश्चित् कार्य शृङ्खला बनाये रखते हैं अर्थात् कार्य सम्पादन में गति अवरोध नहीं आने देते। नाटक में घटना से सम्बद्ध कार्य शृङ्खला के सम्पादक पात्र कहे जाते हैं।

३ **वार्तालाप या कथोपकथन**—पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला नाटक में वर्णित व्यक्तियों का पारस्परिक सम्भाषण होता है और उसके इस सम्भाषण को ही कथोपकथन कहा जाता है।

४ देश काल—लेखक को अपनी रचना में काल और देश का ध्यान रखना पड़ता है। रङ्गमञ्च के लिये तदनुसार वेश भूषा का ध्यान अभिनेता को रखना पड़ता है अर्थात् अभिनय की घटना का सम्बन्ध जैसे काल से है उस समय देश की वेश भूषा क्या थी ?

५. उद्देश्य—नाटक में लेखक अपने जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों को परोक्ष रूप में व्यक्त करता है इसके लिए वह अपने विचारों के अनुसार घटनाओं का क्रम स्थापन पात्र के रूप, नाम आदि का प्रदर्शन तथा वस्तु निर्देश इस ढँग से करता है जो उसके अपने सामाजिक भाव और जीवन के लक्ष्य को प्रकट करने में समर्थ हो। यही उसकी रचना का उद्देश्य होता है।

भारतीय शास्त्रकारों के तीन तत्वों में से वस्तु तत्व की पश्चिम के वस्तु-तत्व से पूर्ण समानता है। द्वितीय तत्व के अन्तर्गत पश्चिम का कथोपकथन एवं देश काल भी आ जाता है। तृतीय तत्व, रस तो काव्य (नाटक) की आत्मा माना गया है अतः इसका विशेष रूप में ध्यान रखा जाता है। किन्तु मनोवेग-भाव चाहे रसावस्थापन्न हो या उसका पूर्व रूप हो उसका आग्रह पाश्चात्य साहित्य में नहीं होता। भारतीय नाट्य रचना सविधान में उपलब्ध नाटक तत्वों के अतिरिक्त तीन और बातों पर भी विचार किया गया है। (१) अर्थ प्रकृति (२) अवस्था (३) सन्धि। नाट्य-लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी पृथक् व्याख्या को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होगा कि इन तीनों के अलग-अलग पाँच पांच भेद होते हैं। अवस्थाएँ कार्य शृङ्खला की विभिन्न स्थितियों की द्योतिका अर्थप्रकृतियाँ कथा-वस्तु के तत्वों की सूचिका तथा सन्धियाँ नाटक रचना के विभागों की निर्देशिका होती हैं। यद्यपि यह एक ही अर्थ की सिद्धि करती है परन्तु भारतीय नाट्य शास्त्र में इनका नामकरण एवं विवेचन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से

किया गया है जिसके अनुसार एक में कार्य का, दूसरी में तथ्य का तथा तीसरी में नाट्य रचना का ध्यान रखा जाता है। ये तीनों तत्व अपने पाँच-पाँच भेदों सहित एक दूसरे के सहायक होकर नाटक में आते हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध निम्नाङ्कित सारिणी से स्पष्ट हो जायेगा।

वस्तु तत्व (अर्थ प्रकृति)		कार्य व्यापार की अवस्था	सन्धि
१	बीज	आरम्भ	मुख
२	बिन्दु	प्रयत्न	प्रतिमुख
३	पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४	प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
५.	कार्य	फलागम	निर्वहण

योरोप के नाट्य शास्त्र विवेचकों ने अर्थ प्रकृति एवं सन्धियों के विषय में कोई विवेचन नहीं किया, यद्यपि कार्य व्यापार की अवस्थाओं को उन्होंने माना है। आधुनिक नाटक कथाओं का मूल तत्व किसी न किसी प्रकार का विरोध दिखलाना होता है। तदनुसार नाट्य में दो विरोधी भाव पक्ष, सिद्धान्त या दल दिखलाये जाते हैं। इन विरोधों के चढाव-उतार और उतार-चढाव के साथ कथा-वस्तु विकसित होती जाती है। नाटकों में जहाँ विरोध और संघर्ष आरम्भ होता है मानों वहीं से कथावस्तु आरम्भ होती है। विरोध या संघर्ष का परिणाम प्रकट होते ही कथा वस्तु का विस्तार समाप्त हो जाता है। घटनाओं की प्रगति के इस क्रम को इस प्रकार अङ्कित किया जा सकता है—आरम्भ–विरोध–चरमसीमा–निर्गति–समाप्ति। आरम्भ नायक की ओर से और विरोध प्रतिनायक की ओर से होता है। अतः विजय किसकी होगी यह बतलाना कठिन हो जाता है। इस प्रकार हमारे भारतीय नाटकों की पाँच कार्यावस्थाओं को पाश्चात्य नाट्य शास्त्री आरम्भ (प्रोतासिस), परिणाम की ओर जाने वाला मुख्य कार्य (एपितासिस) चरमोत्कर्ष तक पहुँचा देने वाला व्यापार (कतास्तासिस) और संघर्ष का ह्रास (डिनाउन्समेण्ट) और उपसंहार (कतास्त्रोफी) आदि के रूप में स्वीकार करते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम में अन्तर है।

भारत में नाटकों की रचना का उद्देश्य था, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि द्वारा आनन्द प्राप्त करना। तदनुसार कार्य व्यापार की पाँच अवस्थाओं के विभागों में भी भिन्नता पाई जाती है। प्रथम अवस्था आरम्भ कहलाती है,

जो किसी उत्कण्ठित फल के लिये उत्पन्न होती है। द्वितीय अवस्था यत्न है, जो उत्कण्ठित फल को पाने के लिये किया जाता है। तीसरी अवस्था प्राप्त्याशा है, जिसके अनुसार फल के मिलने की आशा हो जाती है। चतुर्थावस्था नियताप्ति कहलाती है, इस अवस्था से फल प्राप्ति का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। फल की प्राप्ति हो जाने को फलागम कहते है, यही पाँचवी अवस्था है।

इन पाँच अवस्थाओं के अनुसार भारतीय नाटको मे विरोधो का ही प्राधान्य नही होता। हाँ उद्देश्य सिद्धि के लिये वे गौण रूप मे मार्ग मे विघ्न उपस्थित होते हैं। हाँ, यत्न और सफलता का महत्व अवश्य है।

संस्कृत के एकाङ्की आकार मे छोटे होते हुए भी वर्तमान नाटक के स्थानापन्न रूपक के विभिन्न भेदो के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं इसके लिए नाट्यशास्त्र-सम्मत सामान्य सिद्धान्त ही स्थिर किये गये हैं, परन्तु लघु रूपको के लिए आवश्यकतानुसार यह नियम बन्धन ढीला किया जा सकता है। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित विद्वान् एकाङ्की को एक स्वतन्त्र नाट्यकला मानते है। पूर्व और पश्चिम की इस कला के अन्तर को प्रस्तुत कोष्ठक चित्र द्वारा समझना सुकर होगा।

संस्कृत मे रूपक	आधुनिक नाटक	आधुनिक एकाङ्की
१—नायक विशिष्ट गुणो से सम्पन्न होना चाहिए—(उदात्त, उद्धत, प्रशान्त या ललित)	१—नायक में किन्हीं विशिष्ट गुणों की आवश्यकता नही समझी जाती। सामान्य व्यक्ति भी नायक बनाये जा सकते है।	१—एकाकी मे जीवन की एकरूपता की झाँकी।
२—रस का प्राधान्य चाहिए।	२—रस की अपेक्षा मनोविज्ञान की प्रधानता आवश्यक होती है।	२—अन्तर्द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

संस्कृत के रूपक	आधुनिक नाटक	आधुनिक एकांकी
३–कथा में संघर्ष केवल मध्य तक ही होना चाहिए उसके बाद नायक की विजय स्पष्ट दिखलानी चाहिए अर्थात् इसमें कषाय मेंतस के लिये स्थान अपेक्षित नहीं है।	३–कथा में संघर्ष अन्त तक अपेक्षित है।	३–कथा के आवश्यक भाग की उपेक्षा वस्तु के अनुसार ही कथा की आवश्यक सृष्टि।
४–चरित्र की अपेक्षा सत्य और न्याय सिद्धान्त की प्रधानता होनी चाहिये।	४–विविध चरित्र चित्रण और चरित्र का विश्लेषण प्रमुख रूप से होना चाहिए।	४–पात्रों की परिमितता और चरित्र की तीव्र एवं संक्षिप्त रूप रेखा।
५–अन्तिम निष्कर्ष आदर्शवाद ही है।	५–यहाँ यथार्थवाद ही अन्त का परिणाम है।	५–यथार्थवाद.
६–नाटक में दुःखद दृश्यों का प्रदर्शन वर्जित।	६–आधुनिक नाटकों की विशेषता ही दुःखान्त नाटक है।	६–सुखान्त दुःखान्त के प्रतिबन्ध से मुक्त.
७–अनेकांकी और एकांकी दोनों हो सकते हैं।	७–अनेकांक (दृश्यविभाजन सहित)	७–एक ही अंक
८–रङ्गमञ्च की व्यवस्था संकेतात्मक.	८–वैज्ञानिक कलात्मक	८–वैज्ञानिक, कलात्मक किन्तु संक्षिप्त.
९–कथा का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विकास	९–कथानक की घटना विस्तार से मन्द गति.	९–कथानक की घटना न्यूनता से क्षिप्र गति.
१०–वर्णनात्मकता का आधिक्य	१०–व्यञ्जनात्मकता का प्राचुर्य	१०–व्यञ्जनात्मकता और प्रभावोत्पादकता का आधिक्य.

संस्कृत के एकाङ्कियों की अभिनेयता

भरत के नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में विकृष्ट (लम्बा आयताकार) चतुरस्र (वर्गाकार) और त्र्यस्र (त्रिभुजाकार) इन तीन प्रकार के मञ्चों के

विशद वर्णन को देखने से संस्कृत नाटकों पर अभिनेयता का आरोप निर्मूल प्रतीत होता है। अभिनव भारती से यह सूचना भी मिलती है कि संस्कृत के भाण, प्रहसन, व्यायोग, अङ्क आदि सामाजिक एकाकी (जिनमे प्राकृत वर्गों का चरित्र चित्रित होता है) त्र्यस्र नामक प्रेक्षागृह मे ही खेले जाते थे।[1] इन विवरणों से स्पष्ट है कि भारत मे नाट्य वेद की रचना के साथ साथ रङ्ग मञ्च की भी प्रतिष्ठा बहुत पहले हो गई थी और दोनो का विकास साथ ही साथ हुआ था।

भरत ने नाट्य का महत्व बतलाते हुए 'न सयोगो न तत्कर्म..." इत्यादि मे प्रयुक्त कर्म शब्द द्वारा इसकी मञ्चीय उपयोगिता की ओर सकेत कर दिया है यहाँ कर्म शब्द से उनका तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई व्यापार नही है जिसे मञ्च पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।[2] इस प्रकार प्रेक्षागृह विषयक शास्त्रीय चर्चा तथा प्राप्त छोटे और बडे दोनो प्रकार के रूपको की प्रस्तावना मे शताब्दियों पहिले उनके अभिनीत होने की सूचना को देख कर संस्कृत के रूपको पर अभिनेयता का आरोपण न्यायसगत नही प्रतीत होता। आज प्राचीन भाणो और प्रहसनों की उपेक्षा का कारण शास्त्रीय दृष्टि से नहीं परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनकी अनभिनेयता को ही समझना चाहिये। अभिनय के मार्ग की इन कठिनाई को ध्यान में रख कर यत्किञ्चित् संशोधनों के साथ आज भी इस कोटि की रचनाएँ हो रही हैं। व्यायोग एव अक तो अपने प्राचीन रूप मे भी प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

१- ज्येष्ठस्तु प्रकृतयो नाट्यप्रहसनादो यच्च वस्यति
विविधाश्रयोहि भाणो (ना० शा० १८)
तथा 'भणवत्तापस-विप्रैरन्यैरपि च (ना० शा० १८)
इत्यादि। एव भुवप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीय-प्रमाणो मण्डप इति।
एषां बध्वशाला (२) मध्ये यो विनिर्णय एव सर्व साधारण
मध्ये मण्डपे नाटक-भाण-प्रयोगात् अभिनव गुप्त ना० शा० द्वितीय अध्याय भाग १
पृ० २०-२१ गा० ओ० सी०

२- न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
ना० शा० १, ११७

पुराने नाट्य भवनों के ध्वसावशेषो के प्राप्त न होने के कारण ही साहित्यिक जगत में कई आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। उनके प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन का धर्म से अभिन्न सम्बन्ध अद्यावधि रहा है। बड़े और छोटे नाटकों का अभिनय प्रायः धार्मिक उत्सवों के उपलक्ष में ही होता आया है। देवी देवताओं की पूजा के बाद अथवा शादी विवाह आदि के उपरान्त स्थापित मूर्ति, देवी एवं अस्थायी मण्डपों का विसर्जन करने की प्रथा की भाँति रूपकों का खेल समाप्त हो जाने पर रङ्ग-सज्जा के साधनों को प्रयोग स्थल से हटा देने की रीति भी प्रचलित रही होगी। आज भी भाषण अथवा वार्षिकोत्सव के प्रसंग में आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम की समाप्ति के उपरान्त लोगों को हम ऐसा ही आचरण करता पाते हैं। भारतीय नाट्य के इतिहास में जब नाटकों के उल्लेखों और उनके साक्षात् प्रयोगों को देखकर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि आज की तरह समयानुसार अस्थाई मञ्च की व्यवस्था पहिले भी की जाती रही होगी।

आधुनिक रङ्ग-सज्जा को न तो कोई नाम दिया जा सकता है न उसके रङ्ग विधान एवं रङ्ग-दीपन के कौशल के अनुसार उनकी व्याख्या की जा सकती है। आज लोगों की मनोवृत्ति स्वाभाविकतावाद की ओर प्रेरित करने की है। इसके लिये नाटकों में चलचित्र, ध्वनि यन्त्र (ग्रामोफोन) आदि की सहायता भी ली जाने लगी है।

आज अभिनय के लिये नाटकों का निर्वाचन करते समय वे ही नाटक चुने जाते हैं जो इस युग की माँग की पूर्ति करने के साथ साथ मञ्च पर सुगमता से प्रदर्शित किये जा सकते हों, फिर चाहे वे पुराने हों या नये। इसी दृष्टि से प्रायः एकांकी की रचना को और उसमें भी एक दृश्यपीठ वाले एकांकी को विशेष महत्व दिया जाने लगा है। जबसे इनका प्रयोग चल पड़ा है तब से रङ्ग-पीठ की जटिलता भी कम हो गई गई है। इनके लिये छोटे रङ्ग-मञ्च की ही आवश्यकता है। एतदर्थ एक पेटिका रंगपीठ (बाक्स स्टेज) जो तीन ओर से बन्द रहता है और इन्हीं तीन पक्षों में रंगपीठ पर आने-जाने के केवल द्वार भर रहते हैं ही पर्याप्त समझा जाता है। ऐसे रंग-मञ्च ही स्वाभाविक नाटकों के लिये अधिक अनुकूल होते हैं जिनमें बैठक के दृश्य में दिखाए जाने वाले घरेलू सामाजिक या समस्या नाटक खेले जाते हैं और इसके अतिरिक्त मोनो सैटिंग स्टेज की ओर भी लोगों का झुकाव है। पात्रों के प्रसाधनों में नए आविष्कार के साथ वस्त्राभूषण आदि के नाम भी बदल चुके हैं।

प्राचीन एवं अर्वाचीन एकांकी कला की तुलनात्मक मीमांसा के आधार पर यही सिद्ध होता है कि देश काल के भेद के कारण अपनी रीति की कुछेक विशेषताओं के रहते हुए भी प्राच्य तथा पाश्चात्य एकांकी के मूलभूत सिद्धान्तों में विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। हम देख चुके हैं कि प्रायः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही प्राच्य और पाश्चात्य एकांकियों का भेदक गुण बतलाया जाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रसंगानुसार यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा चुका है कि पात्रों के हृदयस्थ भावों से सम्बन्ध रखने के कारण संस्कृत एकांकियों के मुख्य तत्त्व रस का सम्बन्ध भी मनोविज्ञान से ही होता है। अन्तर्द्वन्द्व की झलक भी अङ्क और व्यायोग में दिखलाई जा चुकी है।

इस प्रकार दोनों ही दिशाओं में एकांकी साहित्य के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन के साथ साथ लोक शिक्षण ही रहा है। इसकी पूर्ति के लिए युग युगान्तर से विश्व साहित्य में प्रयत्न होता आया है। ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार पूर्व में संस्कृत एकांकियों के विभिन्न भेदों के रूप में इसका सूत्रपात ईसा से बहुत पहले हो चुका था। सृष्टि के विकासक्रम में उत्थान पतन की क्रिया निरन्तर होती रहती है जिसमें मानव जीवन की सजीव व्याख्या करने वाला नाट्य साहित्य भी प्रभावित होता रहा है। पश्चिम के देशों में भी नाटक साहित्य की उत्थान परम्परा में गीति नाट्य साहित्य का ध्यान नाटकों ने ईसा की अठारहवीं शताब्दी में ही ग्रहण किया। हाँ इंग्लैण्ड के नाटक साहित्य का विरमित रूप अवश्य ईसा ३०० वर्ष पहिले प्राप्त होता है, जिसकी तुलना हम भारत के विश्व विख्यात महाकवि कालिदास से कर सकते हैं।

नार्वेजियन नाटककार हेनरिक इब्सन की क्रान्तिकारी प्रतिभा ने यूरोप के नाट्य शास्त्र की प्राचीन रूढ़ियों का परित्याग कर नाटक साहित्य के लिए कृत्रिमतारहित वातावरण तैयार किया। एक सच्चे कलाविज्ञ की भांति उसने रूपक के अभिनय का यथार्थ जीवन से सामञ्जस्य बतलाया तथा दैनिक जीवन की सामाजिक घटनाओं को अपनी रचना का विषय बनाकर बातचीन का स्वाभाविक एवं मार्मिक चित्र अंकित किया। उसकी इस नवीन प्रवृत्ति ने समस्त योरोप के साहित्यिकों की रचना शैली और विचार धारा का अनुसरण करते हुए अपना नाट्य साहित्य रंगमंच के लिए प्रस्तुत किया। यह साहित्य छोटे छोटे नाटकों के रूप में था। विषय भी युग की गति विधि का प्रतिनिधित्व करते थे। अतः विबुधों की मण्डली में इनकी रचनाओं और शैली का पूर्ण आदर हुआ। पश्चिम का साहित्य जहाँ जहाँ अंग्रेजी का प्रचार था पहुँचा।

भारत भी ऐसे ही देशों मे था। आयरलैण्ड और भारत की स्वतन्त्रता सग्राम की भूमिका प्राय. एक-सी ही थी। अत. दोनों देशों के समसामयिक साहित्यिकों के बीच भावनात्मक एकता के फलस्वरूप उत्पन्न समान विचार-धारा का प्रभाव नाट्य-साहित्य के रूप पर पड़ा हो तो उसमे आश्चर्य की बात नहीं। रचना शैली मे परिवर्तन तो प्रत्येक युग मे होते आये हैं और होते रहेंगे।

साहित्य जगत मे एकाङ्की-विषयक भ्रम फैलाने के कारण जो भी रहे हों, ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद है कि ऐतिहासिक दृष्टि से एक अङ्क मे निबद्ध होने वाले नाटक साहित्य में नवागन्तुक नहीं है। प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा छूट जाने के कारण भारतीयों का अपने इतिहास और सस्कृति को भूल कर प्रत्येक वस्तु के लिये पश्चिम में ही प्रेरणा करना कोई विस्मय की बात नहीं। योरप को भी संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का ज्ञान पहले-पहल ईसा की १६ वी शताब्दी के आरम्भ में हुआ। वहाँ लोग गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित भास के नाटकों से तो और भी पीछे अर्थात् १६१२-१६१५ में परिचित हुए। भरत के नाट्य शास्त्र का अध्ययन भी योरप मे १६ वीं शदी के अन्त में हुआ। अतः जहाँ एक ओर आत्मीयतावश यह भावना युक्तिसङ्गत न होगा कि पश्चिम में एकाङ्की नाटकों का प्रचार भारत से प्रेरणा पाकर हुआ वहाँ दूसरी ओर यह विचार भी हास्यास्पद ही प्रतीत होगा कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रचलित एकाङ्की नाटक योरोप की देन हैं। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत साहित्य मे बिखरे हुये एकाङ्कियों पर किसी की सहानुभूति पूर्ण दृष्टि ही अभी तक नहीं पड़ी है।

———

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण	
अभिनय-दर्पण	नन्दि-केश्वर
अभिज्ञान-शाकुन्तल	कालिदास
अभिनव-भारती	अभिनवगुप्त
अभिनव नाट्यशास्त्र	प सीताराम चतुर्वेदी
आधुनिक साहित्य	प. नन्ददुलारे वाजपेयी
ऋतुसंहार	कालिदास
ऋग्वेद संहिता	
एकाकी कला	डॉ रामकुमार वर्मा
कथासरित्-सागर	सोमदेव
कठोपनिषद्	
कर्पूरमंजरी	राजशेखर
कामसूत्र	वात्स्यायन (चौखभा प्रकाशन)
कादम्बरी	बाणभट्ट
काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति	वामन
काव्यालंकार	भामह
काव्यलंकार	वाग्भट्ट
काव्यशास्त्र	डॉ. भागीरथ मिश्र
काव्यमीमांसा	राजशेखर
काव्यप्रकाश	मम्मट
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र (काव्य माला सीरीज)
काव्यशास्त्रीय निबन्ध	डॉ. सत्यदेव चौधरी
किरातार्जुनीय	भारवि
कुमारसम्भव	कालिदास
कुट्टनीमत	दामोदर गुप्त
कौटिलीय अर्थशास्त्र	कौटिल्य

छान्दोग्योपनिषद्	
दशकुमारचरित	दण्डी
देवीपुराण	
ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन)	स डॉ नगेन्द्र
नाट्यदर्पण भाग १	रामचन्द्र
नाटक की परख	डॉ एस पी. खत्री
नाट्यालोचन	त्रिलोचनादित्य उपाध्याय
नाटक तथा भारतेन्दुग्रन्थावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
नाटकलक्षण रत्नकोश	सागरनन्दी
नाट्यकला मीमासा	सेठ गोविन्ददास
नाट्यशास्त्र	प हजारीप्रसाद द्विवेदी
नीति शतक	भर्तृहरि
रसगङ्गाधर	जगन्नाथ
रस-सिद्धान्त	डॉ नगेन्द्र
रसार्णव सुधाकर	शिङ्गभूपाल
रघुवश	कालिदास
रङ्गमञ्च और नाटक की भूमिका	श्री लक्ष्मीनारायण लाल
रूपक-रहस्य	श्यामसुन्दरदास
रूपकशतक	गो. श्री. प्रकाशन
वर्णन-रत्नाकार	ज्योतिरीश्वर (स सुनीतिकुमार)
वाल्मीकीय रामायण	
विक्रमोर्वशीय	कालिदास
वेणीसहार	भट्टनारायण
शिशुपाल वध	माघ
सस्कृत साहित्य का इतिहास	वी वरदाचार्य
सस्कृत साहित्य का इतिहास	प. बलदेव उपाध्याय
सस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला
सस्कृत साहित्य की रूपरेखा	श्री नानूराम व्यास
सस्कृत नाट्य साहित्य	डॉ जयकिशनप्रसाद खडेलवाल

साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित
हर्पचरित	बाणभट्ट
हमारे नाटककार	राजेन्द्रसिंह गौड़
हमारी नाट्य साधना	राजेन्द्रसिंह गौड़
हिन्दी नाटकों का इतिहास	सोमनाथ गुप्त
हिन्दी नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च की मीमांसा	कुँवर चन्द प्रकाशसिंह
हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन	शान्तिगोपालसिंह
हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	श्रीपति शर्मा
हिन्दी साहित्य में हास्यरस	डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी
हिन्दी नाटकों का इतिहास	सोमनाथ गुप्त
हिन्दी एकांकी-उद्‌भव और विकास	डॉ रामचरण महेन्द्र
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदानसिंह चौहान
नैपधीयचरित	श्री हर्ष
पातञ्जलयोगसूत्र	श्री हर्ष
प्रियदर्शिका	श्री हर्ष
प्रबोध-चन्द्रोदय	श्री हर्ष
प्रबन्ध-कोश	राजेन्द्र सूरि
बंगीय नाट्य-शालार इतिहास	ब्रजेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय
बांगला नाटकेर धारा	वैद्यनाथ शील
बांगला साहित्येर इतिहास खण्ड ४	श्री सुकुमार सेन
बिहारीबोधिनी	श्री सुकुमार सेन
भरतकोश	म. रामकृष्ण कवि (एस. वी. ओ सी.)
भरत नाट्यशास्त्र नाट्यशालाओं के रूप	डॉ रामगोविन्दचन्द्र
भारतीय नाट्य-शास्त्र	गा ओ सी. प्रकाशन
भारतीय तथा पाश्चात्य रङ्गमञ्च	प. सीताराम चतुर्वेदी
भारतीय लोक साहित्य	श्याम परमार
भारतीय नाट्य-परम्परा	डॉ नगेन्द्र
भारतीय साहित्य की विशेषताएं	डॉ प्रेम नारायण टण्डन
भारतीय युगीन नाट्यसाहित्य	डॉ भानुदेव शुक्ल

भावप्रकाश	शारदातनय
भागवत पुराण	गीताप्रेस गोरखपुर
भासनाटकचक्र	स गणपति शास्त्री
महाभारत	स } विद्यासागर पि पि } सुब्रह्मण्य शास्त्री
मराठी नाटक आणि रगभूमि	वा ल कुलकर्णी
मराठी वाङमयीन टीका आणि टिप्पणी	वा ल कुलकर्णी
मालविकाग्निमित्र	कालिदास
मृच्छकटिक	शूद्रक
मेघदूत	कालिदास
मैथिली साहित्य का इतिहास	डॉ जयकात मिश्र
A Bibliography of Modern Sanskrit Plays	Dr V Raghyan
A History of Sanskrit Literature	Kunhan Raja
An Apology of Poetics	Philip Sidney
Aspects of Sanskrit Literature	S K. De
Bibliography of the Sanskrit Drama	Montogomery Schuyler
Bhoja's Srngara Prakasa	Dr V Raghvan
History of British Drama	Ardice Nicall
History of Sanskrit Literature Vol I	De and Das Gupta
History of Poetics	P V Kane
Humour and Humanity	Stephen Leacock
Indian Theatre	C. B Gupta
Indian Theatre	Yangnik
Origin of Drama	H H Wilson
Origin of Drama	Sten Konow
Sanskrit Drama	Dr Keith
Survey of Sanskrit Literature	Chaitanya
The craftmanship of one Act Play	Percival Wilde
The Laws & Practice of Sanskrit Drama	Prof S N Shastri
Theory of Drama	Ardice Nicall
Types of Drama	Dr Mankad
Types of Drama	R V Jagirdar

MAGAZINES

1. A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts (In the Government Oriental Manuscripts Library, Madras).
2. Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts. Dr. Keith
3. Centenary Supplement of J R. A. S. 1924.
4 Sanskrit Pratibha 1949—1965.
5 Sanskrit Sahitya Parishat Volume 40, April, 1961.
6. The Journal of the Bihar Research Society 1950, Vol. 34.
7. The Sanskrit Ranga Annual I) Madras.
8. The Sanskrit Ranga Annual II) Madras.
9. The Sanskrit Ranga Annual III) Madras.
10 The Poona Orientalist Vol XVI, 1951.

—o—